निजानुभव तरंगिणी

कृतिकार :
श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी महाराज

णियाणुहव तरंगिणी

किदिकारो :
समणायरियो विसुद्धसायरो

पाणिद-अणुवादो :
समणो आदिच्चसायरो

निजानुभव तरंगिणी

कृतिकार :
श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी महाराज

प्राकृतानुवाद :
श्रमण आदित्यसागर मुनि

- आशीर्वाद -
  गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी
- कृतिकार -
  दिगम्बराचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज
- प्राकृतानुवाद -
  श्रमण आदित्यसागर मुनि
- संपादक -
  डॉ. उदयचंद्र जैन, उदयपुर
- संस्करण -
  प्रथम/2424 प्रतियाँ/सन्-2017
- पुण्यार्जक -
- प्राप्ति स्थल -
  श्री आजाद कुमार जैन, इन्दौर. मो. : 09425321151
  श्री मनीष जैन, इन्दौर. मो. : 09826210189
  श्री नंदीश्वर जिनालय, भोपाल. मो. : 09425374897
  श्री जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर (महा.) मो. : 09421040022
- सहयोग -
  सजल देवेन्द्र जी काला, दुर्ग (छ.ग.)
- पृष्ठ चित्र -
  नेमिनाथ-भगवान, सिवनी (म.प्र.)

समीक्षात्मक सिंहावलोकन आद्य-वक्तव्य

(हिन्दी संस्करण से संदर्भित)

निजानुभव तरंगिणी। पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागरजी की पाँचवीं मौलिक कृति है जो आचार्य श्री के सतत् स्वाध्याय और आत्मसाधना की फलश्रुति है।

जैन श्रमण के महाव्रत रूप सम्यक् चारित्र की साधना के सागर में आत्मनुभव की भाव-तरंगें, जब अभिव्यक्ति की कलम से रूपाकार होती है, तो सहज ही ऐसी कृतियों का सृजन हो जाया करता है।

परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागरजी एक चिंतनशील, सरल चित्त के निस्पृही साधु हैं। उनके आचरण में स्फटिक-सी धवलता है तो ज्ञान के क्षेत्र में स्वाध्याय और चिंतन की जुगाली से श्रुत-गंगा का अविरल प्रवाह प्रवहमान रहता है। मुखमंडल पर मुस्कान की महक उनके संवेदनशील और दयार्द्र हृदय का परिचय है।

शुद्धात्म तरंगिणी, निजात्म तरंगिणी, आत्मबोध और पंचशील सिद्धांत आदि आचार्य श्री की मौलिक कृतियाँ हैं, जिनमें ऐसे ही मौलिक विचारों के ज्ञानामृत-अक्षय-बिंदु समाहित हैं, जो आत्मोत्थान की दिशा के लिए प्रेरक स्वरूप हैं। ज्ञान की गति रुकती कहाँ हैं ? वह तो चारित्र की धुरी पर प्रतिष्ठित होकर शिव-पथ में इष्ट लक्ष्य पाने के लिए गतिमान रहती है।

जैसे-जैसे श्रमण की चारित्रिक विशुद्धता बढ़ती है, उसका आत्मानुभव भी गहराता जाता है, क्योंकि अनुभव का संयम और चारित्र से अविनाभावी संबंध होता है। प्रस्तुत कृति में ऐसे ही निजानुभव के लगभग 140 प्रसंग-प्रसून गुम्फित हैं, जो जीवन के लिए परम उपादेय हैं। संस्कारों का शिलान्यास करने में ऐसे ज्ञानबोध प्रसंग, अनुभव के महकते भाव/संस्मरण हैं, जो मन को विशुद्ध बनाने में निमित्त हैं।

यहाँ कुछ चयनित भाव-प्रसूनों की चर्चा प्रासंगिक है। प्रत्येक भाव-तरंग/प्रसून 'हंसात्मन्' के नाम से संबोधित है। आचार्य श्री द्वारा दिया गया यह संबोधन अपना एक विशेष अर्थ रखता है।

आत्म हंस, सद्गुणों के पय को ग्रहण कर अवांछित जल को उससे पृथक् कर लेता है। यही एक सकारत्मक हंस की दृष्टि है। 'हंस' प्रतीक है उस जीवन का जो खारे सागर के गर्भ से मोती खोजकर तट पर ला देता है। हंस प्रतीक है उस जीवात्मा का, जो विषय-वासना के खारे-भव-सागर से ज्ञान, वैराग्य और वीतरागता के मोती खोज लेता है। अतः 'हे हंसात्मन्!' संबोधन सार्थक हैं।

कुछ विशिष्ट प्रसंग दृष्टव्य हैं-

1. अंतःकरण पवित्र करने के लिए देह की रागात्मक बुद्धि से उपरत होकर विदेह की वीतरागी परिणति की ओर उन्मुख होने की अनुभूति का अनुलेखन कर।
2. चित्त की शुद्धि करना ही श्रेष्ठ साधना है, जिससे निजानंद की प्राप्ति की जा सकती है।
3. शरीर आत्मसाधना का सेतु है, क्योंकि ज्ञान, ध्यान और योग की साधना शरीर के माध्यम से ही संभव है।
4. जीवन में विशुद्धि के बिना (यहाँ विशुद्धि रत्नत्रय का प्रतीक है) वैराग्य भाव संभव नहीं है। अस्तु, वैराग्य के अभिवर्द्धन हेतु मुनिराज 28 मूलगुणों की आराधना/पालना करते हैं। वस्तुतः ये मुनिराजों का आध्यात्मिक संविधान है।
5. व्यसन विष है, अतः श्रावक के लिए सात प्रकार के व्यसनों का त्याग करना नैतिक और धार्मिक जीवन का प्रवेश द्वार या मंगलाचरण है।
6. प्रवचन सार की 80वीं गाथा में मोहकर्म के नाश का वैज्ञानिक उपाय बताया है। जैसे दर्पण में निहार कर व्यक्ति अपने मुख की कालिमा को पौंछकर निष्कलंक होने का पुरुषार्थ करता है, उसी प्रकार अरहंत

देव के स्वरूप को निहार कर और अपने स्वरूप से उसकी तुलना करने पर वैसा बनने का आत्म-पुरुषार्थ जुटा सकता है।

7. मोक्षफल, संयम-वृक्ष से ही मिल सकता है और संयम वृक्ष का जल है वैराग्य। जैसे बिना जल का वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार बिना वैराग्य के संयम की साधना नहीं हो पाती है।

8. वैराग्य को बढ़ाने के लिए आकांक्षा रूपी नागिन को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। आकांक्षाएँ अनंत आकाश की तरह फैली होती हैं, जिनका न आदि होता है, न ही अंत।

9. भोगों की भट्ठी में अनंत भव व्यतीत हो चुके हैं। अतः मुमुक्षु जीवों का अनर्थों की जड़, भोगों को असेवनीय मानकर शीघ्र ही त्याग देना चाहिए।

10. वाणी संयम की अनिवार्यता को आचार्य श्री ने बहुत प्रभावक ढंग से व्याख्यापित किया है। उन्होंने कहा कि हृदय के भाव व्यक्ति की भाषा से मालूम हो जाते हैं। कर्कश भाषा जहाँ पैशुन्य का प्रतीक है, वहीं मिष्टवाणी, देववाणी होती है।

तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए ऐसे अनेक प्रसंग, प्रस्तुत कृति में समावेशित हैं, जिनका मनन-चिंतन करके आत्मार्थी, भव-भोग के रोग से उपरत हो सकता है।

'निजानुभव तरंगिणी' की आत्म-बोधक-कणिकाएँ भावों को प्रज्ज्वल बनाने के लिए दीप-स्तंभ हैं, जो आत्म साधकों के लिए समय के शिलालेख की भाँति उपादेय बनेंगी।

संत की वाणी और लेखनी में उसकी तप-तेजस्विता की ऊष्मा सन्निहित हुआ करती है। वे 'स्व' कल्याण की भाव-भूमिका में तो विचरण करते ही हैं, लोक कल्याण की पालन भावना से भी अनुस्यूत रहते हैं। संत की अनुकम्पा से जीवन और जगत् में करुणा, प्रेम और जीवरक्षा का पल्लवन होता रहता है।

आज के इस वैचारिक संघर्ष और मानसिक प्रदूषण व मानसिक तनाव के संक्रमण-काल में ऐसी कृतियाँ पढ़ी जानी चाहिए।

जिस देश की संत-संपदा जितनी समृद्ध और प्राणवान होती है, उसका सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चारित्र उतना ही समुज्ज्वल रहता है। हमारे देश की आध्यात्मिक और धार्मिक विरासत इस संतों के आशीष से सुरक्षित/प्रवर्तमान है।

आइये! ज्ञानी-जन, अपने ज्ञान के कर्तव्य को ऐसी कृति के समादर के लिए समर्पित करें और समता व अहिंसा के समीकरणों को इस कृति के आख्यानों में तलाशें तथा ज्ञान की महनीयता को आत्मसात करने का एक अभिनव-प्रयास प्रबुद्धजन करें।

आचार्य श्री विशुद्धसागरजी महाराज के चरणों में सविनय नमोस्तु।

प्राचार्य (पं.) निहाचंद जैन
जवाहर मार्ग, बीना (म.प्र.)

अंतर्मन के दो प्रसून

(हिन्दी संस्करण से संदर्भित)

परमपूज्य आचार्यश्री विरागसागरजी महाराज के परम शिष्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज की प्रस्तुत कृति उनके सौम्य एवं प्रशांत अंतः एवं बाह्य व्यक्तित्व की परिचायक है।

आचार्य श्री ने अपने संयम, योग एवं ज्ञान साधना के माध्यम से अंतस्थल में जो अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं, उन्हें शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति देकर, जन सामान्य को उनसे लाभान्वित करने के उद्देश्य से यह कृति प्रकाशित की गई है।

इसे पढ़कर प्रत्येक पाठक को यही प्रेरणा मिलती है कि हमें जीवन की दिशा और दशा की किन ऊँचाइयों तक पहुँचना है। इसके प्रत्येक शीर्षक का कथ्य हमें 'तमसो मा ज्योतिर्गमयः' का मार्ग प्रशस्त करता है।

मुझे आशा है पूज्य आचार्य श्री की यह कृति प्रत्येक जीव को इन्हीं अनुभूतियों के अनुरूप बनने की प्रेरणा प्रदान करेगी। साथ ही पूज्य आचार्य श्री से भी यही अपेक्षा है कि वे अपने नाम और व्यक्तित्व के अनुरूप हम सभी के जीवन को पवित्र बनाने वाले कृतित्व के माध्यम से हमारा मार्ग प्रशस्त करते रहेंगे।

चरणावनत–

डॉ. फूलचंद जैन 'प्रेमी'
अध्यक्ष जैन दर्शन विभाग
डॉ. संपूर्णानंद संस्कृत विश्व विद्यालय,
वाराणसी

प्राक्कथन

(हिन्दी संस्करण से संदर्भित)

परम पूज्य आचार्यश्री 108 विशुद्धसागरजी महाराज अध्यात्म योगी, अध्यात्म विद्या के प्रखर वक्ता, गंभीर चिंतक, अद्वितीय श्रुताराधक, अभीक्षण ज्ञानोपयोगी, श्रुत प्रतिपादक, क्षयोपशम के धनी, आगमज्ञ और चिंतनशील स्वभावी होने से उनके चिंतन की स्व–संवेदनात्मक तरंगें 'निजानुभव तरंगिणी' के रूप में प्रवाहित हुई हैं। 'निजानुभव तरंगिणी' की चार अनुयोगात्मक अमृतमयी तरंगें भव्य जीवों को स्वतंत्र कारिकाओं में निबद्ध हैं। आपमें अद्वितीय, अनुपम रत्नत्रय का सागर तरंगित रहता है। आप रत्नत्रय के रत्नाकर से रत्न निकाल कर देते हैं और उन आत्म हितैषियों को हितकर मोक्षमार्ग में स्थापित करते हैं; किसी को भी मोक्षमार्ग से विस्थापित होने के कारण उपस्थित नहीं होने देते हैं। निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्ग संबंधी सूक्ष्म विषयों की सहज, सरल, सुबोध शैली द्वारा प्रस्तुति श्रोताओं को मंत्रमुग्ध जैसी कर देती है। श्रोताओं के प्रति मुमुक्षु, ज्ञानी, मनीषी, विज्ञात्मन्, हंसात्मन् भैया आदि मुखरित संबोधन श्रोताओं के हृदय में वैराग्योत्पादक होते हैं। आपकी कृतियों की जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषीगण मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

निजानुभव का अर्थ स्व–संवेदन है। शाब्दिक दृष्टि से 'निज' का अर्थ है स्व और 'अनुभव' का अर्थ है प्रत्यक्ष संवेदन। वृहद् द्रव्य–संग्रह की 42वीं गाथा की टीका में ब्रह्मदेव सूरि लिखते हैं–स्व–संवेदन गम्य आत्म सुख का वेदन ही स्वानुभव/निजानुभव है। निजानुभव में निजात्मा के लक्ष्य से ध्यान–ध्याता–ध्येय के भेदरूप विकल्प नहीं होते हैं, अपितु वीतराग निर्विकल्प ज्ञानानंद स्वभावी निज परमात्मा का वेदन होता है। निजानुभव मोक्ष की साधना का जीव है। जैसे जीव बिना शरीर है वैसे निजानुभव बिना बाह्य साधना है।

निजानुभव स्वसंवेदन द्वारा होता है और स्वसंवेदन जिनेंद्र देशना

द्वारा अपने उपयोग को निजशुद्ध स्वभाव में स्थापित करने से होता है। निजानुभवी निज-शुद्धात्मा को प्रमेय कर मोक्षमार्ग में अग्रसर होता जाता है। निजानुभव पूर्वक ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है। निजानुभव बिना मोक्षमार्ग नहीं होता है। रयणसार में आचार्य देव लिखते हैं-

णियतच्चुवलद्धि विणा, सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुवलद्धि विणा, णिव्वाणं णत्थि णियमेण।।10।।-र.सा.

निज तत्त्वोपलब्धि के बिना नियम से सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं होती है और सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना निर्वाण नहीं होता है।

समयसार कलश में सम्यक्त्व का स्वरूप निरूपित किया है-'इस आत्मा को अन्य सर्व द्रव्यों के पृथक् देखना सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन जितना ही आत्मा है। इसलिए नव तत्त्वों की संतति को छोड़कर निजात्म प्राप्ति की भावना कर। निजानुभव में ही आत्मा प्रत्यक्ष होता है।' 'प्रवचनसार तात्पर्यवृति' में गाथा 194 की टीका में आचार्य लिखते हैं-'जो यति-श्रावक स्व संवेदन ज्ञान से निजात्मा को ध्याता है, उसकी मोह ग्रंथी नष्ट होती है।'

आचार्य विशुद्धसागरजी महाराज की 'निजानुभव तरंगिणी' कृति में अमृत रसायन के कुंभ दृष्टव्य हैं-''संसार-भ्रमण रोग से छूटने को जिनवचन परम औषधि है, कर्म निर्मूलन का प्रबल हेतु है। जिन-लिंग धारण करने की उपादेयता को प्रकाशित करते हुए लिखते हैं-वह धर्मात्मा निकृष्ट है जो धर्म के चिह्न को धारण कर अधर्मरूप आचरण कर रहा है। रे मूढ़! तेरे लिए धिक्कार है। तुझे मनमोहक (जगत्पूज्य) अर्हंत् स्वरूप निर्ग्रंथ मुद्रा की प्राप्ति हुई है उसे स्वानुभव में लगा। मान-सम्मान से परे स्वानुभव ही तेरा धर्म है। जिनलिंग जिनत्व की प्राप्ति के लिए स्वीकार किया जाता है। बाह्य मान-सम्मान में लीन होना वह जिनलिंग की अवहेलना है।

भो आत्मन्! परमार्थ शून्य व्रतादि पुण्यबंध के कारण हैं। कर्म निर्जरा के नहीं हैं। इसलिए हे आत्मन्! तू आत्म-साधना में रत हो जा।

आत्म-साधना से ही परमात्मत्व की प्राप्ति होती है।

हे हंसात्मन्! आत्म साधना के लिए योगी चातुर्मास स्थापना करते हैं। चातुर्मास में निज स्वभाव-साधन द्वारा ज्ञानानंद का अनुभव करते हैं। ज्ञान आत्मा का निज धर्म है, वह निज के अंदर ही विराजमान है उसे प्रकट करने का पुरुषार्थ करना तेरा कर्त्तव्य है। पुरुषार्थ चार कर्मों के क्षय करने के लिए करते हैं। पुरुषार्थों की साधना अहो भाग्य है-'हे अहोभाग्य! रत्नत्रय धर्म का पालन करते हुए निःश्रेयस सुख को प्राप्त कर जो अविराम है।'

हे विज्ञात्मन्! जिससे तत्त्व का बोध होता है, मन का निरोध होता हो और आत्मा शुद्ध होता हो वही जिनशासन में ज्ञान नाम को प्राप्त होता है। जिनशासन में ज्ञान वह है जिसके द्वारा आत्मा राग से विरक्त होता है।

हे विज्ञात्मन्! जिन चरणों के आश्रय से निजबोध होता है, श्रुत भक्ति से यथार्थ ज्ञान होता है और गुरुभक्ति का फल चारित्र है। छः आवश्यकों का स्वरूप और महिमा प्रकट करते हुए लिखते हैं-आवश्यकों से रहित न श्रमण है न श्रावक है। हे हंसात्मन्! निजात्मा को परमात्मा बनाना चाहता है तो अपने कर्त्तव्यों का पालन कर। आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन करना अनिवार्य है। यदि अपने आवश्यक कर्म श्रावक व साधु नहीं करते हैं तो वे स्वपद से च्युत समझे जाते हैं।

हे हंसात्मन्! साम्यभाव सहज वृत्ति जीवन का अमृत है जो कि व्यक्ति को मरण के उपरांत भी जीवंत रखता है। जीवन में साम्यभाव रखना ही सच्ची साधना है। जितने अरहंत आज तक हुए हैं, हो रहे हैं और आगे भी होंगे वे सब पूर्व में भेद-विज्ञान को प्राप्त हुए थे। भेद-विज्ञान के बिना क्रियाएँ शून्य हैं, बंधन को छेदने में असमर्थ हैं। बंध को छेदे बिना मुक्ति असंभव है।

हे हंसात्मन्! अपने चित्त को निर्मल करने का रसायन स्वाध्याय है। इससे हेय-उपदेय का विवेक होता है। अंतःकरण के चक्षु आगम ज्ञान से खुलते हैं। जिससे साधक की प्रत्येक क्रिया शास्त्रानुसार हुआ करती है।

जिन शासन में उसे ही सच्चा साधु कहा है, जो विरागवर्द्धक चर्या से युक्त हो, मिथ्यात्व के विष से पृथक् जीता हो तथा आगम कुशल हो। ऐसे साधु को ही धर्म की मूर्ति स्वीकार किया गया है।

हे विज्ञात्मन्! पर्याय दृष्टि को छोड। अध्यात्म विद्या वह अमृत है जिसके पान करने से अनंत आत्माएँ अवस्था को प्राप्त हुई हैं। हे विज्ञात्मन्! भोगों के सेवन से आत्म कल्याण संभव नहीं है, क्योंकि अंगारों पर कभी कमल नहीं लिखते हैं।

हे विज्ञात्मन्! साधु बनने के पूर्व सज्जन बनना अनिवार्य है। सज्जनों का स्वभाव छिद्रान्वेषी नहीं, गुणान्वेषी हुआ करता है। गुणीजनों के संग से अनेक गुण प्रकट हो जाते हैं। गुणवानों के संसर्ग से सद्गुणों में वृद्धि होती है, शील-संयम का पालन निर्दोष होता है, मन की चंचल वृत्ति का निरोध होता है, परिणामों में निर्मलता आती है। निर्मल परिणामों का धारी ही धर्मात्मा है। अंतःकरण की निर्मलता से आगम के गूढ़ रहस्यों को समझा जा सकता है। कृति के अंत में सल्लेखन मरण पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार की अनेक निज-अनुभव से प्रवाहित तरेंगे हैं, जिन्हें पूर्ण रूप से अनभूत करने पर अनुभवी सर्व कर्मरहित मुक्ति पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत कृति प्रत्येक मोक्षार्थी को अवश्य पढ़ना चाहिए, जिससे स्वपर संबंधी सभी विकृतियाँ दूर होंगी और अविकृत स्वरूप की उपलब्धि होगी। मेरी मंगल भावना है कि सर्व जीव निजानुभव प्राप्त करें और रत्नत्रय धारण कर अंत में सल्लेखना धारण कर कायोत्सर्ग करें।

मोक्षार्थी-
पं. रमेशचंद्र बांझल
प्राचार्य, सर हुकमचंद संस्कृत महाविद्यालय,
जंवरीबाग नसिया, इंदौर

प्राक् प्रमेय

वस्तुतत्त्व का निर्णय आगम, गुरूपदेश और निजानुभव से होता है। सर्वप्रथम आगम को स्वीकार किया गया है। जो आप्त के वचन हैं वे ही आगम हैं, अनाप्तों के वचन आगम संज्ञा को प्राप्त नहीं होते।

वे जीव धन्य हैं, जो आगम-बुद्धि और स्व-बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। आगम-बुद्धि के अभाव में स्व-बुद्धि कार्यकारी नहीं है। उभय-बुद्धिमान नर स्व-पर के कल्याणमार्ग को प्रशस्त कर लेते हैं।

आगमवचनों को प्राणों से प्रिय स्वीकारता है आत्महितैषी। श्रेयोमार्ग और प्रेयमार्ग दोनों की सिद्धि के लिए उभयबुद्धि का कौशल रखता है आत्महितैषी। इसी भावना से युक्त होकर 'निजानुभव-तरंगिणी' कृति का सृजन हो गया। यथार्थ में यह ग्रंथ निजानुभव है। स्वबुद्धि की पवित्रता हेतु आगम-बुद्धि का चिन्तवन है, सहज लिखा गया निजानुभव है जो राष्ट्रभाषा में मूल है।

उभय-बुद्धि युक्त **मुनि श्री आदित्यसागर जी** ने जिनागम की मूल भाषा प्राकृत में परिवर्तन कर पुराण साहित्य साधकों की दीर्घा को दीर्घमान किया है। प्राच्यविद्या की रक्षा में स्तुत्य कार्य है।

वे इसी प्रकार से तद्विषय में अप्रमत्त होकर स्वप्रज्ञा का प्रयोग वाग्वादिनी की आराधना में इसी प्रकार लगाकर श्री जिन नमोस्तुशासन को जयवन्त करते रहें निर्मल परिणामों के साथ। यही शुभाशीष है।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

23/02/017
पावन प्रवास सिरोंज (म.प्र.)
आचार्य विशुद्धसागर मुनि

मनोभावना

इस संसार में नानाभांति के संसारीप्राणी जन्म ग्रहण करते हैं। पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के विपाकानुसार वे अपने जीवन का निर्वाह करके पुनः मरण को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु जो जीव स्वहित के साथ-साथ परहित भी करते हैं वे ही प्रशंसनीय हैं। ऐसे लोग ही अपने मानव जीवन को सार्थक कर पाते हैं।

सनातन श्रमण संस्कृति में परमात्मा परमात्मा नहीं बनते; यहाँ बहिरात्मा ही अन्तरात्मा और फिर अन्तरात्मा से परमात्मा बनते हैं। संप्रति में ऐसी श्रमण संस्कृति और सकल जैन वाङ्मय में सर्वोपरि सम्यक् साहित्य प्रदान करनेवाले, प्रवचन केशरी, देशना-महोदधि, अध्यात्म विद्या के प्रखर प्रवक्ता, गंभीर चिंतक, अद्वितीय श्रुतप्रतिपादक, स्वपरहितार्थी, मम दीक्षा-शिक्षा गुरु श्रमणाचार्य श्री 108 विशुद्धसागर जी अपने प्रवचन, लेखन और चिंतन से सर्वजन के हृदय में संस्थापित हैं।

गुरुदेव की आगम, स्वानुभव, गुरूपदेश और युक्ति युक्त तत्त्व-विवेचना संसार-वारिधि में भटकते भावी सिद्धों के लिए कर्म-रोगों की शल्यक्रिया के रूप में काम आती है। यदि कोई धोखे से भी (न चाह कर भी) एक बार गुरुवर के मुखामृत से निकली सवतोभद्र-देशना को सुन लेता है तो उसका मन विषयों/विकारों से हटकर वैराग्य की ओर उन्मुख हो जाता है। मैं स्वयं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ। गुरुवर के एक ही मंगल प्रवचन ने मुझ पापी-धर्मात्मा को धर्मपथ पर प्रेरित कर दिया।

अनेकों चेतन-अचेतन विभूतियों के प्रदायक आचार्य भगवन् की यह 'निजानुभव-तरंगिणी' कृति पाँचवी मनोज्ञ मौलिक कृति है। इस तरंगिणी ग्रंथ में अद्भूत, अनुपम, अद्वितीय, अचिंतनीय 142 चिंतनरूपी तरंगें हैं जो प्रत्येक मुमुक्षु जीव के लिए अवश्य वैराग्योत्पादक होंगी। प्रत्येक चिंतन अभिनव-अभिनव विशुद्धि और वैराग्य की तरंगों से खचित है।

संघस्थ श्रमणरत्न सुयशसागर जी और गुरु के चहेते श्रमण संपूर्णसागर जी के आग्रह पर विशाल-विपुल-विषयों से गर्भित इस महान् ग्रंथ का प्राकृतानुवाद छत्तीसगढ़ की पावन उर्वरा भूमि में प्रारंभ व पूर्ण हुआ। लिखते-लिखते कई बार लेखनी रुक जाती थी, आँखें सजल हो जाती थीं और निजस्वरूप की प्राप्ति की

तीव्राभिलाषा प्रादुर्भूत होने लगती थी।

वयोवृद्ध, राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत, प्राकृत विदु डॉ. उदयचंद्र जी ने पूर्ण निष्ठा एवं प्राकृत भाषा के प्रति अगाध समर्पण दिखाते हुए इस ग्रंथ का सुष्ठु संपादन किया साथ ही साथ बृहद् विषयसमन्वित प्रस्तावना भी लिखी। उनके इस मंगल कार्य की मैं भूरी-भूरी प्रशंसा करता हूँ। साथ ही सजल जी काला (दुर्ग) एवं सुरेन्द्र जी (भीलवाड़ा) के लिए भी आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रंथ को मूर्तरूप देने में अपनी चंचलालक्ष्मी का सदुपयेाग किया है।

जो विषय अनेकों ग्रंथों में है वह इस ग्रंथ में भी है पर जो इस ग्रंथ में है वह कहीं भी नहीं है। कोमल देह और कठिन युक्ति के स्वामी पूज्यपाद आचार्य भगवन् की परमकृपा और पावन आशीष से इस मंगल ग्रंथ का मंगलमय प्राकृतानुवाद सुगम हिन्दी के साथ आप सभी सुधी ज्ञान-पियासु, श्रुत-बुभुक्षु जीवों के लिए परोसने का तुच्छ प्रयास किया है।

शास्त्रोदधि को पार करने की सामर्थ्य मुझ जैसे अल्पज्ञ श्रमण में कहाँ है, इसीलिए इस ग्रंथ के अनुवाद या प्रस्तुतिकरण में जो भी त्रुटियाँ शेष हों उन्हें सुधी-विद्वद्वर्ग और स्वाध्यायी श्रमणोपासक पाठक गण सुधारकर पढ़ें और हमें सूचित भी करें तो अत्युत्तम होगा।

अंत में मेरे हृदय में संस्थित, मेरे आदर्श पूज्य गुरुदेव में चरणांबुजों में त्रिकाल नमोऽस्तु निवेदित करते हुए उनके हस्तांबुजों में उनकी ही कृति सविनय समर्पित है। इसमें मेरा कुछ भी नहीं, सब कुछ उनका ही है और मैं भी व्यवहार से उनका ही हूँ।

॥ इत्यलम् ॥

॥ भद्रं भूयात् ॥

॥ वर्धतां नमोस्तुशासनम् ॥

मंगल प्रवास
अतिशय क्षेत्र
पपौरा जी (टीकमगढ़)
7/4/17

पूज्यपाद चरणानुरागी
श्रमण आदित्यसागर मुनि
(संघस्थ श्रमणाचार्य श्री 108
विशुद्धसागर जी महाराज)

विसुद्धं पडि विसुद्ध-भावणा

तरंगिणी वि णियाणुहवस्स पाइय-गज्ज-समालंकिदा। अस्सिं पज्जुप्पण्ण-समए इगाविंस-सदीइ पारंभिग-काले। अच्छेरे मह-अच्छेरो। परमपुज्ज - अज्झप्पजोगी - समणाइरियसिरि-विसुद्ध - सायरस्स णियाणुहव - तरंगिणी - हिंदी - देसणाए पाइय-रूवंतरणं इग-सद-वियालिस - विसेस - अणुच्छेदम्हि परम-अच्छेर-कारणं जाएदि णं इग-लहु-साहगो पबंध-विसय-णिउणो पाइए इणं कज्जं कत्तुं समत्थो जादो। सो समणो त्थि गुरु-आणप्पहाणी हिंदी-सक्किद-अंगल - भासा - पवीणो। णामेण आदिच्चो णं आदिच्च-आदेसं णेदूणं गुरुपादारविंदेसुं गोरवसालि-गज्जप्पसूण-समालंकिद - पाइय - भासा (आरिस-भासा) जुत्ता गज्ज-साहिच्च-परंपराए महत्तपुण्ण-जोगदाणं किच्चा समण-परंपराए उज्जोदम्हि अचल-महदीवो होहिदि।

तरंगिणी भी निजानुभव की - प्राकृत गद्य समालंकृत। इस वर्तमानकाल में 21वीं शताब्दी के प्रारंभिककाल में। आश्चर्य, महान् आश्चर्य। **परमपूज्य अध्यात्म-योगी श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी की 'निजानुभव-तरंगिणी'** हिन्दी देशना का प्राकृत रूपान्तरण 142 अनुच्छेदों में। परम आश्चर्य का कारण है कि एक लघु साधक प्रबंध विषय में निपुण (एम.बी.ए स्वर्णपदकशिक्षा प्राप्त) प्राकृत में इस कार्य को करने में समर्थ हुआ वे श्रमण गुरु आज्ञाप्रधानी हिन्दी, संस्कृत और आँगल भाषा में प्रवीण हैं। नाम से **आदित्यसागर**। आदित्य-आदेश (आदिप्रभु का आदेश) लेकर गुरुपादारविंद में गौरवशाली गद्य-प्रसून भी समालंकृत प्राकृत भाषा (आर्षभाषा) युक्त गद्य साहित्य परंपरा में महत्त्वपूर्ण योगदान करके श्रमण-परंपरा के प्रकाश में अचल महाद्वीप (शाश्वत-दीप) होगा।

किं गज्ज-साहिच्च-परंपरा

अहिवियत्ति-मज्झमो गज्ज - भावणा-पाहण्णो कप्पण - पहाणत्तणं बुद्धितच्च - पहाणत्तणं छंद-बंधण-हीणत्तणं इदिवुत्त-हीणत्तणं लयजुत्त-झंकिद-भासा-भावा मणसि पुण्ण-समत्थो होदि। तक्किगत्तणं च अस्सिं जायदे। पज्जस्स अवेक्खा गज्जा बुद्धितच्चस्स सण्णिगडे। सामाजिगत्त-अहि-णिगडा वि।

क्या है गद्य-साहित्य-परंपरा

अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य भावना का प्राधान्य, कल्पना की प्रधानता, बुद्धितत्त्व की प्रधानता, छंद-बंधन-हीनता, इतिवृत्त-हीनता, लय-युक्त झंकृत भाषा एवं भाव मन में पूर्ण समर्थ होता है। तार्किकता भी इसमें होती है। पद्य की अपेक्षा गद्य बुद्धितत्त्व के सन्निकट होते हैं। सामाजिकता के अधिक निकट भी।

गज्ज-विद्या -

वेदिग-सुत्ताणि समण-वयणाणि वि गज्जम्हि। ते णएंति मणुयाणं णिच्छिदज्झेयं पडि। गज्ज-संबंधो होदि हिदय-गद-भावेहिं माणव-मत्थिगेहिं च। अस्सिं जायदे वित्थिण्ण-परिहि-समावेसो वि। संहिदा-अरण्णग-बंभण-उवणिसदेंसु च गज्ज-सेली अदिपहावी अत्थि।

पाइय-परंपराए पारंभिग-सुत्तेसु, आगम-गंथेसुं च गज्जस्स बहुलत्तणं च विज्जदे। णाडगेसुं सदगेसुं चावि

गद्य-विद्या

वैदिक सूत्र और श्रमण वचन गद्य में हैं। वे मनुष्यों के लिए निश्चित ध्येय की ओर ले जाते हैं। गद्य का संबंध होता है हृदयगतभावों एवं मानव-मस्तक से। इसमें होता है विस्तृत परिधि का समावेश भी। संहिता, अरण्यक, ब्राह्मण और उपनिषदों में गद्य-शैली अतिप्रभावी है।

प्राकृत परंपरा के प्रारंभिक सूत्रों एवं आगम-ग्रंथों में गद्य की प्रमुखता है। नाटकों और सदकों में भी गद्य बहुलता युक्त हैं। स्वतंत्र रूप में षट्खंडागम के सूत्र,

गज्जाणि बहुलत्तणं जुत्ताणि अत्थि। सातंत - रूवे छक्खंडागम-सुत्ताणि कसाय-पाहुड़-सुत्ताणि गज्जेसुं।

पाइय-कव्वेसुं जा वक्खा-वित्ति-भासो अत्थि तस्सिं सक्किद-भासा-पजोगो त्थि।

कषाय-पाहुड़ के सूत्र गद्य में हैं।

प्राकृत काव्यों में जो व्याख्या, वृत्ति या भाष्य है उसमें संस्कृत भाषा का प्रयोग है।

कहप्पगत्तणे गज्जं

पाइय-भासाए अंग-उवंग-मूल - सुत्तेसुं च । तेसुं च बहुविह - कहाओ त्थि। आचारंगे महावीरस्स कहा, सुत्तकिदंगे वि। णायाधम्म-कहाओ, उवासगदसाओ अणुत्तरोववादिगो, विवागो वि कहातच्चेसुं च पुण्णा।

कथात्मकता में गद्य

प्राकृत भाषा में अंग, उपांग और मूलसूत्रों में गद्य है। उनमें नानाप्रकार की कथाएँ हैं। आचारांग में महावीर की कथा और सूत्रकृतांग में भी कथाएँ हैं। ज्ञाताधर्म, उपासकदशा, अनुत्तरोपपादिक और विपाक कथातत्त्वों से पूर्ण हैं।

पाइय-गज्ज-साहिच्चो

आगम-सुत्ताणं गज्जं।
कहा-साहिच्चो गज्जं।
चंपूकव्वस्स गज्जं।
सिद्धंत-गंथेसुं गज्जं।

प्राकृत गद्य साहित्य

आगम सुत्रों का गद्य।
कथा साहित्य गद्य।
चंपूकाव्य का गद्य।
सिद्धान्त-गन्थों में गद्य।

वक्खप्पग-विवरणं

अस्सिं च जायदे सद्दत्थवक्खप्पग-विवरणं। पारंभादो इगविंस-सदीइ वि गज्जे विलिहिज्जदे। पालि-

व्याख्यात्मक विवरण

इसमें शब्दार्थ व्याख्यात्मक विवरण है। प्रारंभ में इक्कीसवीं शताब्दी में गद्य में लिखा जाता है। पालि-साहित्य ग्रंथों में भी गद्य है।

साहिच्च-गंथेसुं चावि जायदे गज्जं। विणयपिडगं सुत्तपिडगं अहिधम्मपिडगं अणुपिडगं च वंस-गंथेसुं चावि।

हिन्दी - वजभासा - खड़ीबोली-पुराहिंदी-आदि-गंथाणं पणयणं गज्जे जादं। जस्सिं अत्थि वण्णप्पग-सेली। पत्तप्पग-सेली रयणप्पग-सेली विवेयण-सेली।

विनयपिटक, सूत्रपिटक, अभिधर्मपिटक, अणुपिटक एवं वंश ग्रंथों में गद्य है।

हिन्दी, वज्रभाषा, खड़ीबोली पुराहिन्दी आदि ग्रंथों का प्रणयन गद्य में हुआ। जिसमें वर्णनात्मक-शैली, पत्रात्मक-शैली-रचनात्मक-शैली और विवेचनात्मक-शैली है।

हिंदी-गज्ज-साहिच्च-परंपरा

पुव्वे जादा आगमेसुं हिंदी टीगा। पाइय-सक्किद-गंथेसुं हिंदी-वक्खप्पग-विवरणं दिण्णं, कहा-अक्खाण-वत्ता-बहुविह-हिंदी-गज्जा विज्जंते।

हिन्दीगद्य साहित्य की परंपरा

सबसे पहले आगमों पर हिन्दी टीकाएँ लिखी गईं। प्राकृत-संस्कृत ग्रंथों पर हिन्दी व्याख्यान का विवरण किया गया, कथा, आख्यान, वार्ता आदि नाना प्रकार के हिन्दी गद्य हैं।

जिण - विवेयणाप्पग-साहिच्चकारो

पंडे रायमल्लो, हेमराजो, बणारसीदासो, दीवचंद-साहो, टोडरमलो पहुदी अणेग-हिंदी गज्ज - विवेयण - कत्ता। आहुणिग - समए णं वि दोलदरामो, जयचंदो, सदासुहदासो, जिणदत्तसूरी, जयचंदसूरी गज्जपहाण-

जिन - विवेचनात्मक-साहित्यकार

पांडे राजमल्ल, हेमराज, बनारसीदास, दीपचंद्र शाह, टोडरमल आदि बहुत से गद्यकार हुए। आधुनिक समय में किंतु दौलतराम, जयचंद्र छाबड़ा, सदासुख दास, जिनदत्तसूरी, जयचंद्रसूरी आदि ने गद्यप्रधान रचनाओं में कार्य करके गद्य में

रयणासुं कज्जं कुणिदूणं गज्जे जोगदाणं दिण्णं। जिणाइ-रिएहिं अस्सिं समए वि जोगदाणं अत्थि।

देसभूसणो, अजिदसायरो, विज्जाणंदो, विज्जासायरो, सम्मदिसायरो, णाणसायरो, विरागसायरो, विसुद्धसायरो, वसुणंदी, सुदसायरो, सुणीलसायरो, पमाणसायरो, वण्णीगणेसपसादो, जिणि-ंदवण्णी पहुदी - साहगेसुं वक्खाणं किदं। णाणमदी, विसुद्धमदी, सुपाससमदी अज्जिगाणं जोगदाणं अत्थि।

योगदान दिया। जैनाचार्यों द्वारा इस समय भी योगदान है।

देशभूषण, अजितसागर, विद्यानंद, विद्यासागर, सन्मतिसागर, ज्ञानसागर, विरागसागर, विशुद्धसागर, वसुनंदी, श्रुतसागर, सुनीलसागर, प्रमाणसागर, वर्णी गणेशप्रसाद, जिनेन्द्रवर्णी आदि साधकों द्वारा व्याख्याएँ की गई। ज्ञानमति, विशुद्धमति और सुपार्श्वमति आदि आर्यिकाओं का भी योगदान है।

<u>पाइय-गज्जं अस्सिं समए</u>

को अत्थि पाइए गज्जं लिहिंदु समत्थो? उत्तरो त्थि सुणेह। पाइए कस्स गंथस्स अणुवादो जादो एरिसं च सवणं णो आगदो। अहं सयमेव पाइए लेहणं किदं। धारावाहिगरूवे सज्झाय-सिक्खाए पाइय-विज्जाए पहुदी पत्तिगासुं पगासिदा लेहा। पुव्वे णेमिचंद-जोदिसाइरिएणं विलिहिदं पाइए।

प्राकृत में गद्य इस समय

कौन है प्राकृत में गद्य को लिखने में समर्थ? उत्तर है सुने। प्राकृत में किस ग्रंथ का अनुवाद हुआ। ऐसा श्रवण में नहीं आता। मैंने स्वयं ही प्राकृत में लेखन किया। धारावाहिक रूप में स्वाध्याय शिक्षा, प्राकृत विद्या आदि पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित हुए। पूर्व में नेमिचंद्र ज्योतिषाचार्य के द्वारा प्राकृत में लिखा गया।

<u>पाइए हिंदी-विवेयणम्हि लेहो</u>

आइरिय-विमस्ससायरेणं विलिहिदं पाइए णो पगासिगो। समणाइरिय-विसुद्धसायरस्स सिस्सेणं 'णियाणुहव - तरंगिणी' इमाए हिंदी-विहद-देसणाए सोरसेणी-पाइए रूवंतरंण किदं आदिच्च-सायरेणं। देसणा-कत्ता समणाइरियो विसुद्धसायरो त्थि। आइरियस्स अण्ण-देसणाओ वि संति।

सुद्धप्प-तरंगिणी। अस्स पाइए रूवंतरणं किदं आरज्झ-सायरेणं। वे हु समणा पाइय-विसयस्स णादा।

अण्णण्ण - देसणासुं पाइय-रूवंतरणं अस्सिं संघे होज्जंति। अम्हे गोरवसाली अत्थि जे पाइय-अब्भुत्थाणत्थं णिरंतरं जदण-सीला समणा।

<u>णियाणुहव - तरंगिणी मे दिट्ठिणा पाइय - विवेयणं</u>

आदिच्चसायरो समणो एगो एरिसो जो णाणज्झाण-तवो रत्तो सज्झाय-काले

प्राकृत में हिन्दी विवेचन पर लेख

आचार्य विमर्शसागर ने प्राकृत में लिखा है, जो अप्रकाशित है। श्रमणाचार्य विशुद्धसागर के शिष्य के द्वारा **'निजानुभव-तरंगिणी'** इस बृहद् हिन्दी देशना पर शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरण किया **आदित्यसागर** ने। इस देशना के कत्ता **श्रमणाचार्य विशुद्धसागर** हैं। आचार्य की अन्य-देशनाएँ भी हैं।

शुद्धात्म-तरंगिणी। इसका प्राकृत में रूपान्तर **आराध्यसागर** ने किया। दोनों ही श्रमण प्राकृत विषय के ज्ञाता हैं।

अन्य-अन्य देशनाओं पर प्राकृत रूपान्तरण इस संघ में हो रहे हैं। हम गौरवशाली हैं वो श्रमण प्राकृत के अभ्युत्थान के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं।

मेरी दृष्टि से निजानुभव-तरंगिणी प्राकृत-विवेचन

आदित्यसागर एक ऐसे श्रमण हैं जो ज्ञान, ध्यान एवं तप में लीन हैं। स्वाध्यायकाल में

सज्झायं पत्तं समणाइरयि-विसुद्धसायरस्स देसणं णो केवलं सुणेदि णं वि तं विलिहिदं किच्चा संपादणं संसोहणं चावि। साहूणं सव्वासुं किरियासुं रत्तो आदिच्चो अवसेस-समए पाइए संलग्गो गुरुआणं सिरोधारिदं कुणेदि।

स्वाध्याय को प्राप्त श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी की देशना केवल सुनते नहीं अपितु उसे लिखित करके संपादन और संशोधन भी करते हैं। साधुओं की सभी क्रियाओं में रत आदित्यसागर शेष समय पर प्राकृत में संलग्न गुरुआज्ञा को शिरोधार्य करते हैं।

किदीए किं अत्थि

अस्सिं अत्थि विविह-विसयाणि। ते उव-उद्देसग-जुत्ता। सव्वे अत्थि इग-सद-वियालिसी।

कृति में क्या है

इसमें विविध-विषय हैं। वे उप-उद्देशक युक्त हैं। वे सभी 142 हैं।

मंगलाचरणं

तय-सिलोगे मंगलाचरणं अत्थि। अस्सिं पढम-मालिणी-छंदे त्थि। 'सुमदि-सुमदि देवं, हं णमस्सामि णिच्चं,' एरिसं भावं दाऊणं च पुप्फदंत-भूदबलिं णरवाहणं सुबुद्धिं च णमेज्जा। तदणंतरं च सुददेवदा जयदु एरिसं भावणं समप्पिदूणं विविह-सिस्सिगेहिं विसय-णिरूवणं किदं।

संसारचक्को-रागादिभावा संसारचक्क-हेदू। सग-

मंगलाचरण

तीन श्लोकों में मंगलाचरण है। इसमें प्रथम मालिनी छंद में सुमति प्रदायक सुमति प्रभु को नमन करता हूँ, ऐसा भाव देकर पुष्पदंत-भूतबली-नरवाहन और सुबुद्धि को नमन किया। तदनंतर श्रुतदेवता जयवंत हों ऐसी भावना को समर्पित कर विविध शीर्षकों के द्वारा विषय निरूपण किया।

संसारचक्र- रागादिभाव संसारचक्र के हेतु हैं। जो अपने अध्यवसाय भाव से रोकता है,

अज्झवसाय-भावेणं जो रोहेदि सो एव कुणेदि णियाणुहवं। परिभमणं गलेज्जा। अस्स होदव्वं रूवादीद - झाणं। (पृ.14)

वही निजानुभव करता है। परिभ्रमण भी गल जाएगा। इसके लिए चाहिए रूपातीत ध्यान। (पृ.14)

समण-आदिच्चसायरस्स गज्ज-रूवंतरणं

पाइए गज्ज-रूवंतरणं सहजो सरलो णत्थि। अस्सिं च समणाइरिय-विसुद्धसायरस्स देसणाए विवेयणं रूवंतरिदं अदि-दुरुहं अत्थि। समणाइ-रियस्स विवेयणस्स सेलीए-

1. जण-सामण्ण-सद्दाणि।
2. सक्किद-णिट्ठ-सद्दाणि।
3. तद-सम-सद्दाणि।
4. भासा-ओजस्सिदा।
5. तक्किगत्तणं।
6. उद्धरण-बाहुल्लं।
7. संदब्भ-गब्भिदा।
8. तुलणप्पगत्तणं।
9. विवेयणत्तणं।
10. वण्णणप्पगत्तणं।
11. भावाभिप्पायो।
12. सुत्ति-बाहुल्लं।
13. देसिज-सद्दाणि।

श्रमण-आदित्यसागर का गद्य-रूपान्तरण

प्राकृत गद्य रूपान्तरण सहज सरल नहीं। इसमें भी श्रमणाचार्य विशुद्धसागर की देशना के विवेचन को रूपान्तरित करना अति-दुरुह है। श्रमणाचार्य की विवेचन की शैली में-

1. जनसामान्य के शब्द।
2. संस्कृत-निष्ठ-शब्द।
3. तत्सम-शब्द।
4. भाषा-ओजस्विता।
5. तार्किकता।
6. उद्धरण-बहुलता।
7. संदर्भ गर्भिता।
8. तुलनात्मकता।
9. विवेचनता।
10. वर्णनात्मकता।
11. भावाभिप्राय।
12. सूक्ति-बाहुल्ल।
13. देशज-शब्द।

आदिच्चसायरेणं किदं अज्झयणं पाइयस्स पाइय-गंथाणं तेसिं विवेयणं तदणंतरमेव पाइय-सुउमाल-आरिस-सद्दपजोगेणं सह गज्ज-समालंकिद-मह-विवेयणं जं किदं सो पच्चुप्पण्ण-समए समणाणं पुरा-भासाइ महिमाए णाणं होहिदि एव।

आदित्यसागर जी ने प्राकृत अध्ययन किया, प्राकृत ग्रंथों को पढ़ा, उनके विवेचन के उपरांत प्राकृत की सुकुमाल-आर्ष-शब्द प्रयोग के साथ गद्य समालंकृत जो बृहद् विवेचन किया वह वर्तमान समय में श्रमणों के लिए पुराभाषा की महिमा का ज्ञान होगा ही।

दिट्ठव्वं किंचि विवेयणं

1. जण-सामण्ण-सद्दाणि

विवेयणे पाइय-रूवंतरे त्थि जणसामण्ण-सद्दाणि। तेसिं सद्देहिं अस्सिं पाइय-विवेयणे णव-णव-सद्दाणं णिम्माणं वि सण्णायदे। संबोहणे बहुलत्तणं-
''हंसप्पा'' (पृ.14), ''मेलंदा'' (पृ.15), ''अबला'' (पृ.19), ''रे मूढ़''(पृ.70), ''किं कदा णीरसा वि होंति सरसा?'' (पृ.19)।

दृष्टव्य है कुछ विवेचन

1) जन-सामान्य-शब्द

प्राकृत रूपान्तरण के विवेचन में है जन-सामान्य के शब्द। उन शब्दों से इस प्राकृत- विवेचन में नए-नए शब्दों का निर्माण ज्ञाता होता है। संबोधन में बाहुलता से- हंसात्मन् ! (पृ.14), मेलंदा! (पृ.15), अबला! (पृ.19), रे मूढ़! (पृ.70), 'क्या कभी नीरस भी सरस होते हैं (पृ.19)।

2) सक्किद-णिट्ठ-सद्दाणि

समणाइरियो विसुद्धसायरो सयमेव सक्किद-पाइय-भासा

2) संस्कृत-निष्ठ-शब्द

श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी स्वयं संस्कृत-प्राकृत भाषा से ज्ञाता हैं।

णादा। विवेयणे किं केणं पयारेणं सक्किद-णिट्ठ-सद्दाणं पजोगो जादो तं पाइए पस्सेमि जहारूवे-सुगम-सहावी हुव। (पृ.35)
केसलुंचणं किरियामेत्तं णत्थि। मणो माणवरिवू वि।(पृ.63)
धणचाग-दाणं।(पृ.91)
करुणा-दया।(पृ.147.)

विवेचन में क्या, किस प्रकार से संस्कृत निष्ठ शब्दों का प्रयोग हुआ उसको यथा रूप प्राकृत में देखता हूँ-
सुगम-स्वभावी बनो।(पृ.35)
केशलुंचन क्रियामात्र नहीं है।
मन मानव का शत्रु भी है।(पृ.63)
धन का त्याग दान है।(पृ.91)
करुणा और दया।(पृ.147)

3) तद-सम-सद्दाणि

पच्चेग-विवेयणे तद-सम-सद्दाणि। रागादिभावा (16), परिणामा (10), मूलकारणं (283), जीवो (263), दुराचारो (239), मूढ-मंदिर (251) पहुदी सहस्साणि सद्दाणि।

3) तत्सम-शब्द

प्रत्येक विवेचन में तत्सम शब्द हैं। यथा-रागादिभाव (14), परिणाम (16), मूलकारण (283), जीव (263), दुराचार (239), मठमंदिर (251), आदि हजारों शब्द हैं।

4) भासा-ओजस्सिदा

पाइय - भासाए पडिवादिद-विसय-वण्णणे भासा ओजस्सिदा सव्वत्थ विज्जदे। जधा-
*** पियभोगा तुमं अणेगहुत्तं भुंजिदो परम-भोग्गं तुमं णो भुंजिदो।(पृ.19)**

4) भाषा-ओजस्विता

प्राकृत भाषा में प्रतिपादित विषय वर्णन में भाषा ओजस्विता सर्वत्र है। यथा-

* प्रियभोगा को तुम ने अनेकबार भोगा, परमभोग्या को तूने नहीं भोगा।(पृ.19),

*** एदाणि सव्वाणि कहं तुव हुज्जा।(पृ.71)**

*** अहो अच्छेरं! जीवो कियत्तो मूढ़ो? तं णवि जाणेदि तेणं सह किंचिवि णो गच्छेहिदि। (पृ.91)**

5) तक्किक्तणं

सयमेव आइरियो तक्किक्तणं णेदूणं जं विवेयणं कुणेदि तं णो सव्व-साहारण-जणाणं बहि हवेदि। तत्तो वि पइदिणं जो सुणेदि तं तस्स जधत्थ-भावो णायदे वि। जधा-

*** हे हंसप्पा! तुमं भव-तवणं अणादिणा सहेसि। किं इदं तवणं तुमं तवणरूवे णो अणुहवेसि? अणलसिहं दट्ठूणं बालगा वि होंति भयभीदा, णं तुमं धिगत्थु! भो पुमाण! कत्तो तुव विवेगो? भव-तवणेणं काम-कोह-उद्वेगा जायंति, तदा विवेगो धंसेदि।(पृ.131)**

6) उद्धरण-बाहुल्लं

उद्धरणे वि लोगिग-

* ये सभी तेरे कैसे होंगे। (पृ.71)

* अहो आश्चर्य! जीव कितना मूढ है? वह नहीं जानता उसके साथ कुछ भी नहीं जाएगा। (पृ.91)

5) तार्किकता

स्वयं आचार्य श्री तार्किकता को लेकर जो विवेचन करते हैं वह सर्वसाधारण जनों के बाहर होता है। फिर भी प्रतिदिन जो सुनता उसको उसका यथार्थ भाव समझ में आ जाता है। यथा-

* हे हंसात्मन्! भव की तपन तू अनादिकाल से सह रहा है। क्या तुम्हें यह तपन तपनरूप नहीं लग रही है? अनल-शिखा देखकर बालक भी भयभीत होते हैं, पर धिक्कार हो तुमे। भो पुमान्! तेरा विवेक कहाँ है? जब भव तपन के कारण काम, क्रोध के उद्वेग सामने आते हैं, उस समय विवेक खो बैठता है। (पृ. 131)

6) उद्धरण- बाहुलता

उद्धरण में लौकिक-

पार लो गिगा सामाजिग-धम्मिगादि-रूवा।

*** लोगिग-उद्धरणं- ''भो णाणि! जाणि पावाणि तुम करेसि ताणि सव्वाणि सत्ताए विज्जेंति, बालकण्ण व्व। जहा बालकण्णा वट्टमाणे जुवा जीवस्स णो होदि विगार-कारणं। सा हु जदा लहेदि जुवदी- अवत्थं तदा कामुगस्स करेदि जाला-कज्जं वासणा उप्पत्तीए होदि णिमित्तं च''। (पृ. 130)**

*** पारलोगिग-उद्धरणं-**

मोक्खत्थी सिवफल-दायग-संजम-रुक्खट्ठं वेरग्गं पुव्विं पि आवस्सगं एवं संजम-उवरंतं पि।(पृ. 136)

*** सामाजिग- उद्धरणं-**

वायालो पडिक्खणं पत्तेग-इत्थि-पुरिसेहिं णिंदिदो। हास-भायणो चावि होदि। (पृ. 139)

*** धम्मिग-उद्धरणं-**

रागद्वोस-मोहा आदपबल-

पारलौकिक सामाजिक और धार्मिक आदि रूप हैं।

*** लौकिक-उद्धरण-** ''भो ज्ञानी! जिन पापों को तुम कर रहे हो, वे सभी सत्ता में हैं, बालकन्या की तरह। जैसे बालकन्या वर्तमान में विकार का कारण नहीं बनती। वही कन्या जब युवती अवस्था को प्राप्त होती है, तब कामी के लिए ज्वाला का कार्य करती है।'' (पृ. 130)

*** पारलौकिक-उद्धरण-**

मोक्षार्थी शिवफल दायक संयम वृक्ष के लिए वैराग्य पूर्व में भी चाहिए और संयम धारण के बाद भी। (पृ. 136)

*** सामाजिक-उद्धरण-**

वाचाल व्यक्ति प्रतिक्षण प्रत्येक नर-नारी के द्वारा निंदित होता है और हास्य का पात्र भी होता है। (पृ. 139)

*** धार्मिक-उद्धरण-**

रागद्वेष और मोह आत्मा के

रिवुणो। अज्ज जीवो बहिरिवुत्तो जुज्झेदि, अब्भिंतर-रिवुणो बलवंता करेदि। (पृ. 137)

प्रबल शत्रु हैं। आज जीव बाह्य शत्रु से लड़ रहा है और अभ्यंतर शत्रुओं को बलवान कर रहा है। (पृ. 137)

7) संदब्भ-गब्भिदा

अस्सिं पाइय- णिरूवणे पाइय-सक्किद-पुव्वाइरियाणं संदब्भं दादूणं विसयं फुडं किदं।

- सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। (पृ. 256)

-सम्मद्दंसण-णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे। (पृ. 256)

7) संदर्भ-गर्भिता

इस प्राकृत निरूपण में प्राकृत संस्कृत के पूर्वाचार्यों के संदर्भ देकर विषय स्पष्ट किया है।

- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है। (पृ. 256)

- हे जीव! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष का कारण है, ऐसा जानो। (पृ. 256)

8) तुलणप्पगत्तणं

कुसलस्स जीवणं किं होदि? कुसलो त्थि णावगो। भवो सायरो तम्हि संजमो णावा रदणत्तय-धम्मा तुज्झ दिव्व-अणग्घ - रदणाणि तुमं णाविगो। (पृ.60)

8) तुलनात्मकता

कुशल व्यक्ति का जीवन कैसा होता है? कुशल नावक स्वयं है। भव सागर है, उसमें संयम नाव है, रत्नत्रय धर्म है। तेरे दिव्य-अमूल्य रत्न हैं, तू नाविक है। (पृ. 60)

9) विवेयणप्पगत्तणं

दव्व-तच्च-आदि-विवेयणेणं सह सावग-समण-धम्मस्स विवेयणं चावि। समणाणं

9) विवेचनात्मकता

द्रव्य, तत्त्व आदि विवेचन के साथ श्रावक-श्रमण धर्म का विवेचन भी है। श्रमणों के

आवस्सग-कम्माणि सामाइग-चदुव्विंसत्थव - वंदण - पडिक्क मण - पच्चक्खाण - काओसग्गो वि।(पृ. 110)

पडिक्कमणस्स वित्थिण्ण-विवेयणं च।(पृ. 111)

आवश्यक कर्म-सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। (पृ. 110)

प्रतिक्रमण का विस्तृत-विवेचन है। (पृ. 111)

10) वण्णणप्पगत्तणं

भेद-विण्णाण-किरियासुं अरहंतस्स सरूवं सम्मत्त-विवेयणं खाइग-णाणस्स भूमिगा दिज्जा।(पृ. 132)

एवं अण्णण्ण-विवेयणं चावि अत्थि। पाइए णिरूवणं अणेग-दिट्ठिणा महत्तपुण्णं अत्थि।

10) वर्णनात्मकता

भेदविज्ञान की क्रिया में अरहंत का स्वरूप, सम्यक्त्व विवेचन एवं क्षायिकज्ञान की भूमिका को दिया गया।(पृ. 132)

इस प्रकार अन्यान्य विवेचन भी हैं। प्राकृत में निरूपण अनेक-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

*** समासजुत्त- पदाणि**

खाइग-णाण-दंसण-दाण-लाह-भोग-उवभोग-वीरिय-सम्मत्त-चारित्त-लद्धिधारगस्स अरिहस्स दव्वं गुणं पज्जायं च जो जाणेदि।(पृ. 132)

मोक्ख-मग्ग-फलं। (पृ. 134)

*** समासयुक्त-पद**

क्षायिकज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र लब्धि के धारक अरहंत देव के द्रव्य, गुण और पर्याय को जो जानता है। (पृ. 132)

मोक्षमार्ग का फल। (पृ.134)

*** संधि-पदाणि**

धम्मोवएसं।(पृ. 150)

जहत्थ-णाणं (लुग-संधी)

*** संधिपद**

धर्म+उपदेशं। (150)

यथार्थ-ज्ञानं। (लुक्संधि)

जहा+अत्थ+णाणं (पृ.134)
यथा+अर्थ+ज्ञानं। (पृ.134)

मोक्खत्थी।(136)
मोक्षार्थी। (136)

मोक्ख+अत्थी (लुग-संधी)
मोक्ष+ अर्थी। (लुक्संधि)

तित्थेस।(100)
तीर्थेश। (100)

तित्थ+ईस (गुण संधी)
तीर्थ+ईश। (गुण-संधि)

गुणाणुरागो।(102)
गुणानुरागः। (102)

गुण+अणुरागो(दिग्घ-संधी)
गुण+अनुरागः। (दीर्घ-संधि)

*** समास-पओगो**

*** अव्वयीभाव-समासो**

*** समास के प्रयोग**

*** अव्वयीभाव-समास**

कुमग्गो।(150)
कुमार्गः। (150)

जहाकालसद्दो।(112)
यथाकालशब्दः। (112)

*** दुंद-समासो**

*** द्वन्द-समास**

णिम्मल-दव्व-गुण-पज्जाया। (100)
निर्मल द्रव्य, गुण और पर्याय। (100)

पावण - पीऊस - वाणीए। (102)
पावन और पीयूस वाणी में। (102)

*** दिगु-समासो**

*** दिगु-समास**

सत्त-तच्च-णवपदत्थ-छद्दव्व-पंचत्थिकाय - उवएसगस्स । (101)
सात-तत्त्व, नवपदार्थ, छःद्रव्य और पाँच अत्थिकाय के उपदेशक का। (101)

*** तप्पुरिसो**

*** तत्पुरुष**

मोहरिवु-णिवासो।(100)
मोहरिपु का निवास। (100)

कज्जसिद्धी।(102)
कार्य की सिद्धि। (102)

धम्मपहावणं।(113)
धर्म की प्रभावना को। (113)

पवयण - कला - सुण्ण। (148)
प्रवचन कला से शून्य। (148)

आगम-विहिद।(148)
आगम में विहित। (148)

*** बहुव्वीही-समासो**

*** बहुव्रीही-समास**

वीदमोहं।(13)
मोह जिसका बीत गया है। (13)

*** कम्मधारय-समासो**

*** कर्मधार्य-समास**

उत्तम-आगमज्झयणं।(18)
उत्तम आगम के अध्ययन। (18)

कडुगतुमडी।(18)
कटुक तुमड़ी। (18)

समासेणं सह उत्ति-वेचित्तं सुउमाल-सरस-पदावलीजुत्त-पाइए ओज-पसाद-माहुरियं च। अस्सिं अत्थि वाग-बाहुल्लं अलंकिद-पजोगो सोहाजुत्त-धम्मो वि। अस्सिं अत्थि तुलणप्पगदिट्ठी, अभेदपरग-दिट्ठी, दिट्ठंत-सारिच्छ-भावो वि। गज्जे वि उवमा-रूवग-अदिसयोत्ति-जमग-दिट्ठंत-णिट्ठंसणा - दीवग-विभावणादि-अलंकिददिट्ठी परिदंसदे।

समास के साथ उक्ति वैचित्र है। सुकुमाल सरस पदावली युक्त प्राकृत में औज, प्रसाद और माधुर्य भी है। इसमें है वाक्-बहुलता। अलंकृत प्रयोग, शोभायुक्त धर्म भी है। इसमें है तुलनात्मक दृष्टि, अभेद-परक-दृष्टि और दृष्टांत सदृश भाव भी है। गद्य में उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, यमक, दृष्टांत, निर्दर्शना, दीपक, विभावना आदि की अलंकृत दृष्टि भी दिखाई पड़ती है।

पाइए आदिच्चसायरेणं जं किंचि गज्जं विलिहिदं सो एव सव्व - जण - पेरणादाई।

प्राकृत में **आदित्यसागर** ने जो कुछ भी गद्य लिखा, वह भी सर्वजनों को प्रेरणा देनेवाला है।

पारमत्थिग - दिट्ठिणा अहं चिंतेमि पाइय - भासा जणभासारूवे अधुणा वि विज्जमाणा॥

पारमार्थिक दृष्टि में मैं सोचता हूँ कि प्राकृत भाषा जनभाषा के रूप में आज भी विद्यमान है॥

प्रो. उदयचन्द्र जैन
29, पार्श्वनाथ कालोनी,
सवीना उदयपुर (राज.) 313002
मो. 8764341728

विषय-अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृ.क्र.
1.	**भवभमणकारणं रागादिभावा** (रागादि-भाव ही भवभ्रमण में कारण)	14
2.	**सच्च-पहावणा, असच्च-आलोयणा** (सत्य की प्रभावना, असत्य की आलोचना)	15
3.	**कम्मणिम्मूलणे कारणं वीदरागवाणी** (वीतरागवाणी कर्म-निर्मूलन में कारण)	17
4.	**पस्स अप्प-सुंदरिं** (आत्म-सुंदरी को निहार)	19
5.	**लिंगधारणस्स उवादेयत्तं** (लिंग धारण करने की उपादेयता)	21
6.	**संजोगे वियोगो** (संजोग में वियोग)	23
7.	**सग-सहावं लभ** (निजस्वभाव को प्राप्त कर)	24
8.	**विदेहं तुज्झ सरूवं** (विदेह ही है तेरा स्वरूप)	25
9.	**भत्तीदो मुत्ती** (भक्ति से मुक्ति)	26
10.	**सारो आदधम्मो** (आत्मधर्म ही सार है)	27
11.	**पर-पदत्थ-संजोगो मोहहेदू** (पर-पदार्थों का संयोग ही मोह का कारण)	28

क्र.सं.	विषय	पृ.क्र.
12.	अप्पं दहेदि भोगज्जाला (भोगों की ज्वाला स्व को जला रही है)	29
13.	कुण चित्तं पवित्तं (अंतःकरण पवित्र कर)	30
14.	धार सामण्णं (समता को धारण कर)	31
15.	तणु-विसयगा समग्ग-ववहारा (सब व्यवहार तन-संबंधी हैं)	32
16.	परमेसरो वि ण परियट्टदि असम्मं धारणं (गलत धारणा को परमेश्वर भी नहीं बदल सकता)	33
17.	परमट्ठसुण्ण-वदादीणि पुण्णहेदूणि, ण दु कम्मणिज्जराए (परमार्थ-शून्य व्रतादि पुण्य-बंध के कारण हैं, कर्म-निर्जरा के नहीं)	34
18.	मण-णिम्मलत्त-सरलत्तं च मुणित्तं (मन की निर्मलता एवं सरलता ही साधुता है)	35
19.	जिणमुद्दं दट्ठूणं वच्छल्लं फुड्डेदु (जिन-मुद्रा को देखकर वात्सल्य-भाव प्रकट हो)	36
20.	सामाइग-साहणादो समयसारलाहो (सामायिक की साधना से समयसार की प्राप्ति)	37
21.	चित्तसुद्धीए चिदाणंदलद्धी (चित्त की शुद्धि से चिदानंद की प्राप्ति)	38
22.	मेत्तवरिसावासो त्थि ण दु वरिसाजोगो (वर्षायोग नहीं, मात्र वर्षावास चल रहा है)	39
23.	सग्गुणाणं आवस्सगं चित्तणिम्मलत्तं (सद्गुणों के लिए हृदय की पवित्रता आवश्यक)	41

क्र.सं.	विषय	पृ.क्र.
24.	विणए गुरुत्तं, ण दु दंभे (महानता अहं में नहीं, विनय में होती है)	42
25.	विगारा बाहेंति माणुसत्तं (विकारों से मनुष्यता बाधित होती है)	43
26.	जिण-पव्वज्जा सक्कार-पलायणं णत्थि (जिन-दीक्षा संस्कार से पलायन नहीं)	44
27.	जाण सगदव्वं (स्वद्रव्य को जान)	45
28.	चिंतण-पवित्तादो चारित्तरक्खा (विचारों की पवित्रता से चारित्र की रक्षा)	46
29.	चित्तणिम्मलत्तं वरेण्णसाहणा (चित्त की निर्मलता ही श्रेष्ठ साधना है)	47
30.	सगसरूवं पसंसणिज्जं (स्वस्वरूप ही प्रशंसनीय)	48
31.	वेरग्गदो विसुद्धी कम्मलुंचणं च (वैराग्य से विशुद्धि एवं कर्म-लुंचन)	49
32.	णिराउलत्थं वंछाओ चत्त (निराकुल होने के लिए आशाओं का परित्याग करो)	51
33.	भासा-माहुरियं चित्त-पडिबंबं (भाषा का माधुर्य अंतःकरण का प्रतिबिम्ब)	53
34.	देहं आदसाहणा-सेदू (शरीर आत्मसाधना का सेतु)	54
35.	दिट्ठिं ण देंति भोगा (भोग कभी दृष्टि प्रदान नहीं करते)	55

क्र.नं.	विषय	पृ.क्र.
36.	**परदव्वं पडि रागो दुक्खहेदू** (पर-पदार्थों के प्रति-राग ही दुःख का कारण)	56
37.	**णिस्सारा लक्खहीण-किरिया** (लक्ष्यहीन-क्रिया थोथी)	57
38.	**कामणा-अच्चगो ण करेदि साहणं** (कामना का पुजारी साधना नहीं कर सकता)	59
39.	**सिद्धीए कोसल्लं आवस्सगं** (सिद्धि के लिए कुशलता अनिवार्य है)	60
40.	**भावाभावं किच्चा कुण भवणासं** (भावों का अभाव करके भव का नाश करो)	61
41.	**मणवसीकरणंहु सम्म-साहणा** (मन को वश में कर लेना ही सच्ची साधना है)	63
42.	**विणा संकप्पं असंभवा सिद्धी** (संकल्प के बिना सिद्धि संभव नहीं)	65
43.	**अल्हादकारं होदि धम्मफलं** (धर्म का फल आह्लादकारी होता है)	67
44.	**सगचिंतणादो दिट्ठिलाहो** (स्वचिंतन से दृष्टि प्राप्त होती है)	69
45.	**वेसम्मे सामण्ण-परिक्खा** (समता की परीक्षा विषमता में ही होती है)	72
46.	**दुह-सुह-लाहालाहा संसारो** (दुःख-सुख, लाभ-अलाभ का होना ही संसार है)	73
47.	**भोगत्तो असंभवा संती** (भोगों से शांति संभव नहीं)	74

क्र.नं.	विषय	पृ.क्र.
48.	**आदसुहत्थं आवस्सगो संजमो** (आत्मसुख के लिए संयम आवश्यक)	75
49.	**वसणं विसं** (व्यवन विष है)	77
50.	**णाणं आदधम्मं** (ज्ञान, आत्मा का निजधर्म)	79
51.	**णाणं अखंडजोदी** (ज्ञान अखण्ड-ज्योति है)	80
52.	**सामण्णेण गुरुत्तलद्धी** (साम्यता से ही महानता की प्राप्ति)	81
53.	**करणीयाकरणीय-णाणं विवेगो** (करणीय-अकरणीय ज्ञान ही विवेक है)	83
54.	**अवर-कालुस्सभाव-अवगमणं दुक्करं** (पर के कलुषित-भावों को समझना दुष्कर है)	85
55.	**णाणगोरवो अगम्मो** (ज्ञान की महिमा अगम्य है)	87
56.	**संवेगी सम्मजोगी** (संवेगी ही सच्चा योगी)	89
57.	**हुव अप्पाणंदभोगी** (आत्मानंद-भोगी बनो)	91
58.	**साहगं कत्थ भयं** (साधग को भय कहाँ?)	93
59.	**साहु समाहीदो सपर-हिदं** (साधु-समाधि से स्व-पर का कल्याण)	95

क्र.नं.	विषय	पृ.क्र.
60.	दुक्खकारणं दुट्ठ-संगदी (दुष्ट की संगति दुःखों का कारण)	97
61.	जिणपाद-आसयदो णियबोहो (जिनचरणों के आश्रय से निज-बोध)	99
62.	दीवगो गुरू (गुरु दीपक है)	102
63.	सुदभत्तिफलं चारित्तं (श्रुत-भक्ति का फल चारित्र)	105
64.	जिणपवयणं करेदि जिणं (जिन-प्रवचन ही जिन बना सकते हैं)	108
65.	णिरावस्सगो णो समणो णो सावगो (आवश्यकों से रहित न श्रमण, न श्रावक)	110
66.	अपहावणा दु सम्म-पहावणा (अप्रभावना नहीं करना ही सच्ची प्रभावना है)	113
67.	जं णो णियगुण-अणुरागो, कहं सो धम्मप्पा ? (निजगुणों में जिसे अनुराग नहीं वह धर्मात्मा कैसा?)	116
68.	मा कुण रागदोसा परदव्वेसुं (पर-पदार्थों में रागद्वेष मत कर)	119
69.	धार विणयं, कुण माणणासं (विनय धार, मान का कर नाश)	121
70.	मा लेह णिरिक्ख सगं (लिखो नहीं, स्व को लखो)	122
71.	वंचणं मा कुण (मत करो वंचना)	124

क्र.नं.	विषय	पृ.क्र.
72.	गुणी णो करेदि णियपसंसं (गुणी स्वप्रशंसा नहीं करता)	125
73.	सम्मभावो जीवण-सुहा (साम्यभाव जीवन का आमृत)	126
74.	सम्मभावो सम्मसाहणा (साम्यभाव रखना ही सच्ची साधना)	127
75.	अहुणा संभल (अभी संभल जा)	129
76.	सीलरक्खणट्ठं हुव सुचेदो (शीलरक्षा के लिए सावधान रह)	131
77.	णिब्भेदविण्णाण-किरियाओ सुण्णाओ (भेद विज्ञान बिन क्रियाएँ शून्य हैं)	132
78.	बंधण-विच्छेदं विणा असंभवा मुत्ती (बंधन के छेदे बिना मुक्ति असंभव)	133
79.	मग्गं विणा असंभवं मग्गफलं (मार्ग बिना मार्ग का फल संभव नहीं)	134
80.	कामी संसारस्स णिद्धणअम-जीवो (कामी है संसार का सबसे निर्धन प्राणी)	135
81.	णिव्वेरग्ग-चरित्तं णिप्फलं (वैराग्यहीन-चारित्र निष्फल)	136
82.	अहं-ममेदं भावे लीणत्तं रागपोसणं (मैं और मेरे में लगना है राग का पोषण)	137
83.	मोणसाहणा सम्मसाहणा (मौन की साधना ही सच्ची साधना)	139

क्र.नं.	विषय	पृ.क्र.
84.	विवेगी-जीविदं साहु-जीविदं (विवेकी का जीवन ही साधु-जीवन)	140
85.	चित्त-णिम्मलकरण-रसायणं सज्झाओ (चित्त निर्मल करने का रसायन है स्वाध्याय)	142
86.	आमणाय-सज्झायो णिप्पुहदा-साहणं (आम्नाय-स्वाध्याय निष्पृहता का साधन)	145
87.	सपर-हिद-भावदो देयमाणो उवएसो समीचीणो (स्व-पर कल्याण की भावना से दिया हुआ उपदेश ही समीचीन है)	147
88.	जो कामं पसाधेदि, सो महंतो (महान् वह जिसने काम को वश में कर लिया)	151
89.	पुण्णस्स दुरुवओगो हि णरगो णिगोदो (पुण्य का दुरुपयोग ही नरक/निगोद)	152
90.	भवभमण-कारणं कम्मासवो (कर्मास्रव ही संसार-परिभ्रमण का कारण है)	154
91.	दुक्करं पज्जयदिट्ठिचागो (पर्यायदृष्टि छोड़ना दुष्कर कार्य)	156
92.	विसय-विरत्ते वेदकम्म-उवसमो (वेदकर्म का उपशम विषयों से विरक्त रहने में)	157
93.	भोगसेवणदो असक्कं आदहिदं (भोगों के सेवन से कभी आत्मकल्याण संभव नहीं)	159
94.	सपरहिद-भावणादो साहुत्तं बहुदुक्करं (स्व पर कल्याण की भावना से साधु बनना बहुत कठिन है)	161
95.	होदूणं वर-किसगो कुण वर-किसिं (उत्तम कृषक बनकर श्रेष्ठ कृषि कर)	163

क्र.नं.	विषय	पृ.क्र.
96.	सेयं वाणी-वेहवं, तं कुण वरं (वाणी का वैभव श्रेयस्कर है, उसे श्रेष्ठ बना)	165
97.	कहण-करणे एगत्तं विणा दुल्लहं आददंसणं (कथनी और करनी में एकता आए बिना आत्मदर्शन दुर्लभ है)	167
98.	मणो इरिदेदि अक्खाणि (मन ही इंद्रियों को प्रेरित करता है)	169
99.	हुव सगदव्वकत्ता (स्व द्रव्य का ही कर्ता बन)	171
100.	दुट्ठमित्ती दुक्खकारणं (दुष्टों की मित्रता दु:खों का कारण)	172
101.	कुण णिय-समिक्खं, ण दु परस्स (निज की समीक्षा कर, पर की नहीं)	173
102.	आदबली चरेदि चारित्तपहे (आत्मबली ही चारित्र के पथ पर चल सकता है)	175
103.	कुण आदबल-संगहं (आत्मशक्ति का संग्रह करो)	177
104.	भारतीय-सक्किदीए विघादगा अणप्पविगास-सिक्खा (आत्मविकास रहित शिक्षा भारतीय संस्कृति के लिए विघातक)	180
105.	अपत्त-कुपत्त-आराहणा देदि कुफलं (अपात्र/कुपात्र की आराधना कुफल को प्रदान करती है)	182
106.	परगुण-गायगो सज्जणो (सज्जन वह जो दूसरों का गुणवान करें)	184
107.	णस्सरट्ठं मा कुण अणस्सर-विघादं (नश्वर के लिए अनश्वर का विघात मत कर)	187

क्र.सं.	विषय	पृ.क्र.
108.	वंछा-सप्पिणिं दूरदो मुंच (आकांक्षारूपी नागिन को दूर से ही छोड़)	189
109.	अप्पत्थी झत्ति मुयदु दुट्ठसंगदिं (आत्मार्थी शीघ्र त्यागे दुष्टों की संगति)	190
110.	कम्मलुंचणट्ठं केसलुचणं (कर्मलुंचन के लिए होता है केशलुंचन)	192
111.	सप्पुरिस-आभरणाणि अलोगिगाणि (सत्पुरुषों के आभूषण अलौकिक हुआ करते हैं)	194
112.	संत-संजदस्स मुट्ठीए मोक्खो (संत/संयमी जीव की मुट्ठी में है मोक्ष)	195
113.	सच्च-सिंहासणं उवरिं होदि (सत्य का सिंहासन ऊपर ही रहता है)	197
114.	साहु-असाहु-णाणं वाणीए (साधु-असाधु की पहचान वाणी से)	199
115.	णिम्मलभाव-धारगो धम्मिगो (निर्मल-परिणामों का धारी ही धर्मात्मा है)	201
116.	जाण सग-समयं (निज-समय को समझ)	202
117.	णियदो कुण णियमित्तिं (निज से निज की मित्रता कर)	203
118.	बंभवेदणट्ठं जिणमुद्दागहणं (ब्रह्म वेदन के लिए जिनमुद्रा धारण की जाती है)	204
119.	अहंगलणं विणा सगमेलणं असंभवं (अहं के गलन बिना स्व से मिलन संभव नहीं)	208

क्र.सं.	विषय	पृ.क्र.
120.	लोएसणाए जियमाणो अभूदत्थ-साहगो (लोकेषणा में जीनेवाला सच्चा साधक नहीं हो सकता है)	210
121.	जिद-उवसग्ग-परीसहो होदि वड्ढमाणो (उपसर्ग-परीषहजयी वर्धमान बनता है)	212
122.	वासणा-जालादो णिवज्ज (वासना की ज्वाला से बचो)	214
123.	दव्वं पडि रागो पावकारणं, णेव दव्वं (पाप का कारण पदार्थ नहीं, पदार्थ के प्रति राग है)	217
124.	णिय-चेइयालए भज णियचेयण्ण पहुं (निज-चैत्यालय में निज-चैतन्य-प्रभु की उपासना कर)	219
125.	भोगत्तो रक्खणं जोइ-पुरिस-उज्जोगो (भोगों से बचना योगी पुरुषों का पुरुषार्थ है)	221
126.	सग-लक्खं किच्चा जीवेहि (अपना स्व-लक्ष्य बनाकर जीना सीखो)	223
127.	सद्-संजमवेदणे अक्ख-विसया णवि अहिरुयंति (सत्-संयम का वेदन होने पर इंद्रियों के विषय भी रुचिकर नहीं लगते)	224
128.	पर-उण्णयणेणं किमु णासेसि णियतच्चणेत्तं (पर-सुधार के बहाने निज-तत्त्व की आँख क्यों नष्ट कर रहा है)	226
129.	कुण सम्म-उज्जमं, तुमं तुव पहुं भजेज्जो (सम्यक् पुरुषार्थ कर, तेरा प्रभु तुझे प्राप्त हो जायेगा)	229
130.	आदणाणं जीवणसारो (आत्मज्ञान जीवन का सार)	232
131.	सोह-परग-णाणं आवस्सगं (शोधपरक ज्ञान की आवश्यकता है)	233

क्र.सं.	विषय	पृ.क्र.
132.	चित्तस्स णिम्मलत्तेणं होदि समयस्स गूढरहस्स-णाणं (अंतःकरण की निर्मलता से ही आगम के गूढ़ रहस्यों को समझा का सकता है)	235
133.	पहुत्त-जणणी साहुत्तं (साधुता भगवत्ता की जननी है)	237
134.	भोगभट्ठीए णंतभव-गदा (भोगों की भट्ठी में अनंतभव व्यतीत हो चुके हैं)	239
135.	दढ-आदबलं करेदि जीवं महंतं (दृढ़-इच्छा शक्ति ही व्यक्ति को महान् बनाती है)	241
136.	णिय-परिणदिं मा विसर (निज-परिणति को मत भूल)	243
137.	पर-ममत्तेणं बज्झेदि जीवो (पर से ममत्व के कारण ही जीव बंधता है)	246
138.	जिणदंसणस्स मोलिगदा (जैन-दर्शन की मौलिकता)	248
139.	समण-सक्किदीए णिव्वाणं (श्रमण-संस्कृति में निर्वाण)	256
140.	समाहिमरणं णो बला आदघादो (समाधिमरण बलात् आत्मघात नहीं)	268
141.	आदसिद्धीए साहगअम-करणं झाणं (आत्मसिद्धि का साधकतम करण ध्यान)	279
142.	अणुवादग-पसत्थी (अनुवादक की प्रशस्ती)	288

'मंगलाचरणं'

सयल-कुमदि-हीणं, वीदमोहं जिणिंदं,
सयल-कलिल-रित्तं, वेदवेज्जं गरिट्ठं।
सयल-सुह-समिद्धं, जादरूवं वरेण्णं,
सुमदि-सुमदि-देवं, हं णमस्सामि णिच्चं।।1।।

अर्थ :-

जो सम्पूर्ण कुमितिज्ञान से रहित हैं, जिनका मोह विगलित हो चुका है, जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है, जो सम्पूर्ण पाप से विहीन हैं, वेदवेद्य हैं, गरिष्ठ हैं, जो सम्पूर्ण सुख ये समृद्ध हैं, जातरूप हैं तथा वरेण्य हैं, ऐसे सुमति को देने वाले सुमतिनाथ स्वामी को मैं नित्य नमस्का करता हूँ।।1 ।।

छक्खंडागम-कत्तू आगम-विज्जा-भत्ति-विणय-कुसला।
पुप्फदंत-भूदबली, जयंतु णरवाहण-सुबुद्धी।।2।।

अर्थ :-

जो आगम में, मंत्रविद्या में, भक्ति में, विनय में कुशल हैं, जो षट्खंडागम ग्रंथराज के कत्ता हैं, जो पुष्फदंत और भूतबली नाम से प्रसिद्ध हैं, ऐसे आचार्य नरवाहन और सुबुद्धि युगों-युगों तक जयवंत हों।।2 ।।

तियलोय-वंदणिज्जो, असक्खतच्चं पगासगो देवो।
मंगलं वागदेवो, णिच्चं सुददेवया जयदु।।3।।

अर्थ :-

जो मंगलभूत हैं, वाग्देव हैं, तीनलोक में वंदनीय हैं तथा असाक्षात् रूप से तत्त्व को प्रकाशित करनेवाले देव हैं, ऐसे श्रुतदेवता नित्य जयवंत हों।।3 ।।

भवभमणकारणं रागादिभावा

हंसप्पा! पुव्वबद्ध-कम्मोदयादो जीवो करेदि रागादि-भावा। तेणं गदी। गदीदो देहलाहो। देहादो इंदियाणि, इंदियादो विसय-वासणा-कामणा-उब्भवो एवं पुणो होदि णवदर-कम्मबंधो। अयं भवचक्को गदिमाणो त्ति; एसो जिणोवएसो।

जादे इच्छेसि भवचक्कादो णियरक्खणं दु अज्झवसाय-भावदो सगं रोध। तुज्झ परिणामा तुम्ह भवे भामेंति, अण्णं किंपि वत्थुं भवभमणकारणं णत्थि। असंखलोगप्पमाणा असुहभावा, तेसुं तुमं णियं लीयसे। एगहुत्तं कुणेहि असुहभाव-विवागवेदणं। कियत्ता भवा तुमं धारिदो तहा तेहिं भवे हिंडिदो? सग-सहावदो विमुहत्तं रागादि-भावेसुं णिमण्णत्तं चेव अस्स कारणं। भो अप्पा! अंतोकरणादो विचिंतिय कुणेहि णियभावरक्खणं, तुज्झ परिभमणं गलेज्जो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

राग़ादि-भाव ही भवभ्रमण में कारण

हे हंसात्मन्! पूर्वबद्ध कर्मोदय से जीव रागादिक-भाव करता है। उसके माध्यम से गति होती है। गति से देह की प्राप्ति होती है। देह से इंद्रियाँ, इंद्रियों से विषय-वासनाओं एवं कामनाओं का जन्म होता है और फिर नवतर कर्मबंध होने लगता है। इस प्रकार यह संसार-चक्र चलता रहता है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

संसारचक्र से अपनी रक्षा चाहता है तो अध्यवसाय भाव से स्वयं को रोक। तेरे परिणाम ही तेरे लिए भव में परिभ्रमण करा रहे हैं, अन्य कोई भी वस्तु भव-भ्रमण का कारण नहीं है। अशुभ-भाव असंख्यात-लोकप्रमाण हैं, उनमें तू अपने को लगाए हुए है। एक-बार तो अशुभ-भावों के परिपाक का वेदन कर। कितने भव तूने धारण किए और उनके कारण संसार में भटका है ? इसका एकमात्र कारण स्व-स्वभाव से विमुखता तथा रागादिक-भावों में निमग्नता ही है। अंतःकरण से विचार करके, भो आत्मन्! अपने परिणामों को संभाल, तेरा परिभ्रमण समाप्त हो जाएगा।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सच्च-पहावणा, असच्च-आलोयणा

हंसप्पा! वरेण्णत्त-अहिणाणं सदो होदि। किं कदा सुमणं पि बोल्लेदि तम्हि सुगंधं, महुगर-समूहा! आगच्छेह। णेव। मेलंदा सयमेव पुप्फदो हिंडेंति। सच्चसाहगं सच्चसाहणा-पचारो आवस्सगो णत्थि। सच्चपहावणा सदो होदि, असच्च-आलोयणा वि सदो होदि। तम्हा मा कुण वियप्पं। जस्स जीवस्स जहा भविदव्वत्तं तहा करिस्सदि कज्जं। तुमं णिय-मिदुत्तं णिय-गहणत्तं च मा खयसि। णग्गस्स किं ओइंधिस्सदि? ओइंधिस्संति वत्थाभरणवंताणं। जस्स णो पहावणा, जं लोग-मज्जादाए णो विचारं च; तस्स किं अपहावणा? तम्हा पडिक्खणं तुमं जग्गेज्जसु। तुमं गुरुचरणेसुं चिट्ठिदूणं जिणामिदं पिबेसि तहा कम्म-सिद्धंतं जाणेसि।

सत्य की प्रभावना, असत्य की आलोचना

हे हंसात्मन्! श्रेष्ठता की पहचान करना नहीं पड़ती, वह तो स्वतः हो जाया करती है। क्या कभी पुष्प को भी यह बताना पड़ता है कि सुगंध उसके अंदर है, मधुकर-समूह! आप आयें ? नहीं । अरे भाई! भौरे स्वयं ही पुष्प के चारों ओर घूमा करते हैं। इसी प्रकार सत्यसाधक को सत्य साधना के प्रचार करने की आवश्यकता नहीं हुआ करती। सत्य की प्रभावना स्वतः होती ही है, असत्य की आलोचना होती ही है। इसलिए तू किसी प्रकार के विकल्प मत कर। भवितव्यता जिस जीव की जैसी है, वह वैसा कार्य करेगा ही। पर तू अपने आप में मृदुता तथा गंभीरता को मत खो बैठना। देख, नंगे का क्या उतरेगा ? उतरेंगे तो वस्त्राभूषण वालों के। जिसकी प्रभावना ही नहीं है, जिसे लोक-मर्यादा का ध्यान ही नहीं है, उसकी क्या अप्रभावना होगी ? इसलिए, प्रतिक्षण तुझे जागृत रहने की आवश्यकता है। देख! तूने गुरुचरणों में बैठकर जिनामृत का पान किया है तथा समझा है कर्म-सिद्धांत

बहु-आलोयणाए पच्छा वि जीवस्स जसोकित्ति-कम्मस्स पबलोदयं कोवि णो गोवेदि। किं अग्गी वि तूलेणं लुक्केदि? एवं जस्स जीवस्स अजसोकित्ति-कम्मोदयो, तं कोवि णो देदि जसो। किं कट्ठे वि जायदे पुप्फं? फलिहे हु सा सत्ती, जम्हि पुप्फवण्णं झलेदि। सग-परिणामा कुण णिम्मला, परकिरियासुं गमिदूणं सगसमयं मा खय। णिय-पहुं कुण पसण्णं।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

को। जिस जीव का यशःकीर्ति नामकर्म का प्रबल उदय है, उसे कोई छुपा नहीं सकता, चाहे कोई कितनी भी आलोचना करे। क्या कभी आग भी रुई से छुप सकी ? तथा जिस जीव का अयशःकीर्ति नामकर्म चल रहा है, उसे कोई यश नहीं दिला सकता। क्या कभी काष्ठ में भी पुष्प दिखा है ? अरे ज्ञानी! स्फटिक में ही वो शक्ति है जिसमें पुण्य का वर्ण झलकता है। स्व परिणामों को निर्मल रख, पर-क्रियाओं में जाकर स्वसमय को मत खो देना। अपने प्रभु को प्रसन्न रख।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

कम्मणिम्मूलणे कारणं वीदरागवाणी

हंसप्पा! सुदणाणेणं होदि केवल्ल-लद्धी। सुदब्भासं विणा हेयोवादेय-विवेगो णवि जग्गेदि एवं तस्स अभावे सयलकिरिया असमीचीणा। विवेगबुद्धी-पबुद्धी वि सुदणाणेणं। जिणवयणं परम-ओसहं। अस्स सेवमाणो णियमेण भवभमणदो मुच्चेदि। आदहिदत्थं पडिक्खणं जिणवयणस्स मणणं सुमरणं सवणं च कादव्वं। सुसमय-सज्झायो वट्टमाणे मण-वसीकरणस्स अमुल्ल-उवाओ। अज्ज पुण्णोदएणं दुल्लहेणं पप्पमाण-भारदी-लद्धी। धण्णा ते जीवा, जेसिं कण्णा जिणवयणं सोच्छेंति, लोयणाणि अरुहबिंबं पस्सेंति, जीहा करेदि जिणभारदी-उच्चारणं च। वत्थुदो एरिसा जीवा णरुत्तमा। जिणवयण-सद्धाणी णवि भासेदि जिणवयणं सग-अणुसारेणं। 'कम्म-णिम्मूलणस्स पबलहेदू वीदरागवाणी'-इदं

वीतरागवाणी कर्म-निर्मूलन में कारण

हे हंसात्मन्! श्रुतज्ञान के माध्यम से कैवल्य की प्राप्ति होती है। बिना श्रुताभ्यास के हेय/उपादेय का विवेक जागृत नहीं होता और विवेक के अभाव में कोई भी क्रिया समीचीन नहीं हुआ करती है। विवेक-बुद्धि की जागृति भी श्रुतज्ञान से होती है। जिनवचन परम औषधि है। इसका सेवन जो प्राणी करता है, वह अवश्य ही संसार के भ्रमण से छूट जाता है। आत्म-हित हेतु प्रतिक्षण जिनवचन का मनन, स्मरण, श्रवण करते रहना चाहिए। वर्तमान काल में मन के वशीकरण का अमूल्य उपाय सद्शास्त्रों का स्वाध्याय ही है। दुर्लभता से प्राप्त होनेवाली भारती आज पुण्योदय के कारण प्राप्त है। वे जीव धन्य हैं, जिनके कर्ण जिनवचन को सुनते हैं, नेत्र अर्हत्बिम्ब को निहारते हैं, जिह्वा जिनभारती का उच्चारण करती है। वस्तुतः, ऐसे जीव नरोत्तम हैं। जो जिनवाणी को मानता है, वह अपने अनुसार जिनवाणी को नहीं कहता। वीतरागवाणी कर्म-निर्मूलन का प्रबल हेतु है-ऐसा भगवद् आचार्य श्री वीरसेन महाराज का सूत्र है। विनयपूर्वक

आइरिय-वीरसेणसामिणो सुत्तं। विणेयपुव्वं किदो सुदब्भासो पमादवसा विम्हरणे वि भवियस्स केवलणाणहेदू; णवरि भव-विच्छेदो भवियस्स एव, णो कदावि अभवियस्स भवणासो। जहा-कडुगतुमडी सगपयडिं णवि मुंचेदि, तहेव अभवियस्स अवत्था। उत्तम-आगमज्झयणे वि णो करेदि अभविय-मिच्छादिट्ठी सग-सहावच्चागं। जहा-मिस्सी-मिस्सिद-दुद्धं पि किण्हभुजंगं पज्जेदु, णं भुजंगो णिव्विसो णो होदि। सो दु सव्वदो विसं खु देदि। तम्हा जिणवयणं भवियाणं कल्लाणकारी, ण दु अभवियाणं।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

किया गया श्रुताभ्यास प्रमादवश विस्मृत भी क्यों न हो जाए, फिर भी वह भव्यजीव के लिए केवलज्ञान का हेतु है; क्योंकि संसार-विच्छेद भव्य-जीव का होता है, अभव्य का कभी भी संसार-नाश नहीं होता। जिस प्रकार कड़वी तुमड़ी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ पाती, वही अवस्था अभव्य-जीव की होती है। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता, चाहे कितने ही श्रेष्ठ आगम-ग्रंथों का अध्ययन कर ले; जैसे कि मिश्री-मिश्रित दुग्ध भी काले नाग को क्यों न पिलाया जाए, परंतु सर्प कभी निर्विष नहीं हो पाता। वह तो जब उगलेगा तब विष ही। इसलिए, जिनवचन भव्यों के लिए कल्याणकारी है, अभव्यों के लिए नहीं।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

परस्स अप्प-सुंदरिं

हंसप्पा! पियभोगा तुमं अणेगहुत्तं भुंजिदो, परमपियभोग्गं तुमं णो भुंजिदो। तं तणु-अंगी-सुंदरिं तुमं णो पस्सेसि। सा अबला किं तुमं णो पस्सेहिदि? अहवा परम-वल्लहा-लाहो तुज्झ भग्गे णत्थि। रे मूढ़! अज्जपज्जंतं तुमं रत्तपीव-मलमुत्तादि-णवमलछिद्द-परिपुण्ण-चम्ममय-दुग्गंध-थलजुत्त-णारीए पेम्मं किदो, तमेव पस्सीअ, तमेव भुंजीअ, तस्स मिदीसुं जीविदं णस्सीअ। जडसंजुद-भोगेसुं तुज्झ इयत्तो आणंदो, पुणो दिव्व-णियप्परमणी-लीणत्ते किं णो आणंदलाहो? एगहुत्तं कुणेहि कप्पणं। पुणो तस्स लद्धीए णिय-पुरिसत्थं जुंज। णियाणंदी-परमाणंद-सालिणी-चेयण्णमालिणी-आदसरणं लभ। किं कदा णीरसा वि होंति सरसा? किं

आत्म-सुंदरी को निहार

हे हंसात्मन्! प्रिय भोगों को तूने अनेक बार भोग लिया, पर परम-प्रिय भोग्या को तूने नहीं भोगा। उस तन्वंगी सुंदरी के प्रति तेरा दृष्टिपात ही नहीं हुआ। देख, वही अबला क्या तुझे नहीं देख सकेगी ? या यों कहूँ कि तेरा भाग्य नहीं हैं जो कि तू परम वल्लभा को प्राप्त कर सकता। रे मूढ़! आज तक तूने रक्त-पीव, मल-मूत्र आदि के नव मलछिद्रों से पूर्ण, चर्ममय, दुर्गंध स्थलों से युक्त नारी से प्यार किया है, उसे ही देखा, उसे ही भोगा, उसी की स्मृतियों में जीवन को नष्ट किया है। पर, देख! जड़ से युक्त भोगों में तेरा इतना आनंद है, तो फिर सुंदर निजात्म-रमणी में लिप्त होने में आनंद की प्राप्ति नहीं होगी क्या ? एक बार तो कल्पना करके देख। फिर उसकी प्राप्ति में निज पुरुषार्थ को लगा दे। स्वानंदी, परमानंद-शालिनी, चैतन्य-मालिनी, भगवान् आत्मा की शरण को प्राप्त कर। क्या कभी नीरस भी सरस हो सकते हैं ? क्या आकाश में पुष्प खिल सकते हैं ? क्या खरगोश के सींग निकल सकते हैं ? तू फिर कर्त्तापन के भावों से युक्त होकर

आगासे पुप्फाणि विसट्टेंति? किं होंति ससगस्स सिंगाणि? पुणो किं तुमं कत्तत्त-भावेहिं णिरहंकारत्तं णिव्विगारत्तं च पप्पेसि? किं णिव्विगारत्त-लाहं विणा होदि णियप्पोवलद्धि-सिद्धी? णाणघण-टंकुक्किण्ण-भगवदसरूवं इच्छेसि दु पुणो झाणं किच्चा सुरसुंदरीणं सुंदरत्तं णीरसकारइदं आदसुंदरिं पस्स।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

निरहंकार-निर्विकारता को प्राप्त कर करता है क्या ? निर्विकारता की प्राप्ति के बिना स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि हो सकती है क्या ? अर्थात् नहीं हो सकती। ज्ञानघन, टंकोत्कीर्ण भगवत्-स्वरूप को यदि चाहता ही है तो पुनः एक बार ध्यान करके सुरसुंदरियों की सुंदरता को फीका करनेवाली आत्म-सुंदरी को निहार।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

लिंगधारणस्स उवादेयत्तं

हंसप्पा! णियसरूवं पस्सेहि, किं तुज्झ सरूवं? तुमं किं करेसि? तुमं णो लज्जेसि, किंचणं तु लज्ज। तुमं अरुहरूवं धारिदूणं अरुहसरूवे किं णो गच्छेसि? लिंगेणं णो धम्मो, धम्मे लिंगं अवस्सं होदि। उत्तमलिंगं धारिदूणं उत्तमसाहणं णो करेदि, दु अत्थि लिंग-अवहेलणा। जो करेदि जिणलिंग-अवहेलणं, सो करेदि जिणदेव-अवहेलणं। जिणदेवस्स अविणयकारो सम्म-सद्दादो चुओ। सो मिच्छत्तरक्खगो। सगधम्म-अणुसारेणं गच्छमाणो उत्तमो जिणवेस-धारगो समणो अहवा जिणोवासगो सावगो। उत्तमलिंगं धारिदूणं पि जो करेदि णिगिट्ठकम्मं, सो अहोगामी-मादंगदो वि हीणो। जो अहिंसादि-उत्तमगुणा धारिदो, सो मादंगो वरो। जो धम्मचिण्हं धारिदूणं करेदि अधम्म-आचरणं, सो धम्मप्पा णिगिट्ठो।

लिंग धारण करने की उपादेयता

हे हंसात्मन्! अपने निज स्वरूप पर दृष्टिपात कर देख कि, तेरा स्वरूप क्या है ? तू कर क्या रहा है ? तुझे शर्म नहीं आती, कुछ तो लज्जा कर। अरे! तू अर्हत्-रूप धारणकर अर्हत्-स्वरूप पर क्यों नहीं जाता ? लिंग से धर्म नहीं होता, परंतु धर्म में लिंग अवश्य होता है ? श्रेष्ठ लिंग धारणकर श्रेष्ठ साधना नहीं कर सकता तो यह लिंग की अवहेलना है। जो जिनलिंग की अवहेलना करता है वह जिनदेव की ही अवहेलना कर रहा है। जिनदेव की अविनय करनेवाला सम्यक् शब्द से ही च्युत है। वह प्राणी मिथ्यात्व का ही रक्षक है। वह चाहे जिनवेषधारी श्रमण हो अथवा जिनोपासक श्रावक हो, स्वधर्म के अनुसार चलनेवाला ही श्रेष्ठ /महान् होता है। श्रेष्ठ लिंग को धारण करके भी जो निकृष्ट कर्म करता है, वह अधोगामी चाण्डाल से भी हीन है। वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपने जीवन में अहिंसा आदि श्रेष्ठ गुणों को धारण किया हो। वह धर्मात्मा निकृष्ट है जो धर्म के चिह्न

तस्स अण्णाणिस्स उहयलोगस्स विणासो हवेदि। सो वट्टमाणे णो करेदि सुहसंतिभोगं एवं भविस्से वि सुहं णो लहिस्सदि। चारित्त-विराहगो कदावि णो लहेदि सुहसंतिजसं च। पडिकूलसमए आदधम्मणिंदा-सरिसं धिणिदकज्जं पि करेदि। भो चेयण्ण! अणुहवपुव्वं णियप्पाणुहवत्थं लिंगं धार, लिंगधारणत्थं मा धार जिणलिंगं।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

को धारणकर अधर्म रूप आचरण कर रहा है। उस अज्ञानी के उभय लोक के सुखों का विनाश हो जाता है। वह वर्तमान में सुख-शांति का भोग नहीं कर पा रहा है तथा आगामी भव में भी सुख मिलेगा ही नहीं, क्योंकि चारित्र की विराधना करनेवाला कभी भी सुख, शांति, यश को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रतिकूल समय आने पर आत्म-निंदा तथा धर्म की निंदा का घृणित कार्य भी कर बैठता है। भो चैतन्य! अनुभवपूर्वक स्वात्मानुभव के लिए लिंग धारण कर, लिंगों को धारण करने के लिए जिनलिंग को धारण नहीं करना।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

संजोगे वियोगो

हंसप्पा! संसारे दुक्खस्स मूलसोदं संजोगो। जत्थ असंती तत्थ किलेसो दुक्खं च। जावदिया जीवा अज्जपज्जंतं दुही होंति, होसी वा होस्सेंति, ते सव्वे संजोगफलं भुजेंति। सो संजोगो होदु देहस्स, कम्मस्स, मादु-पिदु-पहुदि-संबंधीणं च। संजोगं तु पडिवज्ज, णं संजोगं अविणाभाव-संबंधो मा पडिवज्ज। संजोगं णिओगो हु मण्ण। जेसिं जेसिं तए सह संजोगो, सो एगो णिओगो। अस्स विओगो वि णियमेणं। जो मण्णेदि संजोगं णियभावो, सो अणुगज्जेदि आकंदेदि वा। जो संजोगं णिओगमेत्तं मण्णेदि, सो कदावि णो करेदि दुक्खवेदणं। सो जाणेदि, जस्स संजोगो खलु तस्स विओगो एवं जस्स विओगो णत्थि तस्स कदावि संजोगो णत्थि। सो दु सहावो एवं कहं सहावस्स अभावो? तमेव तुमं अभिगच्छ।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

संयोग में वियोग

हे हंसात्मन्! संसार में दुःख का मूल-स्रोत संयोग है। जहाँ अशांति है, वहाँ क्लेश है, दुःख है। जितने जीव आज तक दुःखी हुए हैं, हो रहे हैं, होंगे, वे सब संयोग का फल भोग रहे हैं। चाहे वह शरीर का संयोग हो, चाहे माता-पिता आदि संबंधियों का, चाहे कर्म का। भो ज्ञानी! संयोग को तो स्वीकार कर, परंतु संयोग को अविनाभाव-संबंध स्वीकार मत कर लेना। संयोग को तू एक नियोग ही मानना। जिन-जिन का तेरे साथ संयोग हो रहा है, वह सब एक नियोग है, इसका वियोग नियम से होगा। जो संयोग को निज-भाव मानता है, वह चीखता है, चिल्लाता है, पर जो संयोग को मात्र नियोग मानता है, वह कभी भी दुःख का वेदन नहीं कर पाता। उसको मालूम होता है जिसका संयोग होता है, उसका वियोग नियम से होगा ही और जिसका वियोग नहीं होता, उसका कभी संयोग नहीं होता। वह तो हमारा स्वभाव होता है, स्वभाव का अभाव कैसा ? उसे ही तू प्राप्त कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सग-सहावं लभ

हंसप्पा! तुमं अणुवमं दव्वं। कदावि णो तुव विणासो। तुमं अकंप-अचल-अविणासी-चिदरूव-चेयण्णसहावी। जदा तुव विणासो णत्थि, दु कत्तो भयं। जस्स विणासो, सो जडो। कदावि जडो णो लहेदि चेयण्णधम्मं। जडस्स चेयण्णस्स वा किं संबंधो? देह-विओगं णिय-चेयण्ण-विओगो णो मण्णेहि। अण्णाणी मण्णेदि देहुप्पत्तिं जीवुप्पत्ती एवं देह-विओगं आदविओगो। अयं दोसो अणादिणा। भो णाणी! पुव्व-दोसं पुणो मा सुमर। जदि आदसुहं इच्छेसि दु पस्स परम-पारिणामिग-भावेणं तुमं सुद्ध-चिम्मायी-चेयण्ण- पुण्णणिरोगी वा। जदा तुव अप्पम्हि णो रोगो, पुणो कस्स वहा? तदो पडिवज्ज णिय-णिरोग-सहाव-आणंदं।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

निज स्वभाव को प्राप्त कर

हे हंसात्मन्! तु एक अनुपम द्रव्य है। तेरा कभी विनाश नहीं होता। तू अकम्प, अचल, अविनाशी, चिद्रूप, चैतन्य-स्वभावी है। जब तेरा विनाश ही नहीं, तो फिर भय किस बात का ? अरे भाई! जिसका विनाश है, वह जड़ है। जड़ कभी चैतन्य-धर्म को प्राप्त नहीं करता। जड़ और चैतन्य का क्या संबंध ? शरीर के वियोग को तू अपने चैतन्य का वियोग नहीं मान लेना। अज्ञानी-जीव शरीर की उत्पत्ति को जीव की उत्पत्ति और शरीर के वियोग की आत्मा का वियोग मान लेता है। अनादि से यही तो भूल रही है। भो ज्ञानी! पूर्व-भूल को पुनः मत स्मरण कर बैठना। यदि आत्म-सुख चाहता है तो परम-पारिणामिक-भाव से देख, तू शुद्ध, चिन्मयी, चैतन्य, पूर्ण निरोगी है। जब तेरी आत्मा में रोग ही नहीं है, तो फिर व्यथा किसकी ? इसलिए तू अपने स्वस्थ स्वभाव का आनंद प्राप्त कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

विदेहं तुज्झ सरूवं

हंसप्पा! इदं जडदेहं दट्ठूणं मूढो भमे जीवेदि, जहा देहं खु देही। कदा भवणं पि होदि णियसरूवं? इदं देहं देहिणो संसारावत्थाए मेत्तं आधारो। देहं खु आधारो, तमेव आधेयो वि। आगासमिव सप्पदिट्ठिदं। पस्स वा सगविवेगेणं कुण कज्जं। देहेणं णिम्मल-णाणाणंदसहावी-देही-वंचणं मा कुण। बाल-बुड्ढ-जुवा-अवत्थाओ देहस्स, ण दु चेयण्णस्स। देहस्स विचित्त-अवत्थं दट्ठूणं मा कुण हरिसविसादं च। विदेहं तुज्झ सरूवं। देहणिवसणं णो आदधम्मो। णो बालो हं, णो वुड्ढो हं। एदाओ अवत्थाओ पोग्गलस्स। जोवणे वहिदूणं णियजीविदं मा विणस्स। जुवा-अवत्था वि णसेहिदि, सिसुव्व। अखंड-धोव्वं तुव आदा, तमेव कुण णियज्झेयं।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

विदेह ही है तेरा स्वरूप

हे हंसात्मन्! इस जड़-तन को देख करके भोला प्राणी भ्रम में जी रहा है, जैसे कि देह ही देही है। अरे ज्ञानी! भवन भी कहीं निज-स्वरूप हुआ है ? यह देह तो देही के लिए संसार अवस्था में आधार मात्र है। शरीर ही आधार है, वही आधेय भी है। आकाशवत् स्वप्रतिष्ठित। देख और स्वविवेक से कार्य कर। देह के पीछे निर्मल ज्ञानानंदस्वभावी देही की वंचना तो मत कर। बाल, वृद्ध, युवा ये अवस्थाएँ इस तन की हैं, चैतन्य की नहीं। शरीर की विभिन्न दशा को देखकर हर्ष-विषाद मत कर। विदेह ही तेरा स्वरूप है। देह में रहना आत्मधर्म नहीं है। मैं न बाल हूँ, न वृद्ध हूँ। ये सब अवस्थाएँ पुद्गल की हैं। जवानी में बहकर अपने जीवन को नष्ट न कर बैठना। युवा अवस्था भी नष्ट होगी, शिशुवत्। एकमात्र अखण्ड ध्रौव्य तो तेरी आत्मा है, उसे ही निज ध्येय में रखना।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भत्तीदो मुत्ती

हंसप्पा! आददेवत्तो भिण्णत्तं इच्छेसि, दु कुण पंचपरम-गुरुणो भत्तिं। तस्स आराहणं करंतो होहिदि विसुद्धि-वड्ढी। सुह-भावाणं थिरवित्तीए होदि सुद्धदसालाहो। भावाणं विणा णिम्मलत्तं णो होदि सुहोवओगो, पुणो कहं संभवो सुद्धोवओगो? तदो णाणी परिणामणिम्मलत्थं, विसयकसाय-रक्खणत्थं, विसिट्ठपुण्णलाहत्थं, असुहकम्मक्खयत्थं च करेदि परमेट्ठिणो णिम्मल-णिदाणविहूण-भत्तिं एवं पडिक्खणं भावेदि वीदराग-अप्पाणुभूदि-भावणं। अप्पाणुभूदि-भावणं विणा सुहकिरियाओ बहिरप्प-जीवस्स अवत्था। अंतरप्पा णिय-णिय-गुणट्ठाण-कमेणं सुहोवओगेणं सह सुद्धोवओग-अणुहवणं करेदि भावेदि भावणं च। इमा भावणा परंपराए सुद्धदसालाहं कारेदि।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

भक्ति से मुक्ति

हे हंसात्मन्! तू आत्मदेव से भिन्नता चाहता है, तो पंच-परम-गुरु की भक्ति कर। पंच-परम-गुरु की आराधना करते-करते विशुद्धि की वृद्धि होगी। शुभ भावों की स्थिर-वृत्ति ही शुद्ध-दशा को प्राप्त कराती है। भावों की निर्मलता के बिना शुभोपयोग नहीं बनता, फिर शुद्धोपयोग कैसे संभव है ? इसलिए, ज्ञानी-जीव परिणामों की निर्मलता हेतु, विषय-कषाय से बचने के लिए, विशिष्ट पुण्य-प्राप्ति एवं अशुभ कर्म-क्षयार्थ अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु, इन पंच-परमेष्ठी की निर्मल, निदान-रहित भक्ति करता है तथा प्रतिक्षण वीतराग आत्मानुभूति की भावना भाता है। बिना आत्मानुभूति की भावना के शुभ-क्रियाएँ बहिरात्म-जीव की अवस्था है। अंतरात्मा निज-निज गुणस्थान के क्रम से शुभोपयोग के साथ शुद्धोपयोग का अनुभव करता है तथा भावना भाता है, यही भावना परंपरा से शुद्ध दशा की प्राप्ति करायेगी।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सारो आदधम्मो

हंसप्पा! किं अज्जपज्जंतं णिहिल-अणुहवसारं तुमं लभीअ। चरमणिण्णयं अज्जपज्जंतं णो जाणीअ। किंचणं विचिंत, किं सयलजीविदं परभावेसुं विणासिहिसि? णियसहावं पस्सेहिसि वा णत्थि? अहुणा जग्ग। विसयरागो जीवं करेदि विसयी। विसयं पडि अणासत्त-भावो णो करेदि जीवस्स साहीणभावघादं।

भोगाहिलासा अंतरंगे पवेसेदि, दु पुणो पुणो विणडेदि। सा करेदि सुहाभावं, पडिक्खणं सा साणुहवणादो विओजेदि। तहेव तिव्वतं आदाणुहवणस्स होदव्वं। खलु आदधम्मो संसारे सारभूदं पदत्थं। रे मूढ! तुव धिगत्थु। तुव मणमोहण-अरुहसरूव-णिग्गंथमुद्दा-लद्धी हुज्जा, तं जुंज साणुहवे। माण-सम्माणादो पुहं साणुहवणं हि तुव धम्मो।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

आत्मधर्म ही सार है

हे हंसात्मन्! संपूर्ण अनुभव का सार क्या तूने आज तक प्राप्त किया है ? अंतिम निर्णय को तूने आज तक नहीं जाना। अरे भाई! कुछ तो विचार कर, क्या सारा जीवन तू परभावों में ही निकाल देगा ? निज स्वभाव पर दृष्टि डालेगा या नहीं ? अब तो चेत। विषयों का राग ही जीव को विषयी बनाता है। विषयों के प्रति अनासक्त-भाव जीव की स्वतंत्रता का घात नहीं कर सकता।

भोगाभिलाषा जब अंतरंग में प्रवेश कर जाती है, तो बार-बार उद्वेलित करती है। वह सुख से जीने भी नहीं देती, एक-एक क्षण वह स्वानुभवन से दूर भगाती है। वैसी ही तीव्रता आत्मानुभवन की होनी चाहिए। आत्म-धर्म को छोड़कर संसार में कुछ भी सारभूत पदार्थ नहीं है। रे मूढ़! तेरे लिए धिक्कार है। तुझे मनमोहन अर्हत्-स्वरूप निर्ग्रंथ मुद्रा की प्राप्ति हुई है, उसे स्वानुभव में लगा। मान, सम्मान से परे स्वानुभवन ही तेरा धर्म है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

पर-पदत्थ-संजोगो मोहहेदू

हंसप्पा! तुव सरूवं परपदत्थादो भिण्णं। अच्चंत-भिण्णत्तणे वि रागस्स पबलसत्तीए जीवो परं परो जाणंतो वि तादो पुहुत्तं णो इच्छेदि। सग-अहिदं णो जाणेदि। संजोगो मोहहेदू। मोहो णंतभवभमणहेदू; किं इदं णो वियाणेदि? किमत्थं मोहो जग्गेदि? किमत्थं अत्तं कसायो संतावेदि? किमत्थं भगवद-सरूवं णवि उत्तिट्ठेदि? बहि-दव्वेसुं इयत्तो आणंदो, पुण किं होहिदि णियदव्वाणंदो? सो साणुहवविसयो, ण दु वक्खाणस्स।

भो णाणो! अणादिणा परदव्वसंजोगो इयत्तो विसेसो, सो णिय-सक्कारं दिढं किदो। अणादिणो कुसक्कारा विणासत्थं पबल-उज्जमो आवस्सगो। कुण सम्मं उज्जमं, तुव पहू तुमे भजेहिदि।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

पर-पदार्थों का संयोग ही मोह का कारण

हे हंसात्मन्! तेरा स्वरूप पर-पदार्थों से भिन्न है। अत्यंत पृथक्-पृथक् होने पर भी राग की प्रबल शक्ति का परिणाम है कि जीव पर को 'पर' जानते हुए भी उनसे दूर नहीं होना चाहता। अपने अहित को नहीं समझ रहा है। संयोग ही मोह का कारण है। मोह अनंत संसार-भ्रमण का कारण है, क्या यह समझ में नहीं आता ? मोह क्यों जागृत होता है ? कषाय क्यों आत्मा को दुःखित कर रही है ? भगवत्-स्वरूप को जागृत क्यों नहीं होने देती ? जब बाह्य द्रव्यों में इतना आनंद है, फिर निज-द्रव्य का आनंद क्या होगा ? वह तो स्वानुभाव का ही विषय है, व्याख्यान का नहीं।

भो ज्ञानी! अनादिकालीन पर-द्रव्यों का संयोग इतना विशेष हो गया कि उसने अपने संस्कार दृढ़ कर लिए। अनादि के कुसंस्कारों को नष्ट करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। सम्यक् पुरुषार्थ कर, तेरा प्रभु तुझे प्राप्त हो जाएगा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अप्पं दहेदि भोगज्जाला

हंसप्पा! जीवो अणादिकालेणं बहिरप्पभाव-लीणत्तेणं णियप्पधम्मं णो लक्खेदि। तम्हा किदो पुणो-पुणो बालमरणं। पंडिदमरणं एगवारं पि णो किदो। एगवारं पि होदि पंडिदमरणं दु होदि पंडिद-पंडिद-मरणमग्गो पसत्थो। मुंच बहिरप्पभावं, अंतरप्पा होदूणं हुव परमप्पा। पहर-भोगज्जलाए सयल-आदगुणा णस्सेंति एवं पिय-भगवं-अप्पा भवे भवे हिंडेदि। किं तुमे परमपिय-मणोहर-आदसहिं पडि णो करुणा? किं तुमे किंचिवि णाणं णत्थि? अहुणा जग्ग, कुण अप्पम्हि करुणं। भवे भवे अहुणा मा हिंड। णियदेव-दंसणत्थं णियदोसं समार।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

भोगों की ज्वाला स्व को जला रही है

हे हंसात्मन्! इस जीव ने अनादिकाल से बहिरात्म-भाव में लीन होकर अपने निज-आत्मधर्म को नहीं पहचाना। यही कारण रहा कि बार-बार बाल-मरण किया। एक बार भी पंडित-मरण नहीं किया। यदि एक बार भी पंडित-मरण हो जाता तो पंडित-पंडित-मरण का मार्ग प्रशस्त हो जाता। बहिरात्म-भाव को छोड़, अंतरात्मा बनकर परमात्मा बन जा। भोगों की ज्वाला इतनी प्रखर है कि जिसमें सभी आत्मगुण नष्ट हो जाते हैं, प्यारी भगवान् आत्मा भव-भव में भटकती है। क्या तुझे इस परम-प्रिय मनोहर आत्मसखी के प्रति करुणा नहीं आती ? क्या तुझे बिल्कुल भान नहीं है ? अरे! अब तो चेत, अब तो निज पर करुणा कर। भव-भव में अब नहीं भटकना। स्वदेव के दर्शन करना है तो अपनी भूल सुधार ले।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

कुण चित्तं पवित्तं

हंसप्पा! देहदेहीरागो भवभमण-कारणं। जावं णो देहत्तो राग-णूणत्तं, तावं देही-दंसणं असंभवं। विदेही-लाहे संलग्ग। देहासिदवेस-गहणेणं कदावि णो होदि मोक्खो। मोक्खलद्धीए वेसेणं सह चित्त-पवित्तिकरणं आवस्सगं। हिदय-परियट्टणं परमावस्सगं। जीवेणं लिंगं तु णंतहुत्तं गेण्हिदो, सो तमेव मोक्खमग्गो गेण्हेदि। सो णो मुणेदि रदणत्तयं। मोत्तूणं चेयण्णभवणं इट्ठिगा-सुहा-पाहाण-भवणेसुं लित्तिदो। जिणत्त-लाहत्थं गेण्हिज्जदे जिणलिंगं। जो जिणलिंगं धरिदूणं बहि-माण-सम्माणे लीयदे, सो करेदि जिणलिंग-अवहेलणं। भज जिणत्तं कुण आदहिदं च।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

अंतःकरण पवित्र कर

हे हंसात्मन्! भव-भ्रमण का कारण है देह और देही से राग। जब तक देह से राग की न्यूनता नहीं होगी, तब तक देही के दर्शन संभव नहीं है। विदेही की प्राप्ति में लग जाओ। देहाश्रित वेष धारण करने मात्र से कभी मोक्ष नहीं होता। मोक्ष की प्राप्ति के लिए वेष के साथ अंतःकरण को पवित्र करने की आवश्यकता है। हृदय को बदलना परमावश्यक है। लिंग तो इस जीव ने अनंत बार स्वीकार किए हैं, वह उसे ही मोक्षमार्ग स्वीकार कर बैठा है। उसने रत्नत्रधर्म को पहचाना ही नहीं है। चैतन्य-भवन को छोड़कर ईंट-चूने, पाषाण के भवनों में चला गया। जिनलिंग तो जिनत्व की प्राप्ति के लिए स्वीकार किया जाता है। जो जिनलिंग धारण कर बाह्य मान-सम्मान में लीन हो गया है, वह जिनलिंग की अवहेलना कर रहा है। जिनत्व को भज और अपना कल्याण कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

धार सामण्णं

हंसप्पा! अण्णं दोसी मा भासेहि। सुहासुह-दव्वसंजोगो जीवस्स सुहासुह-किदकम्मेहिं हुवेदि। परं णिंदिय अहिणव-कम्मबंधं मा कुणेहि। अप्पा! पुण्णोदए रिवु-गहे वि सम्माणो, पावोदए सग-गहे वि सग-बंधूहिं अवमाणो होदि। सुहदुक्ख-लाहालाहा पुण्णापुण्ण-परिणदीओ। णाणी इमेसुं णो करेदि हरिस-विसादं च, उत्तरोत्तर-धम्मे णियं जुंजिदूणं सुहकम्मं करेदि, जेणं होदु असादाणासो सादालाहो वा। विचिंत, पुव्वकिद-कम्माणि पीडेंति महापुरिसा वि। तित्थयर पुरुदेव-सिरिपाल-सीया-पहुदिं वि कम्माणि पीडेंति। भो णाणी! तम्हा समदाए विसमदाओ पस्स, कह वि विसादं मा कुण। रिवू साहवो वि पीडेंति, अस्स सक्खी इदिहासो। केवलं सामण्णं तुव बलं।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

समता को धारण कर

हे हंसात्मन्! तू पर को दोषी मत कहना। जितने शुभाशुभ द्रव्यों का संयोग होता है, वह सब जीव के शुभाशुभ कृतकर्मों से प्राप्त होता है। पर को दोष लगाकर नवीन कर्मों को बंध नहीं कर। हे आत्मन्! पुण्योदय में शत्रु के गृह में भी सम्मान होता है, पापोदय के समय स्व-गृह में स्व-बंधुओं के द्वारा भी अपमान होता है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ ये सब पुण्य-पाप की परिणतियाँ हैं। ज्ञानी इनमें हर्ष-विषाद नहीं करता, उत्तरोत्तर धर्म में अपने आपको लगाकर शुभ कर्म करता है, जिससे असाता का नाश हो, साता की प्राप्ति हो। विचार कर, पूर्वकृत कर्म महापुरुषों को भी सताते हैं। तीर्थंकर आदिनाथ, श्रीपाल, सीता आदि को भी कर्मों में नहीं छोड़ा। इसलिए, भो ज्ञानी! तू समता से विषमताओं को देख, किसी प्रकार का विषाद मन में नहीं लाना। शत्रु तो साधुओं को भी नहीं छोड़ते, इस बात के लिए इतिहास साक्षी है। एकमात्र समता ही तेरा बल है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

तणु-विसयगा समग्ग-ववहारा

हंसप्पा! लोए णो अवराणि कारणविसेसाणि दुक्खस्स। देहं जेट्ठअम-कारणं। अप्पा करेदि णिस्सेस-पावाणि देहेणं अहवा मण-इंदिएहिं होदि पावं। मण-इंदियाणि देहत्तो पुहं णो संति। जदि पुव्वोदएणं जीवो दुहिदो, इदं असंगदं। णवरि पुव्वकिद-पावबंधं जीवो किदो, सो वि देहेणं। जस-अवजस-आदर-अणादर-माण-सम्माणा य देहासिदा। देहं णो तुव सहावो, तं तु जडं। जड-सम्माणं सग-सम्माण-गहणं, देह-अवमाणं सग-अवमाण-गहणं च पण्णाविहूणाणं कज्जं। जेसिं बुद्धीए अहंकार-ममकार-कीडा पवेसेंति, ते देहविगारा आदविगारे मण्णेंति। भो णाणी! तुमं णिस्सेस-दुक्खविरहिदो चेयण्ण-अप्पा।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

सब व्यवहार तन-संबंधी हैं

हे हंसात्मन्! जगत् में अन्य कोई कारण-विशेष दुःख के नहीं हैं। सबसे प्रबल कारण शरीर है, क्योंकि संपूर्ण पाप शरीर के द्वारा ही आत्मा करती है अथवा यों कहें कि मन और इंद्रियों से पाप होता है, परंतु मन और इंद्रियाँ शरीर से पृथक् तो नहीं हैं। यदि ऐसा कहें कि पूर्व पापोदय से जीव को दुःख होता है, तो यह भी बात नहीं जमती। कारण, पूर्व में जो पाप का बंध जीव ने किया था, वह भी शरीर से ही किया था। यश-अपयश, आदर-अनादर, मान-सम्मान ये सभी शरीराश्रित हैं। शरीर तेरा स्वभाव नहीं है, वह तो जड़ है। जड़ के सम्मान को स्व-सम्मान मानना, शरीर के अपमान को स्व का अपमान मानना प्रज्ञाविहीनों का कार्य है। जिनकी बुद्धि में अहंकार/ममकार के कीड़ा लग गए हैं, वे देह के विकारों को आत्मविकार मानते हैं। भो ज्ञानी! तू तो संपूर्ण दुःखों के रहित-चैतन्य आत्मा है।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

परमेसरो वि ण परियट्टदि असम्मं धारणं

हंसप्पा! जस्स धारणा विवरीदा किंदु पुण्णं संगे होदु, पुणो तस्स दुराचारो असीमो। जदा जदा अणत्थाणि हुज्जा, तदा तदा हुज्जा जीवस्स विवरीदभावा हेदू। भो अप्पा! सम्मं विमरिसेहि, सम्मं विचिंतेहि। विवरीद-धारणाए पत्तेगचिंतणं होदि विवरीदं, उत्तमेसुं जीवेसुं पि दोसो दीसेदि। सुचिंतणं करेदि जीवं वरेण्णं। विवरीदधारणावंतं परमेसरो वि णो जाणावेदि। जदि कोवि तुज्झ विसए करेदि विवरीदचिंतणं, पुण तुमं कदावि मा कुण अट्टज्झाणं, कुण कम्मविवाग-सुचिंतणं। कुण सग-असुहकम्मचिंतणं एवं विचिंत णिंदगस्स वि असुहकम्मोदयो, जेणं सो विद्दोसं दूसिदूणं करेदि अहिणव-कम्मबंधं। पहूदो पत्थेहि, भगवं! णिहिलजीवपरिणामा णिम्मला होदु तहा असुहकम्मबंधादो रक्खणं च होदु।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

गलत धारणा को परमेश्वर भी नहीं बदल सकता

हे हंसात्मन्! जिस जीव की धारणा विपरीत हो गई हो परंतु पुण्य साथ में हो, उसके दुराचार की कोई सीमा नहीं होती। जब-जब अनर्थ हुए हैं, तब-तब जीव के विपरीत भाव ही हेतु बने हैं। भो आत्मन्! सम्यक् सोच, सम्यक् विचार कर। विपरीत धारणा में प्रत्येक चिंतवन विपरीत बनता है, अच्छे लोगों के अंदर भी दोष दिखता है। सद्सोच व्यक्ति को महान् बनाता है। गलत धारणा वाले को परमेश्वर भी नहीं समझा सकते। यदि कोई तेरे बारे में विपरीत विचार करे तो तू कभी आर्त-ध्यान में नहीं बैठना, वरन् कर्म-विपाक का ही विचार करना। स्वयं के अशुभ कर्मों का चिंतवन करना तथा यह भी सोचना कि सामने वाले का निंदक का भी अशुभ कर्म है जो कि निर्दोष को दोष लगाकर नवीन-नवीन कर्मों का बंध कर रहा है। प्रभु से प्रार्थना करें कि, हे भगवान्! सभी के परिणाम निर्मल रहें तथा अशुभ-कर्म-बंध से बचते रहें।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

परमट्ठसुण्ण-वदादीणि पुण्णहेदूणि, ण दु कम्मणिज्जराए

हंसप्पा! आदणाणं विणा भवसायरत्तो णवि तारेदि। सत्थणाणेणं बहिरप्पा विउल-बहिणाणं लहेदि, अवरं महुरवाणीए दिव्व-उवएसं पि करेदि, पुणो वि सगसहावं णो पस्सेदि। बहु-दुग्गमसाहणं, देहं पुण्णकिसं, आदिच्च-सम्मुहे झाणं चावि करेदि। जदा भजेदु अब्भिंतर-परिणदिणिम्मलत्तं, वीदरागभावलाहस्स लक्खं च होदु; तदेव णिस्सेस-बहिसाहणा सत्थगा। परमट्ठसुण्ण-तव-संजम-सील-वदाणि मेत्त-पुण्णबंधकारणाणि, कम्मणिज्जरं णो करेदि। तम्हा, अप्पा! आदसाहणाए रामेहि। मुणिचरियाए ववहाररूवपालणं जीवेणं मिच्छत्ते वि णंतहुत्तं किदो, तेणं णो होदि संसिद्धि-पुरिसत्थ-सिद्धी। खलु सम्मसाहणाए सिद्धत्तलद्धी।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

परमार्थ-शून्य व्रतादि पुण्य-बंध के कारण हैं, कर्म निर्जरा के नहीं

हे हंसात्मन्! आत्मज्ञान के बिना संसार-सागर से पार नहीं हुआ जा सकता। बहिरात्मा बाह्य-ज्ञान तो बहुत प्राप्त कर लेता है शास्त्रज्ञान के माध्यम से, पर-को मधुर वाणी से सुंदर उपदेश भी करता है, लेकिन स्व-स्वभाव पर दृष्टि नहीं देता। कठोर-से-कठोर साधना करता है, शरीर को पूर्ण कृश कर लेता है, सूर्य के सन्मुख खड़े होकर ध्यान भी करता है, लेकिन संपूर्ण बाह्य साधना तभी सार्थक है, जब अंतरंग परिणति की निर्मलता मिलती हो, वीतराग भाव की प्राप्ति का लक्ष्य हो। परमार्थ-शून्य तप, व्रत-शील, संयम मात्र पुण्यबंध के कारण हैं; कर्म-निर्जरा नहीं करा पाएँगे। इसलिए, हे आत्मन्! तू आत्म-साधना में रत हो जा। मुनिचर्या का व्यवहार-रूप पालन तो मिथ्यात्व अवस्था में इस जीव ने अनेक बार किया, पर उससे मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकी। सम्यक् साधना से ही सिद्धत्व की प्राप्ति होगी।।

मण-णिम्मलत्त-सरलत्तं च मुणित्तं

हंसप्पा! सामण्ण-जणा भूदत्थे णो गच्छेंति, किंदु अभूदत्थं णो गेज्झेंति। अहो किं अच्छेरं! असंजदो असंजमे पवट्टेदु दु किंचणं णत्थि, संजदो जदि असंजमे पवट्टेदु तो सोचेव असंजदो संजमिं णो अहिरुएदि। अब्भिंतरे पत्तेगजीवो भूदत्थं हि पस्सेज्जा, भूदत्थं हि जाणेज्जा। भो अप्पा! चित्तस्स णिम्मलत्तं सहिण्हुत्तं च साहुवेसे पुण्णदो अवस्सगं।

उच्चपदगहणे असामण्णं णो कादव्वं। एग-चागिणो अवर-चागिणा सह एगत्तं णत्थि, पुणो सामण्ण-जणा एरिसं हि भासिस्संति। सुगम-सहावी हुव, साहुणो एवमेव विसेसणं, एवमेव तस्स समणत्तं।।

।।णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

मन की निर्मलता एवं सरलता ही साधुता है

हे हंसात्मन्! सामान्य-जन सत्य पर चल तो नहीं पाते, पर असत्य को स्वीकार भी नहीं कर पाते। ओह! क्या बात है ? एक असंयमी असंयम में प्रवृत्ति करे तो कुछ नहीं, पर संयमी यदि असंयम-रूप वर्तन करे तो वही असंयमी संयम-वेषधारी को फूटी आँख से नहीं देखना चाहता। इसका तात्पर्य है कि अंतरंग में प्रत्येक प्राणी सत्य को ही देखना चाहता है, सत्य को ही समझना चाहता है। भो आत्मन्! मन की निर्मलता तथा सहनशीलता का होना साधुवेष में पूर्णतः अनिवार्य है।

उच्च-पद ग्रहण करने पर असाम्यता नहीं करना चाहिए। एक त्यागी की दूसरे त्यागी से एकता नहीं, तो सामान्य-जन ऐसा कहेंगे ही। सरल-स्वभावी बनो, साधु का यही विशेषण है, यही उसकी साधुता है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जिणमुद्दं दट्ठूणं वच्छल्लं फुड्डेदु

हंसप्पा! णेत्तं मुहस्स आभरणं। जहा णेत्तविहीणो सोहाहीणो तहेव सद्धाविहूण-णाणचारित्ताणि वि सोहाहीणाणि। सग-अट्ठा होदव्वा। सद्धाणं विणा लोगिग-जीविदं पि जीविज्जदि, पुणरवि परमट्ठजीविदं अदि-दुल्लहं। सयल-मोक्खमग्गो सद्दंसणे आधारिदो। जहा अट्ठा खुहादुरं भोयणं पडि, तिण्हावंतं सलिलं पडि, लोहिं धणं पडि य होदि, तहेव अट्ठा णिस्सत्थ-भावणा-संजुदं सद्दिट्ठिं पंचपरमेट्ठिं पडि होदव्वं। अण्णाणिणो जिणमुद्दं दट्ठूणं गिलाणि-भावजुत्ता हवेंति। तेसिं इमा असुहभावणा तिव्व-असुह-कम्मोदयो एव। पहुत्तो पत्थेमु पहु! ता हुज्जा सुबोह-लद्धी, जेणं जिणमुद्दं पडि वच्छल्लं फुड्डेदु।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

जिन-मुद्रा को देखकर वात्सल्य-भाव प्रकट हो

हे हंसात्मन्! नैत्र मुख का आभूषण है। नेत्र-विहीन मुख जिस प्रकार शोभाहीन हुआ करता है, उसी प्रकार श्रद्धाविहीन ज्ञान एवं चारित्र भी शोभाहीन हुआ करते हैं। स्व की आस्था का होना अनिवार्य है। बिना श्रद्धान के लौकिक जीवन भी नहीं जिया जा सकता, फिर परमार्थ जीवन जीना तो अति दुर्लभ है। संपूर्ण मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन पर आधारित है। जैसी आस्था एक क्षुधातुर को भोजन के प्रति, तृषावान् को नीर के प्रति, लोभी को धन के प्रति होती है, वैसी ही आस्था निस्वार्थ भावना से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव को पंच-परमेष्ठी भगवान् के प्रति होनी चाहिए। अज्ञानी-जीव जिनमुद्रा को देखकर ग्लानि-भाव से भर जाते हैं। उनकी यह अशुभ-भावना तीव्र अशुभ कर्मोदय ही है। भगवान् से प्रार्थना है कि, हे प्रभु! उन्हें सद्बोध की प्राप्ति हो, ताकि जिनमुद्रा के प्रति वात्सल्य-भाव प्रगट हो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सामाइग-साहणादो समयसारलाहो

हंसप्पा! जस्स णिम्मला सामाइगधम्मसाहणा, सो हु लहेदि समयसारं। जस्स समीवं णो सामाइगं, तस्स समीवं णो समयसारो। आगमे समयसारो दुविहो, कारणसमयसारो कज्जसमयसारो य। पढमो होदि कारणसमयसारो। सामाइगं सिक्खावदं। एगारस-पडिमासुं तिदीय-पडिमा सामाइगं। जावं परदव्वं पडि रागद्दोसा वा चित्ते अहंकार-ममकार-परिणदी, तावं सामाइगकिरिया असंभवा। भो णाणी! कम्मसमूहत्तो णियरक्खणं इच्छेसि दु कुणेहि सामाइगधम्मस्स णिद्दोसपालणं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

सामायिक की साधना से समयसार की प्राप्ति

हे हंसात्मन्! सामायिक-धर्म की साधना जिसकी निर्मल है, वह जीव नियम से समयसार को प्राप्त कर लेता है। जिसके पास सामायिक नहीं, उसके पास समयसार नहीं। आगम में समयसार के दो भेद किए हैं : कारण-समयसार और कार्य-समयसार। सर्वप्रथम कारण-समयसार होता है। सामायिक एक शिक्षाव्रत है। ग्यारह प्रतिमओं में सामायिक तीसरी प्रतिमा है। पाँच प्रकार के चारित्र में सामायिक प्रथम चारित्र है। साम्यभाव का होना, रागद्वेष का अभाव, ईर्ष्या व मात्सर्य का अभाव सामायिक है। जब तक पर-द्रव्यों के प्रति रागद्वेष चल रहा है, अहंकार-ममकार परिणति अंतरंग में पल रही है, तब तक सामायिक की क्रियाएँ संभव नहीं हैं। भो ज्ञानी! सामायिक-धर्म का निर्दोष पालन कर, यदि तू कर्म-समूह से अपनी रक्षा चाहता है तो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

चित्तसुद्धीए चिदाणंदलद्धी

हंसप्पा! किं तुमं अप्पसहावलाहं णो इच्छेसि? कहं तुज्झ सहावो? टंकुक्किण्ण-जाणगो चेयण्णरूवो वा। तस्स लद्धी चंचलचित्तेणं णो होदि। जस्स चित्तं चंचलं, सो सूइगाए सुत्तं णो पोअदि पुणो णिए णियं कहं पस्सेदि? साणुहवत्थं पढमा मणथिरवित्ती आवस्सगा। जहा थिरसलिले णिवडिदं रदणं चक्खुणा दिस्सदे, तहेव थिरमणेणं आदसरूवं जाणदे। जोगिणो पढम-साहण, मणवसीकरणस्स होज्जा। जदि मणो वसम्हि दु साहगो मुत्तिवहुं वसम्हि किदो। जदा चंचलचित्तो णरो लेगिग-कज्जेसुं असफलो, पुणो सो परमट्ठभूद-कज्जेसुं कहं सफलो? भो चेयण्ण! सद-चिदाणंदसरूवं इच्छेसि दु कुणेहि चित्तं सुद्धं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

चित्त की शुद्धि से चिदानंद की प्राप्ति

हे हंसात्मन्! क्या तू अपने निज स्वभाव को प्राप्त करना चाहता है? कैसा है स्वभाव तेरा? टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभावी, चैतन्यरूप है। उसकी प्राप्ति चंचल चित्त से नहीं की जा सकती। जिसका चित्त चलायमान है, वह जीव सुई में भी धागा नहीं डाल सकता है तो फिर वह निज में निज को कैसे देख सकता है? स्वानुभव के लिए सर्वप्रथम मन की स्थिर वृत्ति का होना अनिवार्य है। जैसे शांत/स्थिर जल में पड़ा रत्न चक्षु से देखा जा सकता है, उसी प्रकार शांत मन से आत्म-स्वरूप को जाना जा सकता है। योगी के लिए प्रथम साधना मन-के-वशीकरण की होनी चाहिए। यदि मन वश में कर लिया, तो समझो उस साधक ने मुक्ति-वधू को अपने वश में कर लिया। देखो, चंचल-चित्तवाला नर जब लौकिक कार्यों में सफल नहीं होता, तो फिर वह परमार्थभूत कार्यों में कैसे सफल हो सकता है? भो चैतन्य! सद्-चिदानंद-स्वरूप की चाह है तो चित्त को शुद्ध रख।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

मेत्तवरिसावासो त्थि ण दु वरिसाजोगो

हंसप्पा! आदसाहणाए जोगिणो करेंति चउमास-ट्ठवणं। अहो! कहं ते जोगिणो जेसिं पीदी अहिंसाए। वरिसाकालो जीवुप्पत्ति-कालो, बहुसंखाए सम्मुच्छणजीवा जाएंति। संजदा एरिसे काले बहिगमणं रोधित्ता णियरमणस्स आरंभ-उज्जमं करेंति। अज्ज सो कालो णत्थि, जदा मेहा किण्ह-कादंबिणीजुत्ता विराड-गज्जणं करेंति, चंचला गुंजेज्जा, अदिघोर-वरिसा होज्जा, सीदल-वाऊ पवहेज्जा, जोगीदेहे भुजंग-दोणा वियरेंति, सेही णिट्ठुरज्झुणिं कुज्जा; एरिसे काले णिच्छल-णिक्कंप-णिप्पुह-णियप्पज्झाणरदो जोगी जिणकप्पी-समणो णत्थि। अज्ज जोगी वरिसावासं धारेदि ण दु वरिसाजोगं। वट्टमाण-समणा अहिंसा-धम्मपालणट्ठं समिदीसुं पवट्टेंति। ते विचारेंति-'कदा सो पावण-पवासजोगो मे होदु जत्थ

वर्षायोग नहीं, मात्र वर्षावास चल रहा है

हे हंसात्मन्! आत्म-साधना के लिए योगी चातुर्मास की स्थापना करते हैं। ओह! कैसे योगी होंगे वे जिन्हें अहिंसा में लगी होगी प्रीति अर्थात् मेरे द्वारा किसी भी जीव को कष्ट न हो। वर्षाकाल जीवोत्पत्ति का काल है, बहुसंख्या में सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं। संयमी ऐसे काल में बाहर के गमन बंद कर स्वयं के रमण को प्रारंभ करने का पूर्ण प्रयास करते हैं। आज वह काल नहीं है जब बादल काली घटा लिए हुए विराट गर्जना कर रहे हों, बिजली तड़क रही हो, घनघोर मूसलाधार पानी बरस रहा हो, शीतल बयार (वायु) बह रही हो, योगी के तन पर सर्प-बिच्छु विचरण कर रहे हों, सेही कठोर रव (आवाज) कर रही हो; ऐसे काल में निश्चल, निष्कंप, स्वात्मध्यान-लीन निस्पृह योगी, जिनकल्पी मुनिचर्या करनेवाले साधु नहीं हैं। वर्षायोग तो नहीं, योगी आज के समय वर्षावास अवश्य धारण करते हैं। वर्तमान के साधु अहिंसाधर्म के पालन हेतु समितियों में प्रवृत्त रहते हैं। अपने मन में एक ही विचार-रत रहते हैं कि वह पावन प्रवास-योग मेरा कब होगा जहाँ मैं ही मेरा होगा। अन्य कोई नहीं होगा?

अहं खु मज्झ होज्जा, णो कोवि अण्णो?' देहे सलिलबिंदू परिसवेंति एवं चेयण्णे सुद्धोवओगधारा पवहेज्जा। देहेणं पि मे पेम्मं णत्थि, केवलं णियचेयण्णे झाणं होज्जा, भगवं! हं आकिंचणो, एवमेव भावणं भावेमि। जाणेमि हं इह भवे ण दु सा साहणा, णेव सिद्धी तम्हा सग्गं गच्छेहिमि, पहु! सग्ग-भोग-रदो णो होदूणं तत्थ तुज्झ गुणरदो होमु एवं अणंतर-पज्जाए मोक्खमग्ग-साहणं जिणकप्पी होदूणं करेमु, एरिसं आकंखं वंछं करेमि, ण दु णिदाणं। अब्भिंतरज्झुणी, पसत्थभावणाओ, णिक्कामसाहणा वा होहिदि पुण णियमेणं सिद्धिलद्धी।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

तन पर पानी की बूँदें टपकती हों, परंतु चैतन्य में शुद्धोपयोग की धारा बहती हो; मेरा मन चैतन्य-भवन में आनंदमग्न हो, पर से मेरा कोई संबंध नहीं हो; तन से भी मेरा प्रेम नहीं, एकमात्र स्वचैतन्य में सुरत (ध्यान) लगी रहे; हे भगवन्! मैं अकिंचन, एकमात्र यही भवना भा रहा हूँ। मुझे मालूम है कि इस भव में न वह साधना है न सिद्धि, इसलिए स्वर्ग जाना ही होगा, पर प्रभु! स्वर्ग के भोगों में लीन न हो जाऊँ, वहाँ रहकर तेरे ही गुणों में लीन बना रहूँ तथा अपनी पर्याय में मोक्ष-मार्ग की साधना जिन-कल्पी बनकर करुँ; ऐसी आकाँक्षा करता हूँ प्रभु, निदान नहीं। अंतःकरण की आवाज, प्रशस्त-भावनाएँ, साधना निष्काम होगी तो सिद्धि तो नियम से मिलेगी।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सग्गुणाणं आवस्सगं चित्तणिम्मलत्तं

हंसप्पा! तुमं णियजीविदम्हि गुरुपादपसादत्तो गुरुहीणो होदूणं जीवेहि। गुरु-सब्भावो कदावि णियगुरुणो समीवं णो णिज्जेदि। णियगुरुलाहट्ठं चत्त गुरुं। अहंभावरूवे अब्भिंतर-गुरुं मुंच, तेणं सह कदावि पंचगुरुणो आदगुरु वा णवि परितोसेज्जा। तम्हा णिहोडमाणं गुरुं मुंच। इमेणं सह उहयलोगविणासो होहिदि। तस्स समीवं गुरु जस्स हिदए पवाहिदा सच्च-सउच-संजम-सरिदा। णिम्मल-मिदु-हिदयी होदि णिस्सेस-सग्गुणी। पडिक्खणं सग्गुणीदो गुरु होदि पसण्णो। णियगुरुसरणं इच्छेसि पुण सग्गुणी होदूणं जीव।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

सद्गुणों के लिए हृदय की पवित्रता आवश्यक

हे हंसात्मन्! तू अपने जीवन में गुरु-चरणों के प्रसाद से गुरु-हीन बनकर जीना सीख लेना। गुरु का सद्भाव कभी भी जिन-गुरु के पास नहीं जाने देता। निज-गुरु को प्राप्त करना है तो गुरु को त्याग, यानि अहं-भाव के रूप में अंदर बैठा जो गुरु है, उसे सर्वप्रथम छोड़ दे, क्योंकि उसके साथ कभी पञ्चगुरु तथा आत्मगुरु प्रसन्न नहीं रह सकते। इसलिए जो पतन करानेवाला गुरु है, उसे तू प्रथम छोड़ दे। इस गुरु के साथ उभयलोक का विनाश हो जाएगा। गुरु उसी के पास रहता है जिसके हृदय में सत्य, शौच, संयम की सरिता प्रवाहित हो रही हो। निर्मल, कोमल-हृदयी संपूर्ण सद्गुणी कहलाता है। सद्गुणों से गुरु प्रतिक्षण प्रसन्न रहते हैं। इसलिए तू सद्गुणी बनकर जीते रहना, यदि निज-गुरु की शरण चाहता है तो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

विणए गुरुत्तं, ण दु दंभे

हंसप्पा! उत्तमपयडि-जीवो णियवत्तित्तं तुच्छं णो करेदि। सो करेदि सग अंतोकरणं विसालं। सो करेदि पर-सम्माणविचारं सगोव्व। जीवस्स गुरुत्तं विणयादो फुड्डेदि, ण दु दंभत्तो। जावदु जो गुणजुदो, सो तावदु विउल-विणयजुदो।

जणणी उदरम्हि सिसू गब्भत्थो, इमस्स णाणं उदरवड्ढीदो होदि, ण दु सिसुणो रोदणे। एवं वच्छल्ल-मित्ति-पहुदि-किरियाहिं गुणी-विणयवंतस्स अहिणाणं, ण दु तस्स उग्घोसेहिं। धम्मप्पस्स णिहिलगुणेसुं पहाणगुणो विणयो। विणयी होदि सयलगुणसंपण्णो। अविणयजुदस्स लब्भगुणा वि दंभेणं खिज्जेज्जा। विणयविहूणस्स णाणं विण्णाणं च णिप्फलं। विणयजुदस्स थोवणाणं पि सयल-सिद्धिदायगं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

महानता अहं में नहीं, विनय में होती है

हे हंसात्मन्! उत्तम प्रकृति का व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को ओछा बनाकर नहीं चलता। वह अपने अंतःकरण को विशाल बनाकर रखता है। स्व के समान पर के सम्मान का भी ध्यान रखता है। व्यक्ति की महानता अहं से नहीं, विनय से प्रकट होती है। जो जितना गुणवान् होता है, वह उतना ही ज्यादा विनयवान् होता है।

माँ के उदर में शिशु गर्भस्थ है-इसका ज्ञान शिशु के रोने से नहीं, अपितु उदर की वृद्धि से स्वतः हो जाता है। इसी प्रकार गुणी विनयवान् के नारों से गुणी की पहचान नहीं होती अपितु उसके द्वारा विनय, वात्सल्य, मैत्री आदि क्रियायें करने पर स्वतः मालूम चल जाता है कि वह गुणी है। धर्मात्मा का सर्वगुणों में प्रधान गुण विनय-गुण है। विनयी सर्वगुण-संपन्न हो सकता है, अविनयी प्राप्त गुणों को भी अहं में डूबकर नष्ट कर लेता है। विनय से विहीन व्यक्ति का ज्ञान-विज्ञान सब निष्फल है, जबकि विनयी का अल्पज्ञान भी सर्वसिद्धिदायक है।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

विगारा बाहेंति माणुसत्तं

हंसप्पा! परिणाम-परिणदिं पस्स। एदे परिणामा खणम्हि जीवं करेंति णारगी, खणम्हि अहमिंदो माणुसो तिरियो वा। कोहकसायरूव-परिणदि-काले णारगी-तुल्लो। जदा परिणामेसुं णिम्मलत्तं, धम्मं पडि रुई, परदव्व-परिग्गहत्तो णिम्ममत्तबुद्धी, तदा अहमिंद-तुल्लो। जदा माया-वंचणा-परिणामो तदा तिरिय-समो। जदा सहावे णिम्मलत्तं मिदुत्तं च तदेव माणुसो माणुसो, अण्णहा णत्थि। काम-कोहा माणवचित्तस्स वे रिवू, जे सहसा माणुसत्त-पदणं कारेंति। तदा होदि साहुत्त-सज्जणत्त- अभावो। जदि कामकोहकाले जीवो सगचिंतणं करेदु दु सगं पडि इयत्ता घिणा जायदे जा अण्णं पडि कदावि णो होज्जा। भो णाणी! जदि तिलोग-तिलग-अवत्थं इच्छेसि दु उहयरिवूसुं लंभेहि विजयं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

विकारों से मनुष्यता बाधित होती है

हे हंसात्मन्! परिणामों की परिणति देख। ये परिणाम जीव को एक क्षण में नारकी बनाएँ, एक क्षण में अहमिन्द्र, मनुष्य या तिर्यञ्च। जब क्रोध-कषाय-रूप परिणति चल रही हो, उस समय नारकी तुल्य हो जाता है। परिणामों में निर्मलता, धर्म के प्रति रुचि, पर-द्रव्य से निर्ममत्वबुद्धि, परिग्रह से पृथक् रूप अहमिन्द्र के जैसे भाव हैं और मायाचारी/छलकपट परिणाम, तिर्यंञ्च के जैसे। स्वभाव में निर्मलता, मृदुभाव यदि है तो मनुष्य मनुष्य है अन्यथा नहीं। काम, क्रोध मानव के अंदर दो ऐसे शत्रु हैं जो शीघ्र ही मानवता का पतन करा देते हैं। तब साधुता, सज्जनता का पता नहीं चलता कि कहाँ गई ? स्वयं के बारे में व्यक्ति चिंतवन करे जब वह काम, क्रोध में था, तो इतनी घृणा होगी स्वयं के प्रति कि शायद ही अन्य के प्रति कभी हुई हो। भो ज्ञानि! इन उभय शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर, यदि त्रिलोक-तिलक बनना चाहता है तो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जिण-पव्वज्जा सक्कार-पलायणं णत्थि

हंसप्पा! जिणसासणस्स साहणा आदुत्थाणरूवा, ण दु पलायणवादरूवा। जिदा-पव्वज्जा णो पलायणवादो। जदा जीवो धम्मत्थ-काममोक्ख-उज्जमेसुं हीणो होदि, केई वि उज्जमे होदि असमत्थो एवं तदा सो देव-विस्सासे वसेदि, किंचणं पि णो करेदि तहा उज्जमहीणेणं कत्तव्वविमुहेणं च साहु-सण्णासी-भिक्खु-वेसं धारित्ता करेदि ववसायं, सा ठिदी पलायणवादो। उज्जम-बुद्धि-विहूणा होंति पलावणवादी। णमोत्थुसासण-समणसक्किदी आदुक्करिस-चरमसीमं लाहेंति। साहुपुरिसा लहिदूणं धम्म-उज्जमं मोक्ख-उज्जमसिद्धीए कामत्थ-उज्जमं हेयं मुणिदूणं मुंचेदि। समणा कम्मेहिं बुद्धि-विवेग-पुव्वं संघरिसेंति। समणा णवि भिक्खेंति, रोडिगाणं णो आवट्टेंति, रोडिगा तेसिं आवट्टेंति। इणमो पुरिसत्थवादो ण दु पलायणवादो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

जिन-दीक्षा संस्कार से पलायन नहीं

हे हंसात्मन्! जिन-शासन की साधना पलायनवाद नहीं, आत्मोत्थानरूप है। जिनदीक्षा पलायनवाद नहीं है। पलायनवाद तो वह स्थिति है जब जीव धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ में हीनता रखता है; कोई भी पुरुषार्थ करने में समर्थ नहीं होता, तब वह भाग्य-भरोसे बैठ जाता है अथवा कुछ भी नहीं करना चाहता; पुरुषार्थहीन होकर, कर्तव्यविमुख होकर, साधु/संयासी या भिखारी का वेष धारण कर आजीविका चलाता है। बुद्धिहीन, पुरुषार्थहीन तो पलायनवादी की कोटि में आ सकते हैं। नमोस्तु-शासन/श्रमण-संस्कृति आत्मोत्कर्ष की चरम सीमा को प्राप्त कराती है। साधु पुरुष धर्म-पुरुषार्थ को प्राप्त कर मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए अर्थ व काम-पुरुषार्थ को हेय समझकर छोड़ देता है। श्रमण बुद्धि-विवेकपूर्वक संघर्ष करते हैं कर्मों से। साधु भीख नहीं माँगते, रोटियों के चक्कर नहीं लगाते, बल्कि रोटियाँ उनके चक्कर लगाती हैं। ये पलायनवाद नहीं, पुरुषार्थवाद ही है।।

जाण सगदव्वं

हंसप्पा! तुमं इच्छेसि परम-बंभसरूवलाहं। सगवत्थुणो लाहभावणा होदव्वा। जं सगदव्वलाह-वंछा णत्थि, सो अण्णाणी मूढो। तुमं सयल-वंछाओ मोत्तूणं सगदव्व-गवेसणे लीएज्जसु। कहं होहिदि बंभसरूवलाहो, अस्स चिंतणं णवि किदो? आइरिय-देवसेण-सामिणा तच्चसारे पण्णत्तं-

थक्के मणसंकप्पे, रुद्धे अक्खाण विसयवावारे।
पयडदि बंभसरूवं, अप्पा झाणेण जोईणं।।

तम्हा भो चेयण्ण! जदि णियबंभलाहं इच्छेसि दु सयं णियचित्तं णिग्घिप्पेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

स्वद्रव्य को जान

हे हंसात्मन्! तू परम ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहता है। अपनी वस्तु की प्राप्ति की भावना तो होनी ही चाहिए। वह अज्ञानी-जीव है, जिसे स्वद्रव्य की प्राप्ति की आकाँक्षा ही नहीं है। तुझे संपूर्ण इच्छाओं का परित्याग कर स्वद्रव्य की खोज में लग जाना चाहिए, लेकिन ध्यान रख, ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति कैसे होगी, इस बात का कभी विचार किया कि नहीं ? आचार्य भगवंत देवसेन ने 'तत्त्वसार' ग्रंथ में परमदेव को प्रकट करने की विधि का वर्णन बहुत सुंदर किया है कि 'मन के संकल्पों के बंद हो जाने पर, इन्द्रियों के विषय-व्यापार के रुक जाने पर, योगियों के ध्यान द्वारा आत्मा ब्रह्मस्वरूप में प्रकट होता है।' इसलिए, भो चैतन्य! तू अपने अंतःकरण को स्ववश कर, यदि निजब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है तो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

चिंतण-पवित्तादो चारित्तरक्खा

हंसप्पा! असुहसक्कारा इह जीवम्हि अणादिणा। चित्त-गदी वि सहसा तथेव होदि। जदा जीवा चित्तं कुकिच्चेसुं णिज्जेंति तदेव गच्छेदि। मणो अण्ण-विसए सगहढं णो करेदि। इंदियाणि करेंति सग-सग-विसयाकंखं, पुण बला णत्थि। जत्थ उवादाण-दुब्बलत्तं तत्थ मणो इंदियाणि अण्ण-बहि-णिमित्ताणि वा होंति कज्जकारी। जदि दढो उवादाणो वा पुण्णसंकप्पो होदु पुण संसारे णो एरिसा सत्ती जा करेदि चारित्तधारग-णरसीहं चलायमाणं। पस्स किं दुब्बलत्तं जीवम्हि? कहं अणुहवणं करेदि जीवो? ता खु भावणा विसयंगारकुंडे पाडेदि। चारित्त-रक्खणट्ठं कुणेहि णिय-चिंतणं पवित्तं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

विचारों की पवित्रता से चारित्र की रक्षा

हे हंसात्मन्! खोटे संस्कार इस जीव के अंदर अनादिकाल से हैं। मन की दौड़ भी शीघ्र उसी ओर होती है। जब जीव मन को कुकृत्यों की ओर ले जाते हैं, तभी तो जाता है। मन किसी विषय में अपनी हठ नहीं करता। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की इच्छा तो करती हैं, पर बलात् तो नहीं। उपादान की कमजोरी जहाँ होती है, वहाँ इंद्रियाँ, मन व अन्य बाह्य निमित्त कार्यकारी हो जाते हैं, परंतु यदि उपादन दृढ़ हो और पूर्ण संकल्प हो, तो संसार में कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो चारित्रधारी नरसिंह को चलायमान कर सके। जीव के अंदर जो कमजोरी बैठी है, देखो तो वह क्या है ? जीव कैसा अनुभव करता है ? वही भावना विषयों की भट्टी में डाल देती है। जिसे चारित्र की रक्षा करना है, उसे अपने विचार पवित्र रखने होंगे।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

चित्तणिम्मलत्तं वरेण्णसाहणा

हंसप्पा! उवओग-णिम्मलत्तं परमावस्सगं। बहि-किरियाहिं सह जदि उवओगो अणिम्मलो दु णिस्सार-योग-परिणदी पुण्णबंधं करेदि, किंदु सिवमग्गे पओयणभूदा जहा अविवाग-णिज्जरा होदव्वा, तहेव णो होदि। पडिपलं साहग-परिणदी आदणिम्मलत्थं समल्लेज्जा। जहा दुग्घडणा-भयादो वाहणचालगो होदि सचेदो, तहेव सुहभावेहिं सह असुहभावरूव-दुग्घडणाभयादो सुसाहगो होदि सचेदो। वट्टमाण-कलिकाले सयल-साहणासुं वरेण्णसाहणा चित्तस्स णिम्मलत्तं। चित्तस्स असुद्धि-णिमित्ताणि विउलाणि। तेहिं सह अणादि-विसयभोग-सक्कारा पबला। तम्हा, भो अप्पा! कुण तमेव कज्जं जेणं तुज्झ अप्पा असुहभावा णो भजेदु।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

चित्त की निर्मलता ही श्रेष्ठ साधना है।

हे हंसात्मन्! उपयोग की निर्मलता होना परमावश्यक है। बाह्य क्रियाओं के साथ यदि उपयोग निर्मल नहीं है, तो कोरी योग की परिणति पुण्य-बंध तो करा सकती है, लेकिन मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत अविपाक-निर्जरा जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं हो सकती। प्रतिक्षण/प्रतिफल साधक की परिणति आत्म-निर्मलता हेतु लगी रहनी चाहिए। जिस प्रकार वाहन-चालक सतर्क रहता है कि कहीं दुर्घटना न घट जाए, उसी प्रकार सत्-साधक सतर्क रहता है कि कहीं शुभ-भावों के साथ अशुभ-भाव-रूप दुर्घटना न घट जाए। वर्तमान कलि-काल में संपूर्ण साधनाओं में श्रेष्ठ साधना यह है कि चित्त निर्मल रहे, क्योंकि चित्त की अशुद्धि के निमित्त बहुत ज्यादा हैं। उसके साथ अनादि के विषय-भोगों के संस्कार प्रबल हैं। इसलिए, भो आत्मन्! तू वही कार्य करना जिससे तेरा आत्मा अशुभ-भावों को प्राप्त न हो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सगसरूवं पसंसणिज्जं

हंसप्पा! करेहि पडिक्खणं णियप्प-उत्थाण-लक्खं। णाणी विवेगी सयलसमए सगसमयं पस्सेदि। भो चेयण्ण! सग-पर-हिद-भावणा साहगचित्ते होदि एवं होज्जा वि, पुणरवि पढमा होदव्वा सग-हिद-भावणा। जो णो करेदि सगहिदं, सो किं करिस्सदि परहिदं? रे जीव! तुमं पुण-पुण अम्हि उवदंसेमि लोएसणाए मा लिप्प, खादीए मा णिवुड्ढ। तुज्झ जसोकित्तिरूव-पुण्णपयडि-आधारम्हि खादी। जसोकित्तिणामकम्मं तुज्झ पबलं तु कोवि तं णो रुंभेदि। किंचिवि कज्जं आवस्सगं णत्थि, मेत्तं समणचरियारूव-परिणामं कुण णिम्मलं। कुण णिद्दोससंजमपालणं। जीवा करेंति तुज्झ पसंसं, पुणरवि पसंसणिज्जं सदसरूवं आदधम्मं मा मुंचेहि। तेणं खलु तुज्झ पसंसा होहिसि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

स्वस्वरूप ही प्रशंसनीय

हे हंसात्मन्! तू प्रतिक्षण स्वात्मोत्थान का लक्ष्य रखना। ज्ञानी/विवेकी जीव वह होता है जो संपूर्ण समय में स्व-समय पर दृष्टि रखता है। भो चैतन्य! स्वपर कल्याण की भावना साधक के अंदर होती है और होनी भी चाहिए; परंतु सर्वप्रथम स्वकल्याण की ही भावना होनी चाहिए। जो स्वकल्याण नहीं कर पा रहा है, वह पर का कल्याण क्या कर पाएगा ? रे जीव! मैं तुझे बार-बार सचेत करता रहता हूँ कि तू लोकेषणा में मत फँस जाना, ख्याति में मत डूब जाना। ख्याति तो तेरे यशःकीर्तिरूप पुण्य-प्रकृति के आधार पर है। यदि यशःकीर्ति नाम-कर्म तेरा प्रबल होगा, तो उसे कोई टाल नहीं सकता। कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं, मात्र अपने मुनि-चर्यारूप परिणाम निर्मल रख। निर्दोष संयम का पालन करते रहना। लोग प्रशंसा करते है तेरी, पर ध्यान रख, जो प्रशंसनीय है उसे तू मत छोड़ बैठना यानि सद्स्वरूप आत्म-धर्म ही प्रशंसनीय है, न कि तू। उससे ही तेरी प्रशंसा होगी।।

वेरग्गदो विसुद्धी कम्मलुंचणं च

हंसप्पा! आदधम्मलाहं इच्छेसि दु कुण वेरग्गभावं सुदिढं। विरागत्तं विणा विसुद्धत्तं असंभवं। विसुद्धि-जणणी वेरग्गं। पुण-पुण वेरग्गसमयं सुमरेदव्वं। भो णाणी! पवयणे वेरागिणो वेरग्गं दिढत्थं दिव्व-वुवट्ठा। दहधम्म-समिदि-गुत्ति-पालणादो अणुवेक्खा-चिंतणादो एवं वे-तिय-मासम्हि अहवा चउमासे केसलुंचणादो होदि सुदिढं वेरग्गं विसुद्धि-वड्ढणं च।

केसलुंचणं किरियामेत्तं णत्थि। भो चेयण! केसलुंचणं केस-उप्पाडणं मेत्तं णत्थि, तं तु कम्मलुंचण-किरिया। जदि चित्तं णो होदि णिम्मलं विसुद्धं च पुणो तुज्झ वित्ती पराहीणत्तेणं केस-कासमाण-वराह-समा। वराहकेसा माणुसा बला विकड्ढेंति, सो वरागो उक्कूणेदि। आदधम्मरहिदस्स केस-

वैराग्य से विशुद्धि एवं कर्म-लुंचन

हे हंसात्मन्! यदि आत्मधर्म की प्राप्ति की इच्छा करता है, तो तू वैराग्यभाव को दृढ़ रख। बिना विरागता के विशुद्धता संभव नहीं है। विशुद्धि की जननी वैराग्य है। वैराग्य के समय को याद करते रहना चाहिए। भो ज्ञानी! वैरागी के वैराग्य को दृढ़ रखने के लिए आगम में सुंदर व्यवस्था है। दस धर्म और अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करने, समिति-गुप्तियों का पालन करने और इन सबके साथ दो मास, तीन मास या चार मास के अंदर केशलोंच करने से वैराग्य सुदृढ़ होता है और विशुद्धि बढ़ती है।

केशलोंच एक क्रिया मात्र नहीं है। भो चेतन! बाल उखाड़कर फेंकने मात्र की नहीं, कर्म-लुंचन की क्रिया समझ केशलोंच को। यदि अंतरंग निर्मल नहीं बन पा रहा, तो फिर ध्यान रख, पराधीनता से बाल खिंचानेवाले सुअर-तुल्य वृत्ति होगी तेरी; क्योंकि सुअर के बाल मनुष्य बलात् खींचते हैं, वह बेचारा चींखता है। आत्मधर्मरहित के बालों का खींचना, नियम के

उप्पाडणं णियमधारणादो बला, खलु विकड्ढेज्जा। अब्भिंतरे उदासीणत्तं तु केसलुंचणं अण्णहा केस-उप्पाडणं। केसलुंचणं कम्मलुंचणत्थं होदव्वं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

धारण करने के कारण बलात् है, खींचना ही पड़ेंगे। अंतरंग में उदासीनता है तो वह केश-लोंच है, नहीं तो बालों को उखाड़ना है। केश-लोंच कर्म-लुंचन के लिए होना चाहिए।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णिराउलत्थं वंछाओ चत्त

हंसप्पा! इहलोए णिवासो दुक्खहेदू णत्थि। कम्मोदए वि णो दुक्खं। लोएसणा-खादि-पूयाभावणारूवो रागो मोहो वा दुक्खकारणं, इदं चिंतणं णाणिस्स। एवमेव जीवस्स दुक्खकारणं। जदि लोग-णिवसणं दुक्खरूवं पुण अरहंत देवे दुक्खं होज्जा, णवरि तेसिं समीवं कम्मं। असादाकम्मं उदए अत्थि पुणो वि ते दुही तु णो होंति। तेसिं समीवं णो रागो णो मोहो। जहा धण्ण-उप्पत्तीए कारणं मिट्टिगा, किंदु णीरं विणा मिट्टिगा-मेत्ते णो धण्ण-उप्पत्ती, तहेव असादा-उदए वि दुक्ख-उप्पत्तिभूदस्स पबलणिमित्त-मोहस्स तेसुं अभावो। तेणं अरहंता णो होंति दुही। भो अप्पा! सुहलाहट्ठं कुणेहि किसं इच्छाओ वंछाओ। जीवो पदत्थं च अण्णं णो संदावेदि। जीवो सुहं इच्छेदु तो होदि सुही। पत्तेग-जीवो विसारदो, जाणेदि केणं होदि दुक्खं, केणं सुहं च?

निराकुल होने के लिए आशाओं का परित्याग कर

हे हंसात्मन्! इस लोक में निवास करना दुःख का हेतु नहीं है। कर्मोदय में भी दुःख नहीं है। ज्ञानी का ऐसा विचार होता है कि दुःख का कारण लोकेषणा, ख्याति/पूजा की भावना-रूप राग है, मोह है। यही जीव के दुःख का कारण है। यदि लोक में निवास करना दुःखरूप है तो अरिहंत भगवान् को दुःख होना चाहिए, क्योंकि उनके पास भी कर्म हैं, असाता-कर्म उदय में है, पर वे दुःखी नही हैं। कारण, उनके पास राग/मोह नहीं है। जैसे धान्य की उत्पत्ति में कारण मिट्टी है, पर बिना जल के मिट्टी मात्र में धान्य की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार असाता के उदय होने पर भी दुःख-उत्पत्ति में प्रबल निमित्त मोह का उनमें अभाव है। इस कारण अरिहंत भगवान् दुःखी नहीं हैं। कहने का तात्पर्य है कि, भो आत्मन्! सुखी बनना चाहते हो तो तुम अपनी इच्छाओं को, आशाओं को कम कर दो। कोई पदार्थ/व्यक्ति किसी को निराश/दुःखी नहीं करता। व्यक्ति यदि सुखी होना

णिराउलत्तं सुहं, आउलत्तं दुक्खं। सुहत्थं मुंच आउलत्तं। जदि परदव्वं पडि णो अहिलासा, पुणो णो णिरासा वि। अहिलासं करेदि तदो होदि णिरासो। किं सयलवंछाओ कदावि समावेंति। संसारे जं असंभवं, जस्स तुज्झ पुण्णं णत्थि, किं करेसि तस्स वंछं? भो चेयण्ण! जदि तुमं धणी-माणी-चारित्तरहिदणाणी-लाहस्स अहिलासं चत्तेसि, पुण तुमं तियाल-सुही। पत्तेगजीवस्स अहिलासा-गत्तो इयत्तो विसालो, जम्हि सयललोगो अणुप्पमाणं दीसेदि, पुणो कहं अहिलासाओ समावेंति? तम्हा जत्थ कदावि णिरासा णत्थि तस्स आददव्वस्स अहिलासं कुणेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

चाहे हो तो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति समझदार है, इतना जानता भी है कि दुःख किससे होता है व सुख किससे होता है ? सुख निराकुलता है, दुःख आकुलता है। सुखी होना हो तो आकुलता को छोड़ दो। यदि तू किसी पर-द्रव्य की आशा न करे, तो निराश होना ही नहीं पड़े। आशा करता है, इसलिए निराश होना पड़ता है। क्या सभी आशाएँ कभी किसी की पूर्ण हुई हैं ? संसार में जो संभव नहीं, तेरा पुण्य नहीं जिसका, उसकी इच्छा क्यों करता है ? भो चैतन्य! तू त्रिकाल सुखी है, यदि तू धनी-मानी, कोरा-ज्ञानी बनने की आशा को त्याग दे। प्रत्येक प्राणी की आशा का गर्त इतना विशाल है कि जिससे संपूर्ण लोक अणु-प्रमाण दिखता है, तो बताइये कैसे-आशाएँ पूर्ण हो सकती हैं ? इसलिए उस आत्म-द्रव्य की आशा कर जहाँ कभी निराशा ही नहीं है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भासा-माहुरियं चित्त-पडिबिंबं

हंसप्पा! जीविदम्हि गुरुत्तरस्स पडिक्खणं चिंतणस्स उज्जलत्तं आवस्सगं। णिम्मलहिदयो वरेण्णत्त-लक्खणं। वाणीए माहुरियं उग्घाडेदि अब्भिंतरभावणं। जीवस्स भासा कारेदि अंतोकरणस्स णाणं। काग-कोगिला-भेदो वाणीदो, ण दु वण्णादो। पवित्त-हिदयी होदि करुणा-वच्छल्ल-विस्समेत्ति-भावणाजुत्तो। णिट्ठुर-हिदयी होदि णिण्णत्त-कालुस्स-ईसाजुत्तो एवं पडिक्खणं उग्घाडेज्जा वरेण्णत्तं। किं वालुगादो वि तेल्लं विणिगूहेदि? एवं जो णो वरेण्णो तस्स वरेण्णत्तं कहं फुड्डेदि? जहा अण्णाणी कामधेणु-सिंगत्तो दुद्ध-णिक्कासण-चेट्ठं किच्चा होदि हस्सपत्तं तहेव सो जीवो होदि हस्सपत्तं। भो णाणी! णियजीविदम्हि सुगमत्तं सहजत्तं सहिदयत्तं च विआएहि तदेव तुमं होदि वरेण्णो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

भाषा का माधुर्य अंतःकरण का प्रतिबिम्ब

हे हंसात्मन्! जीवन में महान् बनने के लिए प्रतिक्षण विचारों की उज्जवलता अनिवार्य है। निर्मल-हृदय श्रेष्ठता का प्रतीक है। वाणी में मधुरता का होना अंदर की भावना को प्रकट करता है। व्यक्ति की भाषा अंतःकरण का ज्ञान करा देती है। काक एवं कोयल का भेद वर्ण से नहीं, वाणी से ही होता है। पवित्र-हृदयी करुणा, वात्सल्य और विश्वमैत्री की भावना से सराबोर होता है। कठोर-हृदयी व्यक्ति निम्नता, कलुषता, ईर्ष्या से युक्त होता है, प्रतिक्षण श्रेष्ठता को प्रकट करना चाहता है। परंतु क्या बालू को पेलने से भी कहीं तेल निलकता है ? इसी प्रकार, जो श्रेष्ठ है ही नहीं, उसकी श्रेष्ठता कैसे प्रकट हो सकती है ? वह व्यक्ति वैसे ही हास्य का पात्र बनता है जैसे कि अज्ञानी गाय के सींगों से दुग्ध निकालने की चेष्टा कर हास्य का पात्र होता है। अतः, भो ज्ञानी! अपने जीवन में सरलता, सहजता और सहृदयता को जन्म दे, तभी तू महान् बन सकता है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

देहं आदसाहणा-सेदू

हंसप्पा! देहं राग-गेहं। इणं कोवि कदावि णो करेदि णिरोगी एवं णेव करिस्सदि। देहसरूवं दुज्जणरूवं। जावदु ठाणं दुज्जणं देदि सो तावदु सीसे आरूढेदि। सुहमय-जीवणट्ठं दुट्ठा हत्थेसुं धारेदु। ता हु ठिदी देहस्स। देहत्थं अदिपोसणं आलस्स-पमादकारणं। तेणं तुमं णियप्पसाहणं खयसे। जहा वाहण-गमणत्थं चक्कमलं जोजेदि, तहेव आदधम्म-साहणाए जीवण-वाहणगमणत्थं च साहगो णियदेहं भोयणं देदि; ण दु देहस्स सोहा-तेय-ओय-वड्ढणत्थं। णाणीजणा णाणज्झाण-वड्ढीए करेंति देहरक्खणं। खलु झाणं संसिद्धिसाहणं। देह-णिरोगत्तं विणा णाणं झाणं च णो होदि, पुणो कत्थ णिव्वाणं? तम्हा देहरक्खणं आद-साहणाए कुण।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

शरीर आत्मसाधन का सेतु

हे हंसात्मन्! शरीर रोगों का गृह है। इसे कोई कभी भी निरोग नहीं बना सकता और न बना पाएगा। दुर्जन-रूप है देह का स्वरूप। दुर्जन को जितना स्थान दिया जाए वह उतना ही सिर चढ़ता है। सुखी जीवन जीना है, तो दुष्टों को हाथों में रखा जाए। वही स्थिति शरीर की है। इसके लिए अति पोषण न किया जाए अन्यथा आलस्य/प्रमाद में आ जाएगा। परिणाम यह होगा कि तू स्वात्म-साधना को खो बैठेगा। जैसे गाड़ी को चलाने के लिए औगन लगाया जाता है, उसी प्रकार जीवन-रूपी-गाड़ी को चलाने के लिए साधक अपने शरीर को भोजन देता है, आत्मधर्म की साधना के लिए; देह की शोभा तथा तेज/ओज की वृद्धि के हेतु नहीं। ज्ञानीजन ज्ञान, ध्यान की वृद्धि के लिए शरीर की रक्षा करते हैं, क्योंकि ध्यान ही निर्वाण का प्रबल साधन है। बिना देह की स्वस्थता के न ज्ञान हो सकता है और न ध्यान, फिर निर्वाण कहाँ ? इसलिए, शरीर का ध्यान आत्मसाधना के उद्देश्य से रखा जावे।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

दिट्ठिं ण देंति भोगा

हंसप्पा! रागाणुभूदि-वेदणं तुमं लहिदं णंतहुत्तं। जदा जं पज्जायं तुमं लहीअ, तस्स तस्स सुहदुहाणुरूव-पज्जायस्स भोएसुं रामीअ। दोसुं अवत्थासुं तुमं किदो दप्पं एवं सग-सदसरूवं विसरीअ। कियत्ता मणुण्णा रागाणुभूदी जम्हि जीवेसि अणादिणा। जदि तुमं विवरीदत्तं जाणेसि, पुण तुज्झ पदण्णासा वेरग्गं पडि एवं विरागाणुभूदि-पुव्वं अप्पाणुभूदि-लक्खं होज्जा। भो णाणी-अप्पा! अहुणा किंचि विचिंत, णंतपज्जाएसुं भोगरागाणुभूदि-वेदणं किदो, सुहसंति-वेदणं णो किदो। अहुणा णियाणुभूदिं उग्घाडिय दुक्खमुत्तो हवेहि। करेहि इदं पज्जाय-रक्खणं, जेणं हवेहि तुज्झ आदुण्णदी।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

भोग कभी दृष्टि प्रदान नहीं करते

हे हंसात्मन्! रागानुभूति का वेदन तो तूने अनेक बार प्राप्त किया है। जिस पर्याय को जब भी तूने प्राप्त किया, उस-उस पर्याय के भोगों में लीन हो गया; चाहे वह पर्याय दुःखानुरूप हो या सुखानुरूप, परंतु दोनों में अहं-भूमिका को बनाकर तूने रखा और अपने सद्स्वरूप को पूर्ण भुलाकर रखा। देख! रागानुभूति कितनी मनोज्ञ है, जिसमें अनादि से जी रहा है। यदि तुझे भूलकर भी विपरीतता मालूम होती, तो तेरे कदम वैराग्य की ओर होते और विरागानुभूतिपूर्वक आत्मानुभूति का लक्ष्य बना लिया होता। भो ज्ञानी आत्मन्! अब तो जरा विचार, अनंत पर्यायों में भोगानुभूति/रागानुभूति का वेदन तूने कर ही लिया, पर सुख-शांति का वेदन नहीं कर सका। अब तो निजानुभूति को प्रकट कर दुःखों से मुक्त हो जा। इस पर्याय को तो संभाल ले, जिससे तेरी आत्मोन्नति हो सके।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

परदव्वं पडि रागो दुक्खहेदू

हंसप्पा! लोहपिंड-आसएणं अणलं लहेदि लोहकार-घणघादं। जावं णो मुंचेदि अणलो लोह-संसग्गं, तावं ताडणत्तो णो मुत्ती। तहेव अवत्था अस्स अप्पस्स। अयं जीवो अणादिणा किदो राग-संसग्गं, तेणं जोणीसुं हिंडेदि। संसारप्पाहारं लहेदि, रागपरिणदिं णो मुंचेदि। जदि जीवो रागरंजिदो णो होदु, पुण कदावि किंचिवि दुक्खं णो होहिदि। परमाणंदरदा वीदरागसमणा भवे णिवसंता वि भवदुक्खत्तो विहडेंति। तम्हा, अज्ज कुण पुण्ण-णिण्णयं परदव्व-इत्थि-पुत्र-पहुदी णो तुज्झ दुक्खकारणं। तं पडि राग-परिणदी खु दुक्खकारणं। भो चेयण्ण! वीदराग-सहावं इच्छेसि दु राग-अणलत्तो कुण णियरक्खणं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

पर-पदार्थों के प्रति राग ही दुःख का कारण

हे हंसात्मन्! लोह-पिण्ड का आश्रय प्राप्त कर अग्नि को लुहार के घन की मार पड़ती है। जब तक लोहे के संसर्ग को अग्नि नहीं छोड़ती, तब तक ताड़न से मुक्ति नहीं होती। उसी प्रकार इस आत्मा की अवस्था है। इस जीव ने अनादिकाल से राग का संसर्ग किया है तो नाना योनियों में भटक रहा है। संसार की मार खा रहा है, परंतु राग-परिणति को नहीं छोड़ पा रहा है। जीव यदि राग से रंजित न होवे, तो सत्य कहता हूँ कभी भी किञ्चित् भी दुःख नहीं होगा। परमानंद में लीन वीतरागी मुनि संसार में रहते हुए संसार के दुःखों से पूर्ण परे हैं। सबके साथ हैं, पर सबसे पृथक् जीवन है उनका; क्योंकि वे राग के रंग से दूर रहते हैं। इसलिए, आज तुझे पूर्ण निर्णय करना ही पड़ेगा कि पर-द्रव्य, स्त्री, पुत्र इत्यादि तेरे दुःख के कारण नहीं हैं, उनके प्रति रागपरिणति ही दुःख का कारण है। भो चैतन्य! रागरूपी-आग से स्व की रक्षा कर, यदि वीतराग-स्वभाव को चाहता है तो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णिस्सारा लक्खहीण-किरिया

हंसप्पा! धम्मलद्धी मेत्त-किरियाकंडेसुं रदेणं असंभवा। कइयाइं किरियापूत्तीए णिस्सेस-समयो विवज्जेदि। किरिया-हेदुम्हि णो लक्खं। लक्खविहूण-किरिया णिस्सारा, उम्मत्त-पुरिसव्व। आदसरूव-लक्खं पडिक्खणं साहगस्स आवस्सगं, तदेव चरम-पुरिसत्थ-लद्धी संभवा। सो सच्चचरिचाए आचरणादो संभावो, ण दु सदसरूव-चरिचादो। भारदीय-मणीसिणो सच्च-चरिचाहिं सह सच्च-आचरणं पि किदा। किमत्थं उत्तमा समण-परंपरा? समण-परंपरा सवण-सावण-परंपरा णत्थि। सा संसिद्धि-उज्जम-परंपरा, अणुऊल-चरियापालणं किच्चा भूदत्थ-सरूवं लब्भमाण-परंपरा वा, इमं लहिदूणं सगलक्खं कुण सिद्धं। तस्स

लक्ष्यहीन क्रिया थोथी

हे हंसात्मन्! धर्म की प्राप्ति धार्मिक क्रियाकाण्डों में लीन रहने मात्र से संभव नहीं। कभी-कभी देखा जाता है कि क्रियाओं के पूर्ण करने में ही सारा समय व्यतीत हो जाता है। क्रिया करने के हेतु पर लक्ष्यपात ही नहीं हो पाता। बिना लक्ष्य के क्रिया थोथी है, उन्मत्त-पुरुष के जैसी । आत्म-स्वरूप का लक्ष्य साधक को प्रतिक्षण रखना अनिवार्य है, क्योंकि अंतिम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति तभी संभव है। वह सत्-स्वरूप की चर्चाओं से नहीं प्राप्त होगा, सत्यचर्चा के आचरण से संभव है। भारतीय मनीषियों ने सत्य पर चर्चाएँ ही नहीं की, अपितु सत्य आचरण किया है। श्रमण-परंपरा महान् क्यों है? इसका मुख्य कारण यही है कि श्रमण-परंपरा सुनने/सुनाने की परंपरा नहीं, अपितु मोक्ष-पुरुषार्थ/परिश्रम करने की परंपरा है। अनुकूल चर्या का पालन कर सत्य-स्वरूप को प्राप्त करनेवाली परंपरा है, इसे प्राप्त कर अपने लक्ष्य को सिद्ध कर। उस परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपने 'आप' की मृत्यु अनिवार्य है। बिना स्वमरण किए आत्मा में रमण संभव नहीं। स्वरमण के बिना स्वात्मोपलब्धि की

परमलक्खस्स सिद्धीए अप्प-मिच्चू आवस्सगो। सग-मरणं विणा आदरमणं असंभवं। सग-रमणं विणा णियप्पोवलद्धि-सिद्धी असंभवा। सग-मिच्चू आदघादो णत्थि, पबलरिवुभूद-दंभघादो णेयो सग-मिच्चू। अहंभावे माणवो करेदि सग-धम्म-विघादं। एरिसो हं, तारिसो हं। अरे णाणी! अहंभावो ममेदंभावो कस्स धुवो? जीवे पुहुत्तं, पुण तं अहंभावस्स णिविड-मेहेहिं णो फुड्डेज्जा। जत्थ अहंभावो तत्थ हिंसा। जत्थ हिंसा तत्थ सेस-पावाणि वि। किं जाणे हिंसगो पहुत्तं भगवंतं च। भो भावी-भगवं! हिंसगत्तं विसज्जिय सग-सद-सरूवं अहिगच्छ।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

सिद्धि संभव नहीं है। स्व-मृत्यु से तात्पर्य 'आत्मघात' नहीं है, स्व-मृत्यु से तात्पर्य प्रबल शत्रु 'अहं' के घात का है। 'मैं' में ही ये मानव स्वधर्म का विघात कर रहा है। मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, अरे ज्ञानी! क्या मैं/मेरा भाव किसका ध्रुव बनकर रहा है ? व्यक्ति के अंदर भगवत्ता तो है, पर वह प्रकट नहीं हो पा रही 'मैं' के घने मेघों के कारण। 'मैं' के बादल हट जाएँ तो स्वयं का स्वयंभू शीघ्र ही प्रकट हो जाए। जहाँ 'मैं' है, वहाँ हिंसा है। जहाँ हिंसा है, वहाँ शेष पाप भी हैं। हिंसक क्या तो भगवत्ता को समझे और क्या भगवान् को। भो भावी भगवान्! हिंसकपने का विसर्जन करके अपने सत् स्वरूप को प्राप्त कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

कामणा-अच्चगो ण करेदि साहणं

हंसप्पा! जत्थ अभावे सब्भावे वि कट्ठं, एरिसं मणोहरं दव्वं किं णाणिणो सेवणिज्जं? णाणी ओग्गहेदि जीवदव्वे। जस्स मरणं पि सुहदायगं, जस्स लद्धीए अणुहवे आणंदो, आणंदलाहो परमसंतोस-कारणं, एरिसं दव्वं सेवणिज्जं। जीवस्स कामवासणा सव्वदो संतावेदि। कामवेदणा-उब्भवे जीवो लहेदि तिव्व-संतावं। तं णो दीसेदि धम्मो णेव धम्मप्पा। सीयल-कामुदी-णिसा वि संतावं जादेदि। पारंभे देदि कट्ठं, कामिच्छापुत्ति-साहणलाहे तिव्व-तिण्हा वड्ढेदि एवं भोग-उवरंतं तिव्व-पच्छादावो होदि। भोगी लज्जाए भोग्गाए दिट्ठि-मेलणे वि असमत्थो। एएसुं महादुक्खकारणभूद-भोगेसुं सुधी-पुरिसो सगं णो णिज्जेदि, णियचेयण्णभोगे हि लीयदे। एवमेव विवेगो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

कामना का पुजारी साधना नहीं कर सकता

हे हंसात्मन्! जहाँ अभाव में कष्ट और सद्भावों में भी कष्ट हो ऐसा मनोहर द्रव्य क्या ज्ञानी को सेवनीय है ? ज्ञानी जीव-द्रव्य पर लक्ष्य रखता है। जिसका मरण भी सुखप्रद हो, जिसकी प्राप्ति में आनंद हो, अनुभव में आनंद हो, आनंद की प्राप्ति परम संतोष का कारण हो; ऐसा द्रव्य सेवनीय है। देख, काम-वासना जीव के लिए सभी ओर से दुःखी करती है। जब कामवेदना उत्पन्न होती है तब जीव को तीव्र संताप होता है। उसे न धर्म दिखता है, न धर्मात्मा। शीतल चाँदनी रात भी संताप उत्पन्न करती है। प्रारंभ में कष्ट देती है और यदि कामेच्छा-पूर्ति के साधन भी प्राप्त हो जाएँ, तो वे तीव्र तृष्णा को बढ़ाते हैं तथा भोगने के उपरांत तीव्र पश्चात्ताप का कारण होते हैं। भोगी इतना लज्जित होता है कि वह भोग्या से दृष्टि मिलाने की सामर्थ्य नहीं रख पाता। ऐसे महा दुःखों के कारणभूत भोगों में सुधी अपने आपको नहीं ले जाता, निज चैतन्य के भोग में ही लीन रहता है। यही विवेक है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सिद्धीए कोसल्लं आवस्सगं

हंसप्पा! कुसल-विवेगी-बुद्धिमद-णाविगो रदणसमिद्ध-जलयाणं वीइजुत्त-विसाल-सायरत्तो झत्ति भयहीणेणं सगेणं सह पारावेदि। बुद्धि-विहुणो सगेणं सह जलयाण-रदणादिं पि सायरम्हि मज्जावेदि। इमीए ठिदीए लोए हस्सपत्तं होदि एवं विद्धंसेदि अप्पजीवण-लीलं। भो चेयण्ण! भवो सायरो, तम्हि संजमो णावा, रदणत्तय-धम्मा तुज्झ दिव्व-अणग्घ-रदणाणि, तुमं णाविगो। विसयकसाय-कल्लोला-आकंखाणं जार-भाडा उप्पज्जेंति। इह भवसायरे तुम सग-विवेगबुद्धीहिं कज्जं कुणेहि। कत्थ वि मा कुण असजगत्तं, अण्णहा तुज्झ णावा भवसायरत्तो णवि, तारेज्जा। सजगत्तं आवस्सगं। भो णाणी! संजमणावा णवि डुलेज्जा, अण्णहा तुज्झ उहयसुहं गलेज्जा। भवण्णवत्तो मुत्तिं इच्छेसि, हस्सपत्तं णेच्छेसि दु कुसल-णाविगो हुव।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

सिद्धि के लिए कुशलता अनिवार्य है

हे हंसात्मन्! एक कुशल, विवेकी, बुद्धिमान नाविक रत्नों-से-भरे जहाज के लिए लहरों/धाराओं से युक्त विशाल सागर से शीघ्र, भयभीत हुए बिना, अपने साथ पार करा लेता है; परंतु बुद्धिहीन स्व के साथ जहाज, रत्न इत्यादि को भी समुद्र में डुबा देता है। ऐसी स्थिति में लोक में हास्य का पात्र बनता है और अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर बैठता है। भो चैतन्य! भव एक सागर है, संयम उसमें नौका है, रत्नत्रय-धर्म तेरे दिव्य अमूल्य रत्न हैं, तू नाविक है। विषय-कषाय की लहर-रूपी आकाँक्षाओं के ज्वार-भाटे उठ रहे हैं। इस संसार-सागर में तुझे स्व-विवेक-बुद्धि से कार्य करना चाहिए। कहीं असावधानी नहीं रखना, अन्यथा तेरा पोत भवसागर से पार नहीं हो पाएगा। सावधानी की आवश्यकता है। भो ज्ञानी! संयम-नौका हिल भी न पाए, नहीं तो तेरे उभय सुख समाप्त हो जाएँगे। ध्यान रख, भवार्णव से पार होना है, हास्य का पात्र नहीं बनना है तो कुशल नाविक बनकर चल।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भावाभावं किच्चा कुण भवणासं

हंसप्पा! भावा खु हिंडावेंति, भावा खु भवं णस्सेंति। खलु भावाणं मेला। भो चेयण्ण! एदे भावा तुमं णिगोद-रासीए वि मेल्लेंति, सिद्ध-रासीए पवेसिज्जेंति। कुण पडिक्खणस्स परिणाम-गणणं, तुमं एग-समए कहं भावं करेदि? पुणो विचिंत मुहुत्ते दिणे वा कियत्ता भावा किदो, तेसुं भावेसुं सव्वाहिग-भावा के आसि, पुण्णभावा अहवा पावभावा? अण्णत्तो मा पुच्छ तुज्झ आगामी-भवो किं होज्जा? सयं कुण गणणं। उत्तिण्ण-अणुत्तिण्ण-णिण्णयं परिक्खत्थिणा कीरेदि, ण दु परिक्खगेणं। परिक्खं दिंतंतं होदि णाणं-किं होदि परिक्खाफलं, णवरि खलु लेहगो, तुमं? जं लेहीअ जहा लेहीअ तहेव दु फलं। णो अण्णं णेव अण्णहा। उत्तर-पुत्थिगा-परिक्खणे परिक्खग-असुद्धीए किंचणं णूणत्तं होदि, कम्मसिद्धंते कोवि, कत्थ वि कहं

भावों का अभाव करके भव का नाश करो

हे हंसात्मन्! भाव ही भटकाते हैं, भाव ही भव को नशाते हैं। भावों का ही मेला है। भो चैतन्य! ये भाव तुझे निगोद-राशि से भी मिला देते हैं, ये भाव ही सिद्ध-राशि में प्रवेश दिला देते हैं। प्रतिक्षण के परिणामों की गणना कर, तू एक समय में कितने प्रकार के भाव करता है ? फिर विचार कर कि एक मुहूर्त या एक दिन में कितने भाव किए, उन भावों में सर्वाधिक्य किन भावों का था, पुण्यरूप भावों का या पापरूप भावों का ? किसी अन्य से प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं कि तेरा अगला भव क्या होगा ? स्वयं ही गणना कर। उत्तीर्ण, अनुत्तीर्ण का निर्णय परीक्षक पर नहीं बल्कि परीक्षार्थी के ऊपर ही होता है। पेपर देते-देते ही मालूम पड़ जाता है कि तेरा परीक्षाफल क्या होगा; क्योंकि लिखनेवाला तू ही है। जो लिखा, जैसा लिखा वैसा ही तो परिणाम होगा। अन्य नहीं, अन्यथा नहीं। एक बार परीक्षा-कापी के परीक्षण में परीक्षक की भूल से कुछ कमी हो सकती है, लेकिन कर्मसिद्धांत में कोई, कहीं भी प्रकार की भूल नहीं हुआ करती, पूर्ण

पि दोसो णत्थि; पुण्णभूदत्थ-णिण्णयो होदि। कीए गदीए मरिदूणं गच्छेज्जा, अस्स णिण्णायगो जीवो। परिणामेसुं विसयकसाय- माणसम्माण-तिव्वत्तं पुणो खलु असुह-गदि-गमणं। तुमं वेसादो णिद्धणो धणिगो साहगो सावगो वा, किंदु णायो सव्वस्स समाणो। सुहभावणा, णिम्मल-वदसंजम-परिणामा, पुण णियमेण सुह-गदि-गमणं। जदा सुहासुह-अवत्था-रहिद-सुद्धोवओगदसा, तदा गदि-गमणं घंसित्ता सिद्धत्तलाहो। तम्हा, भावसरिदाए णिमज्जिय सगं मा विसर। भावरहिदो होदूणं कुण भावस्स अभावं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

सत्य का निर्णय होता है। कौन-सी गति में मरण कर जाना होगा, इसका निर्णायक स्वयं जीव ही है। परिणामों में विषय-कषाय, मान-सम्मान तीव्र रहा है तो नियम से अशुभ गति में गमन होगा। आप कोई भी हों वेष से गरीब हों, चाहे धनी हों, साधक हों, चाहे श्रावक, पर न्याय सभी का समान होगा। शुभ भावना होगी, निर्मल परिणाम होंगे, व्रत संयम के परिणाम होंगे तो नियम से शुभ गति में गमन होगा। शुभ, अशुभ दोनों से रहित शुद्धोपयोग की दशा बनेगी तब गतियों का गमन समाप्त होकर सिद्धत्व को प्राप्त करेगा। इसलिए, भावों की सरिता में डूब कर अपने को खो नहीं बैठना। भावों से रहित होकर भव का अभाव कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

मणवसीकरणं हु सम्म-साहणा

हंसप्पा! मणो माणवरिवू वि परममित्तं चावि। जदा मणो धारेदि रिवुरूवं तदा पुण्णदो माणुसत्त-विणासं कारेदि। अस्स गदी णीरधारा, अहोगामी अत्थि। अयं णिण्णत्ते झत्ति गच्छेदि। विसेसण्हुणा अज्झयणस्स आवस्सगत्तं णत्थि, सो उज्जमं अंतरेण पावेसुं पवेसेदि, उड्ढ-गमणत्थं तिव्व-उज्जोगं कुज्जा। जदा मणो मित्तं तदा अप्पं करेदि परमप्पा। मणो करेदि सगेणं सगस्स मेलकज्जं। मण-ट्ठिदी चंचल-विज्जु-मक्कड-समा। जहा विज्जू कइआ कओ विभासेदि, कइआ कओ एवमेव मण-ट्ठिदी। मणो वि कइआ कओ होदि, कइआ कओ। मक्कडो वीस-पसिद्धो चंचलजंतू। तत्तो मक्कडत्तो अहिग-चंचलो मण-मक्कडो। अस्स वसीकरणत्थं सुदक्खंधे समारोवेज्जा। सो चक्खेहिदि पमाण-णय-रूवफलाणि। तत्थ संतो होदि।

मन को वश में कर लेना ही सच्ची साधना है

हे हंसात्मन्! मन, मानव का शत्रु भी है और परम-मित्र भी। मन जब शत्रु-रूप धारण करता है, तब पूर्णतः मानवता का विनाश करा देता है। इसकी गति नीर की धार है, अधोगामी है। यह निम्नता में शीघ्र गमन करता है। बिना प्रयास के पापों में प्रवेश कर जाता है, किसी विशेषज्ञ से अध्ययन कराने की आवश्यकता नहीं रहती। परंतु ऊपर ले जाने के लिए तीव्र पुरुषार्थ करना पड़ता है। जब मन मित्ररूप होता है, तब आत्मा को परमात्मा बना देता है। स्व का मिलन स्व से कराने का कार्य मन ही करता है। मन की स्थिति चपल विद्युत् या बंदर-तुल्य है। जैसे विद्युत् कभी कहीं चमकती है, कभी कहीं, वही अवस्था मन की है। मन कभी कहीं होता है, कभी कहीं। बंदर तो विश्व-प्रसिद्ध चंचल प्राणी है। उस बंदर से भी ज्यादा चंचलता मन-मरकट की है। इसे वश में करना चाहते हो तो श्रुत-स्कंध पर चढ़ा दो। वह नय व प्रमाणरूपी फलों को चखेगा, वहाँ शांत रह सकता है। उन्मत्त गज को बिना अंकुश के वश में नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार

जहा उम्मत्त-गयं अंकुसेणं विणा णो होदि वसे तहेव णाणंकुसेणं विणा मण-गयो णो होदि वसे। मंतेणं किण्ह-भुजंगो होदि वसे।

भो अप्पा! अयं मणो किण्ह-भुजंगसमो। इणं णाणमंतेणं संजम-कंडोले मुद्देज्जा, अण्णहा सो दंसेज्जा, तुज्झ तवादि-आदगुण-णासो होज्जा। पावं तु पावं, जदि पावीमणो तत्थ णो गच्छेदु पुण पावाणि कइआ तुमं णो आमंतेंति। मणो पावाणि समुदीरेदि पुण गिलाणीए सीसं णिवाडेदि। भो णाणी! जदा तुज्झ मणो गमेदु तुज्झ अणुसारेणं, तदेव तुज्झ णाणं कज्जकारगं। जावं मण-अणुसारेणं तुमं गच्छेहिसि, तावं णिरंजणसरूव-अवत्थं णो लहेहिसि।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

बिना ज्ञानांकुश के मनरूपी हाथी वश में नहीं हो सकेगा। मंत्र के माध्यम से काले सर्प को वश में कर लिया जाता है।

भो आत्मन्! यह मन काले नागतुल्य है। इसे ज्ञान-रूपी मंत्र से संयम की टोकनी में बंद कर ले, अन्यथा वह डस लेगा, तेरे तप आदि आत्म-गुणों का नाश हो जाएगा। पाप तो पाप है, पाप कभी तुझे नहीं बुलाते, यदि ये पापी मन वहाँ न जाए। यह मन पापों को प्रेरित करता है, फिर ग्लानि से सिर नीचा कराता है। भो ज्ञानी! तभी तेरा ज्ञान कार्यकारी है, जब तेरा मन तेरे अनुसार चले। जब तक तू मन के अनुसार चलता रहेगा तब तक निरञ्जन-स्वरूप भगवत्-अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकेगा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

विणा संकप्पं असंभवा सिद्धी

हंसप्पा! जत्थ जीवणं अभारभूदं जीवणे पसण्णत्तं च तमेव जीवणं वरं। धम्म-संजमाणं आणंदो होदु, ण दु विसयाणं। विसयाणंदो णो कोवि आणंदो। जत्थ असंती संतावो, तत्थ कत्थ सुहं? जस्स लाहे कट्ठं, उवओगे तिण्हावड्ढी; तं सुहाभासो ण दु सुहं। सुहं होदि णिराउलं। भो चेयण्ण! तस्स णिराउल-सुहस्स गवेसणे तुमं रदो तम्हा परमपुण्णसाली। तावं कुण उज्जमं जावं णो होदि सग-पओयणसिद्धी, कज्जं अपुण्णकरणं सुहडकज्जं णत्थि। भयसीला कज्जं अपुण्णं मुंचिय समोसरेंति, ण दु सुहडो। जोद्धा जस्स भुजाओ पप्फुरेंति, सो विजयलक्खं गेण्हिय एवं सजण-परिजणत्तो विसज्जिय समरभूमीए पवेसेदि। रिवु-विणासो मेत्त-उद्देस्सो। संगामे

संकल्प के बिना सिद्धि संभव नहीं

हे हंसात्मन्! जीवन वही श्रेष्ठ है, जहाँ जीना भारभूत न हो, जीने में प्रसन्नता हो। आनंद हो विषयों का नहीं, संयम और धर्म का। विषयों का आनंद कोई आनंद नहीं। जहाँ अशांति/संताप हो, वहाँ सुख कहाँ ? जिसकी प्राप्ति में कष्ट हो, उपयोग में तृष्णा की वृद्धि हो, वह सुख नहीं, सुखाभास मात्र है। सुख निराकुल हुआ करता है। भो चैतन्य! तू परम पुण्यशाली है कि उस निराकुल सुख की खोज में लगा हुआ है पर ध्यान रखना, तब तक पुरुषार्थ करते रहना जब तक स्व प्रयोजन की सिद्धि न हो जाए। अधूरा कार्य छोड़ना सुभटों का कार्य नहीं हुआ करता। कायर जन ही कार्य को अपूर्ण छोड़कर भाग जाते हैं, सुभट नहीं। देख, एक योद्धा, जिसकी भुजाएँ फड़कती हैं, वह समरभूमि में प्रवेश करता है विजयश्री का लक्ष्य लेकर व अपने स्वजनों-परिजनों से विदाई लेकर। उद्देश्य है मात्र शत्रु का विनाश। संग्राम में मृत्यु स्वीकार करना पसंद करता है, लेकिन शत्रु के सामने पीठ नहीं दिखाता। जब बेटा जाता है तब माँ कहती है-तू जा रहा है तो चला जा,

मिच्चुं गेण्हेदि, किंदु रिवु-सपक्खिं णवि विणिवट्टेदि। जदा सुहडो गच्छेदि तदा मादू भासेदि-तुमं गच्छेसि, जदि णो सत्ती दु अहुणा वि कुण णिण्णय-परियट्टणं। वच्छ! रणे मरेज्जा, णं छत्ताणि-मादु-दुद्धं मा लज्जाव। मादु-सिक्खणं गेण्हिय सुहडो गच्छेदि। सत्तूहिं जुज्झंतो मादुवयणं चिंतेदि-वच्छ! मिच्चू वरो, पलायणं अवरं। भो णाणी-अप्पा! संजममग्गो हि संगामभूमी। कम्माणि रिवुणो। कम्म-रिवूहिं सह जुद्धो त्थि। मादु-वागवादिणी जाणावेदि-''मे तणुयो! तुमं अहुणा पुट्ठदो मा पस्स, गेज्झ-संकप्पं परिपूरेहि। वीसे संकप्पसत्ती खु वरा। णियमेण तुज्झ विजयो, पहे णिगिण्ह''।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

पर शक्ति न हो तो अभी भी निर्णय को बदल सकता है। ध्यान रखना, वत्स! रण में प्राण दे देना, लेकिन क्षत्राणी-माँ के दुग्ध को मत लजाना। माँ की सीख लेकर सुभट चला जाता है। शत्रुओं से युद्ध करता हुआ माँ की बात याद कर लेता है-बेटा! मृत्यु श्रेष्ठ है, पीछे मुड़ना नहीं। भो ज्ञानी आत्मन्! संयम-मार्ग एक संग्राम-भूमि है। कर्म शत्रु हैं। कर्मशत्रुओं से युद्ध करना है। माँ जिनवाणी समझा रही है-मेरे तनुज! तू अब पीछे नहीं देखना, जो संकल्प लिया है, उसे पूर्ण करना। विश्व में संकल्प-शक्ति श्रेष्ठ है। तेरी विजय नियम से होगी, पथ पर अडिग रहना।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अल्हादकारं होदि धम्मफलं

हंसप्पा! इमो जीवो सोहग्गं णंतहुत्तं लहीअ, अहोभग्गं णो लहीअ। सोहग्गं पायो सामण्णजणा वि लहेंति, अहोभग्गं होदि विसेसो एवं तं विसेसं भजेदि। भवसुहं इत्थिपुत्त-धणधण्णादी चक्कवट्टी-इंदादीणं अब्भुदयसुहाणि वा जीवं सोहग्गादो भजेंति। इणं सुहं अंते णस्सेदि। इणं सुहं खणिगं किलेस-बाहाजुत्तं च। परमट्टेणं दुक्खरूवं। सुकिच्चादो सोहग्गलाहं किच्चा तम्हि पुण्णत्तं अवगमणं खलु णाण-विवेग-बुद्धीए णूणत्तं। पुण्णकम्मं किच्चा संसार-सुहलाहं धम्मं अवगमणं अणुचिदं। धम्मलद्धि-उवायो सुकिच्चं। धम्मफलं मेत्तं सोहग्गं णत्थि, अपित्त सोहग्गत्तो अहोभग्गं पडि गच्छेदि। अहोभग्गसाली-जीवो भव्ववर-पुंडरीगो होदि, पुण्णवंतेसुं पउम-लोयणं च।

धर्म का फल आह्लादकारी होता है

हे हंसात्मन्! इस जीव ने सौभाग्य को अनेक बार प्राप्त किया, पर अहोभाग्य को नहीं। सौभाग्य तो साधारणतः सामान्य-जन भी प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन अहोभाग्य विशेष होता है और वह विशेष को ही प्राप्त होता है। संसार के सुख, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य इत्यादि, चक्रवर्ती/इंद्र आदि के जो अभ्युदय-सुख हैं वे, व्यक्ति को सौभाग्य से प्राप्त होते हैं। यह सुख अंत में विराम लेगा। यह सुख क्षणिक है, क्लेश व बाधा से युक्त है। परमार्थ की भाषा में दुःखरूप ही है। सुकृत्य से सौभाग्य प्राप्त करके उसमें ही पूर्णता समझ लेना ज्ञान व विवेक-बुद्धि की न्यूनता ही है। तात्पर्य यह है कि पुण्य-कार्य करके मात्र संसार-सुख की प्राप्ति तक ही धर्म समझ लेना उचित नहीं है। सुकृत्य तो धर्म प्राप्ति का उपाय है। धर्म का फल सौभाग्य पात्र ही नहीं रहता, बल्कि सौभाग्य से अहोभाग्य की ओर जाता है। अहोभाग्यशाली जीव भव्यवर पुंडरीक हुआ करता है अर्थात् पुण्यशालियों में पद्मलोचन है। अहोभाग्यशाली वह, जिसकी अर्चा व चर्चा सौभाग्यशाली

अहोभग्गवंतस्स चरिचा अच्चणं च सोहग्गवंता करेंति। सोहग्गफलं अब्भुदएणं सह लक्खभूदं णिस्सेयस-सुहं पि हुवदि। ते अहोभग्गवंता जिणदेव-तित्थयर-केवली-वीदरागणिग्गंथ-दियंबरसमणा रदणत्तयधारगा हवेंति। जे सोहग्गं विहेंति, ते खलु परम-अहोभग्गवंता। भो चेयण्ण! तुमं इह दद्धकाले रदणत्तयं लहेसि तम्हा अहोभग्गसाली। अहोभग्गं अहोभग्गरूवं हि धार। दुब्भग्गे मा परियट्ट। रदणत्तयधम्मपालणं किच्चा अहोभग्ग-फलभूदं अविरामं णिस्सेयस-सुहं अहिगच्छ।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

किया करते हैं। सौभाग्य का फल अभ्युदय के साथ लक्ष्यभूत निःश्रेयस-सुख भी प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है। वे अहोभाग्यशाली जिनदेव, तीर्थंकर, केवली, वीतरागी निर्ग्रंथ दिगम्बर श्रमण, रत्नत्रयधारी हुआ करते हैं। जो सौभाग्य को विराम दे देते हैं, वे ही वास्तव में परम अहोभाग्यशाली हैं। भो चैतन्य! तू इस कलिकाल में अहोभाग्यशाली है जो रत्नत्रय-धर्म को प्राप्त किया। अहोभाग्य को अहोभाग्य-रूप ही रहने देना। वहीं दुर्भाग्य में न बदल जाए, इतना ध्यान रखना। रत्नत्रय-धर्म का पालन करके अहोभाग्य का फल निःश्रेयस-सुख को प्राप्त कर, जो कि अविराम है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सगचिंतणादो दिट्ठिलाहो

हंसप्पा! तुमं परादो परस्स बहु-पण्हा किदो। किं तेणं तुज्झ किंपि णिय-णिदाणं? णियणाणेणं णिय-उत्थाणं तुमं किं किदो? जावं तुमं पर-पण्हाणं णिदाण-वक्खाणेसुं च रदो, तावं णो णिय-पण्हा णेव सच्च-णिदाणं च। भो चेयण्ण! एगहुत्तं णियभवणं ठादूणं णियगुरुत्तो णियपण्हा किच्चा कुण णिदाणं। समयं मा पणास। सयलदव्वेहिं सह तुमं सग-संबंधं करेदि, किंदु आउकम्मेणं सह कोवि संबंधो णत्थि। तं सग-समए आगच्छेहिदि एवं तुमं बला णिज्जिहिदि। तं णो पस्सेज्जा तुमं णाणी, बालो अहवा वुड्ढो। तत्थ सव्वेहिं सह समाण-ववहारो। हे मणीसी-अप्पा! इमस्स पुव्विं कुण सगदो पण्हा।

स्वचिंतन से दृष्टि प्राप्त होती है

हे हंसात्मन्! तूने आज तक पर-से पर-के बहुत प्रश्न किए। क्या उससे तेरा निज को कोई समाधान हुआ ? तूने अपने ज्ञान से निज का क्या उत्थान किया ? जब तक पर-प्रश्नों के समाधानों में, व्याख्यानों में लगा रहेगा तब तक न तो निज के प्रश्न होंगे और न सत्य का समाधान। भो चैतन्य! एक बार तो निज-भवन में बैठकर, निज-गुरु से निज-प्रश्नों को करके समाधान कर ले। समय को यों मत निकाल देना, क्योंकि संपूर्ण द्रव्यों से एक बार तू अपना संबंध बना सकता है, लेकिन यमराज (आयुकर्म) से कोई संबंध नहीं है। वह अपने समय पर आएगा और तुझे पर्याय से बलात् ले जाएगा। वह तुझे न ज्ञानी देखेगा, न बाल, न वृद्ध। उसके यहाँ सभी के साथ समान व्यवहार है। हे मनीषी आत्मन्! इसके पूर्व ही तू स्वयं से प्रश्न पर प्रशन कर।

किं इदं? जं किंचिवि दिस्समाणं दव्वं तं किं? किं तं सव्वं सच्चं? किं सव्वाणि तुज्झ? किं तुमं इमेसिं? किं एदाणि सव्वाणि तुज्झ हुज्जा अहवा तुज्झ पयाणम्हि तए सह गच्छेज्जा? णेव। पुणो किमत्थं इमाणि सगस्स मण्णेसि।

कहं दिस्समाणाणि बहि-पदत्थाणि? अणिच्चं वा णिच्चं? पज्जायदो अणिच्चं, दव्वदो णिच्चं, पुणो किमु हरिस-विसादं? जदा दोण्णि अवेक्खा णियदा, पुणो तुमं किमु णो होसि मज्झत्थं? णियम्हि लीएदूणं सयल-वियप्पा परिचत्त, तुमं होहिसि परमाणंद-भोगी।

कस्स? जावदु परदव्वाणि तुमं पस्सेसि, ताणि सव्वाणि कस्स? अयं पण्हो किं कदा तुज्झ चित्ते णो उग्घोसिदो? रे मूढ! जस्स खीरणीरमिव संसिलेस-संबंधो तं देहं पि अप्पादो पुहं होदि, पुणो उवर-दव्वाणि किं हुज्जा तुव? किमत्थं अण्णत्तं णो पस्सेसि?

यह क्या है ? यह पहला प्रश्न है। जो कुछ तू देख रहा है वह क्या देख रहा ? वह सब सत्य है क्या ? सब तेरे हैं क्या ? तू इनका है क्या ? क्या ये सब तेरे होंगे व तेरे प्रयाण होने पर तेरे साथ चलेंगे ? 'नहीं', उत्तर है तो फिर क्यों इन्हें अपना मानता है ?

दूसरा प्रश्न–जो तू बाह्य पदार्थों को देख रहा है, वह कैसे हैं ? नित्य हैं, या अनित्य हैं ? पर्याय की अपेक्षा सभी अनित्य हैं, द्रव्य अपेक्षा नित्य हैं। सब अनित्य हैं, तो हर्ष-विषाद क्यों ? द्रव्य-अपेक्षा सब नित्य ही हैं, तो फिर हर्ष-विषाद क्यों। जब दोनों अपेक्षा नियत ही हैं, तो फिर तू माध्यस्थ क्यों नहीं हो जाता ? अपने आप में लीन होकर संपूर्ण विकल्पों को विराम दे दे, तू परमानंद-भोगी हो जाएगा।

तीसरा प्रश्न है–किसका है ? जितने पर-द्रव्यों को तू निहार रहा है, वे सब किसके हैं ? ये प्रश्न क्या कभी तेरे अंदर उद्घोषित नहीं हुए ? रे मूढ़! दुग्ध-पानी की तरह संश्लेष-संबंध जिसका है, वह शरीर भी आत्मा से पृथक् हो जाता है, फिर अन्य द्रव्य तेरे क्या होंगे ? अन्यत्व को क्यों नहीं दृष्टि में ला रहा ?

एदाणि सव्वाणि कहं तुव हुज्जा? तुमं णाण-चेयण्ण-उवओग-समिद्धो तहा अवर-बहि-परदव्वाणि पोग्गलमयाणि जडभूदाणि। कहं जडस्स वा चेयण्णस्स संबंधो? तम्हा, खलु सव्वाणि पुहं, तुमं पि पुहं।

कत्थ? भो विण्णप्प! तिलोए किंपि एरिसं ठाणं सेसं णत्थि जत्थ तुव जम्मं मरणं णो होसि। ताणि सव्वाणि ठाणाणि तदा तुव णो होसि, अहुणा पुण किं होज्जा? पंचण्हं पण्हाणं णिदाणं सगदो कुण। खयोवसमिग-भावा णियभावा सगस्स णो होंति, कहं परभावा सगस्स होस्संति? कुण एरिसं दढसद्धाणं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

चौथा प्रश्न है–ये सब तेरे कैसे होंगे? अरे तू ज्ञान व चैतन्य-उपयोग से युक्त है और अन्य बाह्य पर-द्रव्य पुद्गलमय/जड़ हैं। जड़ और चैतन्य का कैसा संबंध ? इसलिए सभी भिन्न हैं, तू भी भिन्न ही है।

पाँचवा प्रश्न है–कहाँ ? भो विज्ञात्मन्! त्रैलोक्य में कोई स्थल शेष नहीं रहा जहाँ तू न जन्मा हो और मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। वे सब स्थल तब तेरे नहीं हुए, तो अब क्या होंगे ? पाँचों प्रश्नों का समाधान स्व से कर। निज-भाव (क्षायोपशमिक) अपने नहीं हैं, पर-भाव अपने कैसे होंगे ? ऐसी दृढ़ आस्था कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

वेसम्मे सामण्ण-परिक्खा

हंसप्पा! हेम-परिक्खणं णिगसम्हि होदि। जावं णो णिगसो तावं णो सुद्ध-हेमस्स भूदत्थणाणं। जीविदम्हि सामण्ण-परिक्खणं वेसम्मे होदि। उवसग्ग-परीसहा आदबलं आदसत्तिं च उब्भावेंति। साहग-जीविदं उवसग्ग-परीसहस्स जीविदं। कत्तो सुह-सुविधासुं सच्च-साहणा? आद-साहणाए होदव्वं दिढहिदयी। किंचण उवसग्गे जो होदि भयभीदो, कहं सो कम्मसत्तूहिं जुज्झेदि? जो जीवण-इच्छा-सुण्णो, सो हु करेदि साहणं। जम्हि जीवम्हि जीवण-भावणा, सो भूदत्थ-साहणादो बीहेदि। जहा-बलहीण-सुहडो संगमादो समोसरेदि, सा अवत्था तस्स आदहीण-साहगस्स होदि। सो होदि हस्सपत्तं। भो णाणी! उवसग्ग-सहणत्थं परीसहा संसह, कुण तव-पालणं च; तदेव साहणाए थिरसि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

समता की परीक्षा विषमता में ही होती

हे हंसात्मन्! स्वर्ण का परीक्षण कसौटी पर होता है। जब तक कसौटी नहीं होती तब तक शुद्ध स्वर्ण का सत्य-ज्ञान नहीं हो पाता। समता का परीक्षण जीवन में विषमताओं के आने पर ही हुआ करता है। उपसर्ग/परीषह आत्मबल और आत्मशक्ति को प्रकट करते हैं। साधक का जीवन ही उपसर्ग/परीषह का जीवन है। सुख-सुविधाओं में सत्य की साधना भी कहाँ ? आत्म-साधना के लिए दृढ़-हृदयी होना अनिवार्य है। जरा-सा उपसर्ग प्राप्त होने पर जो भयभीत हो जाता है, वह कर्म-शत्रुओं से कैसे लड़ सकता है ? साधना वही कर सकता है, जिसने जीने की इच्छा का विसर्जन कर दिया हो। जिसके अंदर जीने की भावना है, वह सत्य की साधना से डर जाएगा। शक्तिहीन सुभट जैसे संग्राम से पीठ दिखाकर भाग जाता है, वही अवस्था उस आत्महीन साधक की होगी। वह हास्य का पात्र बनेगा। भो ज्ञानी! उपसर्ग सहन करना सीखना है तो परीषहों को सह, तपों का पालन कर, तभी साधना में स्थिर रह सकता है।।

दुहसुह-लाहालाहा संसारो

हंसप्पा! जदि संसारे णो सुहदुह-लाहालाहा पुणो किं संसारो? पुणो होहिदि णिव्वाणं। संसारत्थ-जीवं इमीसुं विसंगदीसुं संताविदं णो होदव्वं। सव्वाओ णेसग्गिगाओ सायरे पडंतो जीवो णिबुड्डेज्जा पुण इमम्हि किं विसेसत्तं? गहणजले पदणे णिबुड्डणं साहाविगं। सो सायरे किमत्थं णिबुड्डेदि, इह विसए चिंतणत्तो णो लाहो। अरे बंधु! णिबुड्डण-रक्खणभूद-सायरणिग्गमणभूद-मग्गस्स भूदत्थस्स चिंतणं कुण। णिबुड्डणं दुक्खमणणं च मूढस्स कज्जं, ण दु विण्णस्स। भो अण्ण! इदि भवण्णवे णिबुड्डंतो दुक्खपगासणत्ते तुमं णो सुही। सुही दु भवसायरत्तो णिग्गमणे एव हुज्जा। तम्हा, भवतारग-मग्गे अचलादो कुण गमणं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

दुःख-सुख, लाभ-अलाभ का होना ही संसार है

हे हंसात्मन्! यदि संसार में दुःख-सुख, लाभ-अलाभ न हो तो फिर संसार ही क्या ? फिर मोक्ष ही न हो जाएगा। संसारी जीव के लिए इन विसंगतियों में दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है। ये तो सब प्राकृतिक ही समझो। क्योंकि, सागर में गिरा व्यक्ति यदि गोते लगाने लगे तो इसमें विशेष बात क्या है ? गहन जल में गिरने पर गोते लगाना स्वाभाविक है। इस विषय पर विचार करने से कोई लाभ नहीं है कि वह सागर में गोते क्यों लगा रहा है। अरे भैया! चिंतवन ही करना है तो सम्यक् का करो, जो गोतों से बचने और सागर से निकलने का मार्ग है। गोते लगाते रहना और दुःख मनाते रहना अज्ञ व्यक्ति का कार्य है, विज्ञ का नहीं। भो अज्ञ! इसी प्रकार संसारार्णव में गोते लगाते हुए दुःख को प्रकट करने से तू सुखी नहीं हो सकता। सुखी तो संसार-सागर से निकलने पर ही होगा। इसलिए, सागर-पार होने के मार्ग पर अचल होकर गमन कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भोगत्तो असंभवा संती

हंसप्पा! इह भोगवादी-जुगम्हि अज्झप्पिगत्त-महच्चं किमत्थं होदि णूणं? इमस्स चिंतणं णवि कुज्जा। सच्चं होदि थोवं, णं होदि वरं। भोग-भोगणे उम्मत्तो मूढो जोगं णो जाणेदि, जोग-धारणेणं विणा संति-सुहं च णो भजेदि। जदा जीवो गिम्हकाल-तावे तिव्वतावं-भजेदि तडफडेदि, तदा सीयल-समीर-वंछं करंतो आगासं पस्सेदि कदा आगासे जयंतो फुड्डेदु एवं संतिं भजेदु। एवमेव अवत्था भोगिणो। जदा भोगी भोदिगत्त-आदिच्चदो तवेदि तदा तं जोग-अज्झप्पिगत्त-सीयल-उम्मि-जुदस्स जयंतस्स मिदी आगच्छेदि। भुजंगा चंदण-रुक्खेणं पगाढरूवेणं सारेज्जा, णं मऊर-वयणं सुणिदूणं ते पलाएंति। सहस्स-भुजंग-मज्झे, एगो मऊरो पुक्खलो। अंते भोगं जोगम्हि समप्पेज्जा, तदेव संति-सुहं च संभवं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

भोगों से शांति संभव नहीं

हे हंसात्मन्! इस भोगवादी युग में आध्यात्मिकता का महत्त्व कम होते क्यों दिख रहा है ? इसका विचार नहीं करना चाहिए। सत्य अल्प होता है, परंतु श्रेष्ठ होता है। भोगों के भोगने में उन्मत्त अज्ञजीव योग को न समझे, परंतु योग-धारण किए बिना शांति-सुख मिलनेवाला नहीं है। जब व्यक्ति ग्रीष्मकाल की तपन में तीव्र ताप को प्राप्त होता है, छटपटाता है, तब शीतल समीर की आकाँक्षा करता हुआ आकाश को निहारता है कि कब आकाश में चाँद प्रकट हो और मुझे शांति प्राप्त हो सके। देख, यही अवस्था भोगी की है। जब भोगी भौतिकता के आदित्य से तप जाता है तब उसे योग/आध्यात्मिकता की शीतल उर्मियों से युक्त चंद्रमा की याद आती है। भुजंग चंदन के वृक्ष से प्रगाढ़रूप से लिपट रहे हों, पर एक मयूर की आवाज सुनकर वे भागने लगते हैं। हजारों भुजंगों के बीच एक मोर काफी हुआ करता है। इसी प्रकार भोग-भुजंग के लिए एक योगी-मयूर ही काफी है। अंत में भोग को योग में समर्पित होना ही पड़ेगा, तभी सुख-शांति संभव है।।

आदसुहत्थं आवस्सगो संजमो

हंसप्पा! भावाणं सरिदा विउल-पगाढा। इमाए सीमा-लंघणं वीरकज्जं, ण दु भयसीलस्स। जे बाहुत्तो सायरं उत्तारेंति, ते जोद्धारा वि णो विसेसा। उत्तमा सुहडा भाव-आवगं उत्तारेंति। जे भाव-आवगाए णिबुड्डेंति, ते भवसायरत्तो कदावि णो उत्तारेंति। परिणाम-दसा विचित्ता, इमं जाणेदि मणीसी संतो जोगी वा। एगसमयस्स परिणामसंखा विसाला। णिए गमिदूणं पस्स, जीवणं कहं परिणाम किदो, तदणुसारेणं कम्माणि य किदो? जदा तेसिं कम्माणं विवागो होहिदि, तदा तुव किं होहिसि? किंचण विचिंत। अज्ज पुव्व-पुण्णं कज्जं करेदि, सयल-सुह-सुविधा-भोगसामग्गीओ भजेंति। पुण्णफले पावकम्म-असुहभाव-अणुहवो णो होदि। जदा दसाणण-कंसाणं

आत्म-सुख के लिए संयम आवश्यक

हे हंसात्मन्! भावों की सरिता बहुत गहरी है। इसकी सीमा को पार करना वीरों, का कार्य है, कायरों का नहीं। वे योद्धा भी विशेष नहीं जो अपनी भुजाओं से सागर को पार कर लेते हैं। श्रेष्ठ सुभट तो वे हैं जो भावों की आपगा (नदी) को पार कर लेते हैं। भावों की नदी में जो गोते लगाते रहते हैं वे जीव कभी भी भवसागर से उत्तीर्ण नहीं हो सकते। परिणामों की दशा विचित्र है, जिसे संत/मनीषी/योगी ही समझ पाते हैं। भो ज्ञानी! एक समय के परिणामों की संख्या विशाल है। जीवन में कितने प्रकार के परिणाम किए, तदनुसार कर्म किए, देख स्वयं में जाकर। जिस दिन उन कर्मों का विपाक आएगा उस दिन तेरे ऊपर क्या बीतेगी ? कुछ क्षण चिंतवन कर। अभी पूर्व का पुण्य कार्य कर रहा है, सब सुख-सुविधाएँ/भोग-सामग्रियाँ प्राप्त हो रही हैं। पुण्यफल में पापकर्म/अशुभ भावों का अनुभव नहीं होता। जब पुण्य था रावण का, कंस का, तब उन्हें भी पता नहीं चलता था कि कुछ दुष्कर्म कर रहा हूँ या नहीं। शरीर का बल, धन का मद, इंद्रियों का दर्प भोले जीव को स्व विवेक-बुद्धि से भ्रष्ट करा देता है। आत्मवैभव का

च पुण्णं आसी, तदा ते किददुक्कम्मं णो जाणेंति। देहबलं, धणमदो, अक्खदप्पो मूढजीवं सग-विवेग-बुद्धीदो पडिभंसावेदि। आदवेहवस्स किंचिवि णाणं णो होदि किं अहं, किं मे धम्मं, कि में वेसो? अक्खभोगा करेंति कत्तव्व-अकत्तव्व-सुण्णं। भो चेयण्ण! परमेसरत्तो कुण पत्थणं, हे भगवं! भवभमणत्तो णिवज्जेमु, अक्ख-भोग-वेदणत्तो णिवज्जेमु। भूदवाहिं सप्पदंसणं च मंत-ओसहेहिं णिरोगं कीरेदि, जदा अण्णजीवं कम्मज्जरो पीडेदि, तदा सो किंचणं पि णो पस्सेदि। पाणं णासेदि अहवा पाणत्तो अदिपिय-संजमं णासेदि। भो अप्पा! कुणेहि पाणपिय-संजम-रक्खणं। आदसुहं इच्छेसि दु भावेसुं मा पवहेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

लेश मात्र भी भान नहीं होने देता कि मैं क्या हूँ, मेरा धर्म क्या है, मेरा वेष क्या है ? कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य से शून्य कर देते हैं इंद्रियों के भोग। भो चैतन्य! परमेश्वर से प्रार्थना करना कि भगवन्! भव-भ्रमण से बचूँ, इंद्रियों के भोगों की वेदन से बचकर रहूँ। जीवन में भूत-व्याधि हो जाए, सर्प डस ले, तो उसे मंत्र व औषधि द्वारा ठीक किया जा सकता है, पर भोले प्राणी को जब कामज्वर पीड़ित करता है, तब बेचारे को कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता है। या तो प्राण नष्ट कर बैठता है या फिर प्राणों से भी अतिप्रिय प्रण (संयम) को नष्ट कर लेता है। भो आत्मन्! प्राणप्रिय संयम की रक्षा कर। भावों में मत बहना, आत्म-सुख चाहता है तो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

विसणं विसं

हंसप्पा! विसणं अत्थि विसं। विसकणो णिहिलदेहं विसजुदं करेदि एवं जीवो सयदि चिर-णिद्दाए। भो विवेगी! विसं विघादेदि वट्टमाण-देह-मेत्तं, विसण-विसं जीवं भवे भवे संदावदि। विसणं पउत्ती, रूढत्थे असुहपउत्ती जाए विमोयणं अदि-दुक्करं। विसण-जुदो पाणं णासेदि, पुणरवि विसणं णो मुंचेदि। सहस्स-जीवा विसणेहिं चारुजीवणं णासेदि। विसणसमिद्धो पडिपलं होदि भयभीदो उदासीणो हीणभावणा-गसिदो लज्जागुणरित्तो रिवुसमूह-जुत्तो वा। सो वसेदि धम्म-धम्मप्पासुंतो पुहं। हीण-आदबलेणं सुपुरिस-सम्मुहे णो गच्छेदि। सो होदि सज्जण-संगदि-विरत्तो दुट्ठ-संगदि-आसत्तो वा। सत्त होंति कुविसणाणि, सत्तणरगदार-भूदाणि वा।

व्यसन विष है

हे हंसात्मन्! व्यसन विष है। एक कणिका विष की सारे शरीर को विषाक्त कर देती है तथा व्यक्ति को चिर-निद्रा में सुला देती है। भो विवेकी! विष तो मात्र वर्तमान देह का विघात करता है, पर व्यसन-रूपी-विष जीव को भव-भव में दुःखित करता है। व्यसन का अर्थ आदत है, परंतु रूढ-अर्थ में वह गलत-आदत है, जिससे छूटना अति-दुष्कर है। व्यसन में पड़ा व्यक्ति प्राण नष्ट कर बैठता है, परंतु व्यसन नहीं छोड़ पता। जीवन में वह शिखर-रूप पद को प्राप्त कर लेता है, लेकिन अपनी दुष्ट परिणति को नहीं छोड़ता। लाखों-लाखों जीव अपने सुदंर जीवन से हाथ धो बैठे व्यसनों के कारण व्यसनी व्यक्ति प्रतिपल भयभीत, उदासीन, हीनभावना से ग्रसित रहता है। लज्जा-गुण से रिक्त, शत्रुओं के संघात (समूह) से युक्त रहता है। धर्म और धर्मात्माओं से कोसों दूर रहता है। आत्मबल उसके पास इतना नहीं रहता है कि किसी सद्पुरुष के सामने पहुँच सके। सज्जनों की संगति से विरक्त तथा दुष्टों की संगति में आसक्त रहता है। वे कुव्यसन सात होते

भो अण्ण! जदि इच्छेसि उहयलोगम्हि सुहसंपत्तिसंजुद-आणंदमयजीवणं, पुण विसणत्तो अवसप्प। सुसावगं जुअ-मंसभक्खण-सुरासेवणं च जावज्जीवं मुंचेज्जा। इमेहिं जुत्तो सामण्ण-सावग-सण्णापत्तं णत्थि, पुणो कहं होदि सो मुमुक्खू।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

हैं, वे नरक के सीधे द्वार ही हैं। भो भोले प्राणी! यदि इस लोक, परलोक, उभयलोक में सुख-सम्पत्ति से युक्त आनंदमय जीवन व्यतीत करना चाहता है तो व्यसनों से दूर रहना। जुआ, माँस-भक्षण और मदिरापान सद्-श्रावक को सदा-सदा के लिए छोड़ ही देना चाहिए। इनसे युक्त व्यक्ति सामान्य श्रावक भी कहलाने का पात्र नहीं है, फिर वह मुमुक्ष कैसे हो सकता है ?

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णाणं आदधम्मं

हंसप्पा! णाणं चेयण्णस्स अणुवमगुणो, जं विणा णो होदि चेयण्ण-धम्म-अहिणाणं। णाणं अप्पस्स अप्पधम्मं। तं अप्पम्हि विज्जदे, तस्स पगासस्स उज्जमो तुव कत्तव्वं। बहिदो णाणं णो आगच्छेदि, तं तु तुव समीवं तिक्काले। जहा भूमीए सलिलं विज्जमाणं, णं पायो णो दीसेदि। णीरं तु कूव-पहुदीसुं दीसेदि। किं कूव-उक्खणणेणं णीरं भूमीए जादं? एसो णत्थि। णीरं वसुहाए पुरदो तेयालिगं, णं तं मिट्टिगा-उप्पल-अच्छादिदं। खणणकारो णीरं णो किदो, णीरच्छादिद-आवरणं पडिसारेदि। जहेव आवरणं होदि पुहं, णीर-सोदं पव्वाहेदि। एवं कम्मपडल-अच्छादिदो त्थि आदा। कम्मपडला णासिय णिय-उज्जमेणं तुव णाण-णीरं फुड्डेज्जा।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

ज्ञान, आत्मा का निज धर्म

हे हंसात्मन्! ज्ञान, चैतन्य का वह अनुपम गुण है जिसके बिना चैतन्य-धर्म की पहचान नहीं हो सकती है। ज्ञान, आत्मा का निजधर्म है। वह निज के अंदर भी विराजमान है, उसे प्रकट करने का पुरुषार्थ करना तेरा कर्त्तव्य है। ज्ञान कहीं से लाया नहीं जाता, ज्ञान तो तेरे पास त्रिकाली है। देख, जैसे भूमि में पानी विद्यमान है, पर साधारणतः दृष्टिगोचर नहीं होता। पानी तो कूप आदि में दिखता है। क्या कुएँ के उत्खनन से पानी भूमि में उत्पन्न हुआ है ? नहीं, ऐसा नहीं है। नीर तो वसुधा के अंदर पूर्व से ही त्रैकालिक था, पर वह मिट्टी व पत्थर की पर्तों से आच्छादित था। शिल्पकार ने पानी को तैयार नहीं किया, पानी पर ढँकी हुई पर्तों के आवरण को हटाया। जैसे ही आवरण पृथक् हुआ, पानी का स्रोत स्फुरायमान हो गया। इसी प्रकार आत्मा के ऊपर कर्मों की परतें आच्छादित हैं। उन परतों को नष्ट कर निज पुरुषार्थ से, तेरा ज्ञान-नीर प्रकट हो जाएगा।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णाणं अखंडजोदी

हंसप्पा! णाणरूव-अखंडजोदी कदावि समीर-वेगत्तो णो णिव्वेदि। सपर-पगासग-जोदिमयं अखंड-पगासपुंजं णाणं अप्पस्स अप्पधम्मं च। णाणलद्धी होदव्वा आदुत्थाणत्थं, ण दु परोवएस-परहिदत्थं। जम्हि सपरहिदं णिहिदं, तमेव णाणं सण्णाणं। जेणं होदु हिदलद्धी अहिद-परिहारो, जग्गेदु उवेक्खाभावो, फुड्डेदु मज्झत्थभावो; एवमेव णाणफलं। अविणयजुदस्स, विधम्मिस्स, मिच्छत्तजुदस्स, जिणसासण-जिणदेव-पडिणीयस्स ण दु कुण आदरं णेव अणादरं च। णादा-दिट्ठा होदूणं णिवसणं मज्झत्थ-वित्ती। तेणं होदि रागद्दोस-अभावो। उवेक्खा उदासीण-वित्ती, बहि-आडंबरत्तो उदासीणत्तं च। आदहिदं पडि उस्साहो सम्मणाण-फलं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

ज्ञान अखण्ड-ज्योति है

हे हंसात्मन्! ज्ञान वह अखण्ड ज्योति है, जो कभी वायु के झोंकों से बुझती नहीं है। स्व-पर को प्रकाशित करनेवाला ज्योतिर्मय अखण्ड प्रकाशपुंज ज्ञान है, आत्मा का निज-धर्म है। ज्ञान की प्राप्ति आत्मोत्थान के लिए होनी चाहिए, मात्र परोपदेश व परकल्याण के लिए नहीं। वही ज्ञान सत्-ज्ञान है, जिसमें स्व-पर कल्याण निहित होता हो। हित की प्राप्ति, अहित का निराकरण जिससे हो तथा उपेक्षा-भाव जाग्रत हो और माध्यस्थता प्रकट हो, यही ज्ञान का फल है। जो अविनयी है, विधर्मी है, मिथ्यात्व से युक्त है, जिनशासन/जिनदेव के प्रतिकूल चलता हो, ऐसे लोगों का न अनादर करो और न आदर। ज्ञाता-दृष्टा बनकर रहना अपने आप में यह माध्यस्थ-वृत्ति है। उससे राग-द्वेष का अभाव होता है। उपेक्षा यानि उदासीन-वृत्ति, बाह्य आडम्बरों से उदास रहना। आत्मकल्याण के प्रति उत्साहित रहना सम्यक्ज्ञान का फल है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सामण्णेण गुरुत्तलद्धी

हंसप्पा! जीवणे संघरिसं सिक्खेहि। संसारत्थ-जीवस्स सयल-जीवणं संघरिसमयं। जो सहेदि संघरिसं, सो होदि पहाणो, लोए लहेदि पुज्जत्तं, परलोए भजेदि परमप्पपदं च। जो होदि विमुहो, सो भजेदि कट्ठाणि, होदि उहयलोए णिंदा-पत्तं, कदावि णो भजेदि आदुण्णदिं एवं णिच्चं होदि हीणत्त-दीणत्त-गसिदो। जीवणे पत्त-उवसग्ग-परीसहा तुमं दिढ-चित्तादो सम्मभावेणं सहेसु। रामो पंडवा पासणाहो अहवा वड्ढमाण-देवो विसमकाले वि सामण्णं धारीअ, तम्हा ते हु उत्तमा। एदे सव्वे संघरिसाणं पुण्ण-पोरुसेणं सहेंति एवं णो किदा संधिं रिवूहिं, कम्म-रिवुणो अच्छोडेंति। वड्ढमाण-पावण-पव्वो वि एवमेव सासेदि। वच्छ! तुमं पुरदो संवड्ढ, पुट्ठदो मा

साम्यता से ही महानता की प्राप्ति

हे हंसात्मन्! जीवन में संघर्ष करना सीख लेना। संसारी जीव का सारा जीवन ही संघर्षमय होता है। जो संघर्ष का सामना करता है वह महान् बन जाता है, लोक में पूज्यता को प्राप्त कर लेता है, परलोक में परमात्म-पद को प्राप्त होता ही है। जो संघर्ष से विमुख हो जाता है, वह कष्टों को तो प्राप्त होता ही है, साथ ही उभय लोक में निंदा का पात्र भी होता है और कभी भी वह आत्मोन्नति को प्राप्त नहीं होता है, हीनता/दीनता से सदैव ग्रसित रहता है। जीवन में चाहे कितने ही उपसर्ग/परीषह क्यों न आएँ, लेकिन तू दृढ-चित्त होकर साम्यभाव से सहन करना सीख ले। जिन्होंने विषमकाल में भी साम्य को स्थान दिया वे ही महान् हुए हैं, चाहे वे राम हों या पांडव, पार्श्वनाथ या महावीर स्वामी। इन्होंने संघर्षों का पूर्ण पौरुष से सामना किया है तथा शत्रुओं से समझौता नहीं, कर्म-शत्रुओं को पछाड़ा है। आज का पावन पर्व भी यही सीख दे रहा है। वत्स! तू आगे बढ़, पर पीछे मुड़के नहीं, आगे-आगे ही देखा। मार्ग की विषमताओं को नहीं, घाटियों/

गच्छ, पुरदो हि पस्स। मग्ग-विसमदाओ, पव्वदा, सिलाखंडसिलाओ मा पस्स, पस्स लक्खं। पस्स मग्गिं, ण दु मग्गं। मग्गं पस्सेज्जा दु थक्केज्जा, मग्गे हि थंभेज्जा। मग्गे समिदिपुव्वं संचर, दूरं मा पस्स अण्णहा मग्गे हि थक्केहिसि, मग्गिं णो लहेहिसि। पस्स घोर-उवसग्गं पत्ता अकंपणाइरिय-पहुदी सत्तसयमहासमणा, पुणो वि अकंपा णिच्छला विज्जिदा। तेसिं मुहे वा देहे किंचिवि सिलवड-रेहा णो फुड्डेज्जा। धण्णं तेसिं महासमणाणं सामण्णं, जे पडिकार-भावणा-रहिदा णिय-भावविसुद्धीए अहोणिस-रदा। तेणं अज्ज ते सव्वपुज्जा। भो अप्पा! तुमं अप्पम्हि णिच्छलो होदूणं लब्भ आदवेहवं।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

पहाड़ियों को नहीं, कंकड़-पत्थर को नहीं, मंजिल/लक्ष्य को देख। मार्ग को नहीं, मार्गी को देख। मार्ग देखोगे तो थक जाओगे, मार्ग में ही रुकना पड़ेगा। मार्ग पर समितिपूर्वक तो चल, किंतु दूरी पर दृष्टिपात मत कर, नहीं तो रास्ते में ही थक जाएगा, मार्गी को प्राप्त नहीं कर सकेगा। देख, अंकपनाचार्यादि सात-सौ महायोगियों को, जिन्होंने भीषण-घनघोर उपसर्ग को प्राप्त किया, फिर भी अकम्प/निश्चल/अखण्ड विराजे रहे। उनके मुख में, तन में लेशमात्र भी सिकुड़न की रेखा प्रकट नहीं हुई। धन्य हो उन यतिराजों की समता को, कि प्रतिकार की भावना से रहित निज-भावों की विशुद्धि में अहर्निश तत्पर रहे। इसी कारण आज वे सब के पूज्य हो गए। भो आत्मन्! तू स्व में निश्चल होकर आत्मवैभव को प्राप्त कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

करणीयाकरणीय-णाणं विवेगो

हंसप्पा! विसाल-आसा-धारं सामण्णजीवा णो जाणेदि। किं कादव्वं किं णो कादव्वं, होदि विवेगसुण्णा। एगा आसा णो समावेदि, अवर-आसा उप्पज्जेदि। आकंखाजालाए कइयाइं संग खु विसरेदि। जो होदि आसा-दासो, सो होदि वीस-दासो। जो जयदि आसाओ, सो वीसं करेदि सगदासो। किमत्थं जीवो राइणो सेवेदि? किं कोवि अण्णस्स सेवं इच्छेदि? किं अण्ण-सेवाए होदि आणंदो? अरे बंधु! जस्स कुक्खित्तो जम्मेदि तस्स सेवं पि णो करेदि। मादु-पिदु-गुरूणं च सेवं णो करेदि, पुण राइणो सेवेदि। इमा किं सामी-सेवा, सत्थ-सेवा अहवा आसा-सेवा? राइणो सेवादो अत्थलाहो। अत्थेणं करेदि अण्ण-सेवं। विचित्तकम्मं किच्चा जीवो अज्जेदि धणं पुणरवि

करणीय-अकरणीय ज्ञान ही विवेक है

हे हंसात्मन्! आशाओं की धारा विशाल है, जिसे सामान्य जीव तो समझ ही नहीं पाता। क्या करना चाहिए क्या नहीं, विवेक-शून्य हो जाता है। एक आशा पूरी नहीं हो पाती कि दूसरी सामने आ जाती है। कभी-कभी अपने आप को ही भूल जाता है आकाँक्षाओं की ज्वाला में। आशा का जो दास बन जाता है, वह विश्व का दास बनकर जीता है। जिसने आशाओं पर विजय प्राप्त कर ली, वह विश्व को अपना दास बनाकर रखता है। व्यक्ति राजा की ही सेवा क्यों करता है ? क्या कोई किसी की सेवा करना पसंद करता है ? क्या अन्य की सेवा में आनंद आता है ? अरे भैया! जिसकी कोख से जन्म लेता है उसकी सेवा करने से भी पीछे हटता है। माता-पिता, गुरुवर की सेवा नहीं करना चाहता, लेकिन राजा की सेवा करता है। ये क्या स्वामी की सेवा है या स्वार्थ की और आशा की सेवा है ? राजा/स्वामी आदि की सेवा करने से अर्थ की प्राप्ति होगी। अर्थ के प्रयोजन से अन्य की सेवा करता है।

हाहाकारं करेदि। किंचिवि णो लहेदि सुहसंतिं च। आसारूवसरिदा-जलप्पावणं अवरोहण-उवायो संतोस-जलसंगहण-णिम्माणं अण्णहा आसा-आवगा णो समेदि। अणुवम-णिही संतोसो, जस्स लद्धी पक्खीण-पुण्णप्पाणो णो होदि, पबल-पुण्णवंत-संतपुरिसा एव होदि। संतोस-धणसंपण्णो जत्थ वि गच्छेदि सो करेदि सुहसंति-वेदणं। तस्स संपक्के जे वि आगच्छेंति ते करेंति किंचि खणं उत्तम-अणुहवणं। अणुवमं संतोसमंतं। जेणं आसा-पिसायो समोसरेदि तस्स मंतस्स कुण आलंबणं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

नाना प्रकार के कर्म करके जीव धन कमाता है, फिर भी हाय-हाय करता रहता है। सुख-शांति की प्राप्ति लेश-मात्र भी नहीं करता। यदि आशारूपी सरिता की बाढ़ को रोकना चाहता है तो मात्र एक ही उपाय है-संतोष/शौच का बाँध खड़ा कर दे अन्यथा आशारूपी आपगा (सरिता) शांत होनेवाली नहीं है। संतोष अनुपम निधि है, जिसकी प्राप्ति क्षीण पुण्यात्माओं को नहीं हुआ करती है, प्रबल पुण्यशाली संत-पुरुषों को ही हो पाती है। जो संतोष-धन से संपन्न है, वह जहाँ भी जाता है सुख-शांति का वेदन करता है। उसके संपर्क में जो भी आते हैं वे भी कुछ क्षण को अच्छा अनुभव करते हैं। संतोषमंत्र अनुपम है। आशारूपी पिशाच जिसके माध्यम से पलायन कर जाता है उसी मंत्र को आलम्बन ले।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अवर-कालुस्सभाव-अवगमणं दुक्करं

हंसप्पा! आगासणक्खत्त-फासणं सुगमं सायरत्थमुक्तागणणा वा सुगमा, कालुस्सहिदयी-जीवस्स भाव-अहिणाणं बाहुत्तो सायर-पारमिव दुग्गमं। हिदय-णिट्ठुरं अवगमणं विउल-दुक्करं। बहिदो णिम्मल-बदरीफलमिव णिद्धं होदि, अप्पकज्जकरणत्थं अण्ण-चरणेसुं अच्छेदि; कज्जसिद्धीए ताणि चरणाणि तच्छेदि। एरिसो जीवो होदु केई वि पज्जाए वेसे वा, पुणरवि अप्प-कालुस्स-सहावं णवि विसज्जेदि। सग-पर-पूया-अवमाणेसुं च करेदि परमसुह-अणुहवणं। पुज्जाणं अणादरे तं होदि सग्गसुहमिव अणुहवो। जस्स चित्तं ईसाजुत्तं, सो णो पस्सेदि अप्प-जोग्गत्त-सामत्थं च। जत्थ णो भिच्च-सामत्थं, तत्थ सामित्तं

पर-के कलुषित भावों को समझना दुष्कर है

हे हंसात्मन्! आकाश के तारों को स्पर्श कर लेना, सागर के अंदर स्थित मोतियों को गिन लेना आसान है, पर कलुषित-हृदयी व्यक्ति के अंदर के भाव जानना उतना ही कठिन है, जितना कि भुजाओं से सागर पार करना। यों कहना चाहिए कि हृदय से कठोर आदमी को समझना बहुत दुष्कर है। ऊपर से निर्मल बेरी जैसा चिकना-चुपड़ा रहता है, अपना उल्लू सीधा करने के लिए दूसरों के चरणों में पड़ा रहता है, कार्य-सिद्ध होने पर जिन चरणों में सिर झुका रहा था, उन्हीं चरणों को काट लेता है। ऐसा जीव चाहे जिस पर्याय में हो, किसी वेष में हो, पर अपने कलुषित स्वभाव का विसर्जन नहीं कर पाता। स्व की पूजा, पर की अवहेलना में परम-सुख का अनुभव करता है। पूज्यों के अनादर में उसे ऐसा सुख अनुभव होता है जैसे कि स्वर्गों के सुख प्राप्त हो गए हों। ईर्ष्या से भरा हो अंतःकरण जिसका, वह अपनी योग्यता व क्षमता को नहीं देखता, भृत्य बनने की जहाँ क्षमता नहीं, वहाँ स्वामीपना प्रकट करता है। कलुषित-हृदयी व्यक्ति पूर्ण जीता-जागता अज्ञानता का पुलता ही समझो। मात्र देखने का है, कुछ काम आने का नहीं। कलुषित-

उग्घाडेदि। कलुसिदचित्तो जीवंतो वि अण्णाणत्त-पडिकिदी। दंसणस्स मेत्तं, अप्पओयणीयो वा। कलुसिदस्स मणे तणे य होदि कालिमा, पुणो किं होहिदि वयणद्विदी? वयणं सरव्व बोल्लेदि। विस-गंडूसो णो होदि जावदु कडुगो, तावदु कडुग-वयणं बोल्लेदि। तस्स सद्द-कोसम्हि णो सुट्ठु-दिव्व-महुरभासग-सद्दो। एरिसा जीवा सुट्ठु-सद्द-उच्चारणे मण्णेंति हीणत्तं। ते विचारेंति-जदि पुज्जादो सुट्ठु-वयणं बोल्लेज्जा दु हुज्जा लहू। 'णो बिहेमि हं', इदं अहंभावजुद-सद्दोवओगं करेदि। भो णाणी! परमप्पादो कुण पत्थणं-जावं णो णिव्वाणं, तावं एरिसाणं महाणुभावाणं संगो णो भजेज्जा।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

हृदयी के मन में कालिमा होती है, तन में भी कालिमा होती है, फिर वचनों का कहना ही क्या ? वचन तो बाण-जैसे बिखेरता है। विष का घूँट जितना कटुक नहीं होगा उतने कडुवे वचन बोलता है। उसके शब्दकोश में कोई भी सुष्ठु, सुंदर, मधुर वाणी बोलनेवाला शब्द ही नहीं होता। ऐसे लोग अच्छे शब्द बोलने में अपनी हीनता मानते हैं। वे सोचते हैं कि यदि हम पूज्यों से, आदरणीयों से अच्छे, वचन बोलेंगे तो हम लघु हो जाएँगे। 'मैं किसी से डरता नहीं हूँ' ऐसे अहंकारी शब्दों का प्रयोग करता है। भो ज्ञानी! परमात्मा से प्रार्थना करना कि ऐसे महानुभावों का संग/साथ न मिले जब तक कि निर्वाण न हो जाए।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णाणगोरवो अगम्मो

हंसप्पा! जहा अणलधम्मो उण्हत्तं, णीरधम्मो सीयलत्तं, इक्खु-धम्मो माहुरियं; तहेव आदधम्मो णाणदंसणं। जम्हि तच्चं विवुज्झेदि, चित्तं णिरुज्झेदि, अत्ता विसुज्झेदि; जिणसासणे तमेव णाणं। जं चित्तं करेदि चंचलं, जेणं इंदियाणि भामेसुं धावेज्जा, जेणं कसाएसुं तिव्वत्तं होदि, भोग-साहणेसुं परिणदी गच्छेदि, विस-कूड-पंजर-गुण-णिम्माणे बुद्धी गच्छेदि; तं णाणं असमीचीण-णाणं।

जेणं रागं विरज्जेदि, जेणं मोक्खं रज्जेदि, जेणं मित्तिं लहेदि, बहि-आडंबरेसुं पुहं जीवेदि; तं णाणं जिणसासणे। भो पण्ण! पबलपुण्णवंतं भजेदि णाणं पसत्थचरिया अत्त-णिब्भरत्तं च। णाणेणं भेयविण्णाण-

ज्ञान की महिमा अगम्य है

हे हंसात्मन्! जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है, जल का धर्म शीतलता है, ईख का धर्म मीठापन है, उसी प्रकार आत्मा का धर्म ज्ञान-दर्शन है। जिसमें तत्त्व का बोध होता है, मन का निरोध होता है और आत्मा शुद्ध होता है, वही जिनशासन में 'ज्ञान' नाम को प्राप्त होता है। जो मन को चंचल करता हो, जिससे इंद्रियाँ भोगों की ओर दौड़ती हों, जिनके माध्यम से कषायें तीव्रता को प्राप्त होती हों, भोग-साधनों में परिणति जाती हो, विष, कूट, पञ्जर, रस्सी आदि के बनाने में बुद्धि जाती हो, उस ज्ञान को जिनशासन में समीचीन 'ज्ञान' की संज्ञा नहीं दी गई है।

जिनशासन में ज्ञान वह है जिसके द्वारा राग से विरक्त होता हो, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता हो, जिसके द्वारा मैत्री को भाषित करता हो, बाह्य आडम्बरों से परे जीता हो। भो प्रज्ञ! ज्ञान/बुद्धि, चर्या की प्रशस्तता और आत्मनिर्भरता-ये तीनों वस्तुएँ प्रबल पुण्यवान् को ही प्राप्त होती है।

आदसद्धाण-सम्मणाण-वड्ढी। मणस्स णाणं वसीकरणमंतं। जदा जदा जोगीणं चित्तं अथिरं, तदा तदा ते णाणदिट्ठीदो तच्चदिट्ठीदो सगचित्तं सगसहावे आणेंति। चित्तकलंक-विणासण-णाणं खु भूदत्थणाणं। णाणमहिमा समए अगम्मा। णाणी करेदि सपरहिदं। णाणी करेदि जिणसासणस्स णियप्पस्स य सुप्पहावणं। तित्थयर-पयडि-बंधग-भावणासुं अभिण्ह-णाणोवओग-भावणा। सच्चसाहगो खणं पि णियोवओगं णाणविहूणं णो करेदि। समए पंचमयाले उक्किट्ठसाहणा णाणाराहणा भणिदा, ताए रज्ज।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

ज्ञान के माध्यम से भेद-विज्ञान, आत्म श्रद्धान और सम्यग्ज्ञान में वृद्धि होती है। मन के लिए ज्ञान एक वशीकरण मंत्र है। जब-जब योगी का चित्त चंचलता की ओर जाता है, तब-तब वे ज्ञानदृष्टि से, तत्त्व-विज्ञान से अपने चित्त को स्व-स्वभाव की ओर लाते हैं। अतंःकरण की कालिमा को नष्ट करनेवाला ज्ञान ही सच्चा ज्ञान होता है। ज्ञान की महिमा आगम में अगम्य कही है। ज्ञानी-जीव स्व-पर कल्याण करता है। तीर्थंकर-प्रकृति की बंधक भावनाओं में अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग नाम की चौथी भावना है। सत्य-साधक एक क्षण भी अपने उपयोग को ज्ञानविहीन नहीं करना चाहता है। पंचम काल में सर्वश्रेष्ठ साधना ज्ञानाराधना ही आगम में कही है, उसी में लीन हो जा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

संवेगी सम्मजोगी

हंसप्पा! साहग-जीवणे संवेगो आवस्सगो। णीर-मंथणादो घिदलाहो असंभवो। इंदियभोगेसुं जे सुहगवेसणं करेंति, ते मूढा विहा थक्किय अप्प-हेममय-जीवणं मुउर-खंडत्थं णासेंति। संवेगाभावे णाणदंसणं च चारित्तरूवं णो परिणमेदि। जावं जावं णो पदत्थाणं सुसरूवणाणं, तावं णो हेयोवादेय-परिणदी। पढमं पदत्थाणं सुसरूवत्तं पस्सेज्जा। तं जहा-''संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः।'' संवेगी-जीवणं जोगी-जीवणं। जस्स जीवणे संवेगो, सो वेदेदि भवसुहाणि दुक्खरूवाणि, भोदिगत्त-अभावस्स उज्जमे लीयदि। जेहिं कारणेहिं भोग-विलासित्तं

संवेगी ही सच्चा योगी

हे हंसात्मन्! साधक के जीवन में संवेगभाव का होना अनिवार्य है। पानी के मथने से घृत की प्राप्ति संभव नहीं है। इंद्रिय-भोगों में जो सुख की खोज कर रहे हैं, वे अज्ञ प्राणी व्यर्थ का श्रम कर अपने स्वर्णमय जीवन को काँच के टुकड़ों के लिए नष्ट कर रहे हैं। संवेग के अभाव में ज्ञान व दर्शन, चारित्ररूप परिणमन नहीं कर पाता है, क्योंकि जब तक जीव को पदार्थों के सत् स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक हेय-उपादेयरूप परिणति नहीं बनती। सर्वप्रथम पदार्थों की सत्-स्वरूपता पर दृष्टिपात होना अनिवार्य है। संवेग की चर्चा करते हुए आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने बड़ी सुंदर बात कही है कि 'संसार में दुःखों से नित्य भयभीत रहना संवेग है।' संवेगी-जीवन ही योगी-जीवन है। जिसके जीवन में संवेग-भाव है, वह संसार के सुखों को दुःखरूप वेदन करता है, भौतिकता से रिक्त होने के पुरुषार्थ में तल्लीन रहता है। जिन कारणों से भोग व विलासिता की ओर परिणमन होता है, उन कारणों से पूर्ण पृथक् रहता है। जैसे कमल-पत्र पर पड़ी जल-बिंदु कमल-पत्र से पृथक् हुआ करती है, वह पत्र में तन्मय नहीं

पडि परिणमेदि, तेहिं कारणेहिं पुहं होदि। जहा कमल-पत्तत्थ-जलबिंदू तादो पुहं होदि, सो पत्ते अतम्मयो। तहेव संवेगी-जोगी संसारे संसारी-मज्झे णिवसेदि पुणरवि सव्वत्तो पुहं णियम्हि णिवसेदि, अत्तसरूव-गवेसणे रज्जेदि। संवेगी-भव्वमणीसी धम्म- धम्मप्पाणो दट्ठूणं पसण्णो वच्छल्लसमिद्धो होदि। परमट्ठेणं णियप्पधम्म-रदो होदि। भो अप्पा! णिय-पहु-लद्धीए अहिगच्छ संवेगभावं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

है, ठीक उसी प्रकार संवेगी-योगी संसार में संसारियों के बीच रहता है, फिर भी सबसे पृथक् अपने आप में रहता है, आत्म-स्वरूप की खोज में रत रहता है। संवेग गुण से युक्त भव्य-मनीषी धर्म व धर्मात्माओं को देख गद्गद तथा वात्सल्य से ओतप्रोत हो जाता है। परमार्थ-दृष्टि से स्वात्म-धर्म-मग्न हो जाता है। भो आत्मन्! अपने प्रभु को प्राप्त करना चाहता है तो संवेग-भाव को प्राप्त कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

हुव अप्पाणंदभोगी

हंसप्पा! गहण-भावणा भवे भवे जीवं संभामेदि। परदव्वगहणं पयडिधम्मो णत्थि। परदव्वत्तो सगं पुहं करणं णियधम्मो। धणचाग-दाणं च दुक्करं कज्जं णत्थि, जस्स सब्भावे जीवो धणादिचागं णो करेदि, तीए लोह-वित्तीए चागो दुक्करं कज्जं। लोहकसाय-उदयादो जीवो परिग्गहं संचएदि। णो सयं उवओगं करेदि, णेव अण्णं कारेदि। अहो अच्छेरं! जीवो कियत्तो मूढो? तं णवि जाणेदि तेणं सह किंचिवि णो गच्छेहिदि, सव्वाणि दव्वाणि एत्थ वसेज्जा। तम्हि वि बहि-पदत्थेणं सपर-हिदं करेदि। आदसुहं तिलतुसमिव णो मण्णेदि, इमा कियत्ता विउलविडंबणा। बहिचाएणं सह अब्भिंतरत्थ-अणादिकसायपरिणदि-अविज्जाभावचागो आवस्सगो, इदं

आत्मानंद-भोगी बनो

हे हंसात्मन्! ग्रहण करने की भावना जीव को भव-भव में भ्रमण करा रही है। प्रकृति का धर्म पर-द्रव्य को स्वीकार करना नहीं है। पर-द्रव्य से अपने आपको पृथक् रखना निज-धर्म है। धन का दान करना, त्याग करना कठिन कार्य नहीं है, जिसके सद्भाव से जीव धनादि का त्याग नहीं कर पाता उस लोभ वृत्ति का त्याग कठिन कार्य है। लोभ-कषाय के उदय से जीव परिग्रह का संचय करता है। न स्वयं उपयोग कर पाता है, न किसी को कहने देता है। अहो आश्चर्य! जीव कितना मूढ़ है ? उसे मालूम भी है कि मेरे साथ एक कण भी नहीं जाएगा, सब यहीं पर पड़ा रहेगा। उस पर भी बाह्य पदार्थ के पीछे स्व-पर का अहित करने को तैयार हो जाता है। आत्मसुख को तिलतुष भी नहीं मानता है, यह कितनी बड़ी बिडम्बना है। सत्-स्वरूपता तो यह है कि बाह्य त्याग के साथ अंतरंग में बैठी अनादि की कषाय-परिणति, अविद्याभाव इनका त्याग होना अनिवार्य है। जब तक वे नहीं छुटते तब तक बाह्य पुरुषार्थ, अभ्युदय-सुख का कारण तो बनेगा;

सु-सरूवत्तं। जावं ते णो मुच्चेंति तावं बहि-उज्जमो अब्भुदय-सुहकारणं सिज्झेज्जा। मायापुव्वं किदसाहणा णो होदि पुण्ण-णिप्फला, पुण्णबंधकारणं तु होदि। णिस्सेयस-सुहं किंचिवि णो भजेदि तहा णेव होदि तस्स कारणं। तदो सम्मं उज्जमं किच्चा णियवेहवं अहिगच्छ। केवचिरं पोग्गलखंडेसुं जीवेज्जा? अप्पाणंद-भोगिम्हि मणुय-भवस्स सत्थगत्तं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

क्योंकि साधना मायाचारपूर्वक भी क्यों न की गई हो, पूर्ण निष्फल नहीं होती, पुण्य-बंध का कारण तो बनती है। परंतु निःश्रेयस-सुख लेशमात्र भी नहीं प्राप्त हो सकता और न ही उसका कारण बनता है। इसलिए तू सम्यक् पुरुषार्थ करके अपने निज-वैभव को प्राप्त कर। कब तक पुद्गलों के टुकड़ों में जीता रहेगा ? आत्मानंद-भोगी बनने में मनुष्य-भव की सार्थकता है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

साहगं कत्थ भयं?

हंसप्पा! साहगं अप्पजीवणे साहणत्तो कदावि णो होज्जा भयभीदो, इमा तेलुक्कतिलग-अरहंतस्स आणा। जत्थ साहणा, तत्थ कहं भयं? भयभीदं कत्थ साहणा? अचिंत-सत्तिमाणो सासयो धुवो अत्ता। सो ण दु णस्सेदि णेव उप्पज्जेदि। उप्पण्ण-विणासो पज्जय-धम्मो, ण दु दव्वस्स। आददव्वं धोव्वं, मणुयादि-पज्जया उप्पादव्वयसीला। साहणादो पज्जयं भजेदि कट्ठं, पज्जयो खीणो वि होदि, तहावि आददव्वं भजेदि विगासं। साहणा आदविगासस्स पढमो सोवाणो। साहगस्स णिम्मलसाहणा कमिग-उण्णदिं कारेदि। पमादी कदावि णो लहेदि सुसाहणं। भो साहग! पमादो तुव रिवू। पमादवित्ती सयल-अणत्थमूलं। पमादविहूणदो आदहिदेसी पडिक्खणं

साधक को भय कहाँ?

हे हंसात्मन्! त्रैलोक्य-तिलक भगवद् अरहंतदेव की आज्ञा है कि साधक को अपने जीवन में साधना से कभी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ साधना है, वहाँ भय कहाँ ? भयशील को साधना कहाँ ? आत्मा तो अचिन्त्य शक्तिमान, त्रिकाली शाश्वत, ध्रुव है। यह कभी न तो नष्ट होती है, न उत्पन्न होती है। उत्पन्न होना, नष्ट होना, ये तो पर्याय का धर्म है, द्रव्य का नहीं। आत्म-द्रव्य तो ध्रौव्य है, मनुष्यादि पर्यायें उत्पाद-व्ययशील हैं। साधना करने से पर्याय को तो कष्ट होगा, क्षीण भी होगी, पर आत्म-द्रव्य तो विकास को प्राप्त होगा। साधना आत्म-विकास का प्रथम सोपान है। साधक की निर्मल साधना क्रमिक उन्नति कराती है। प्रमादी पुरुष कभी भी सत्साधना को प्राप्त नहीं कर पाता। भो साधक! प्रमाद तेरा शत्रु है। संपूर्ण अनर्थों की जड़ प्रमाद-वृत्ति है। प्रमाद से रिक्त होकर आत्महितेषी जीव प्रतिक्षण मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि में तत्पर रहता है। अपनी शक्ति न छिपाता हुआ आत्मबल के अनुसार साधना/तपश्चरण

मोक्ख-पुरिसत्थ-सिद्धीए रदो। आदसत्तिं अगूहंतो पसण्णचित्तो होदूणं जहादबलं साहणं तवयरणं च करेदि। आगमे भणिदं पमुदिद-उस्साहिद-मणादो किद-साहणा-आराहणा य, पबल फलं देदि, ण दु उस्साहहीणस्स साहणा। आदधम्म-गवेसणं बहिदो णो होदि। अब्भिंतरे अप्पं णियप्पज्झाण-अणलम्हि अणुतावेज्जा। विणा सम्म-तव- साहणाए णो कोवि सिद्धिं भजेदि, णो भजेहिदि। तम्हा भो णाणी! खेद-विहूणो पसण्णचित्तो होदूणं बारहविह-तवा किच्चा उक्किट्ठझाण-वड्ढणं कुण। विणा झाणजोएणं अप्पत्तो कम्म-विओगो दुल्लहो।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

करता है प्रसन्नचित्त होकर। आगम कहता है-प्रमुदित, उत्साहित मन से जो साधना व आराधना की जाती है, वह प्रबल फल को प्रदान करती है। उत्साहहीन की साधना नहीं। आत्मधर्म की खोज बाहर से नहीं हो सकेगी। अंतरंग में स्व को स्वात्म-ध्यान की अग्नि में तपना पड़ेगा। बिना सम्यक्-तप-साधना के न कोई सिद्धि को प्राप्त हुआ है, न होगा। इसलिए, भो ज्ञानी! खेद से रहित होकर, प्रसन्नचित्त होकर बारह प्रकार के तप कर, सर्वश्रेष्ठ ध्यान की वृद्धि कर। बिना ध्यान-योग के आत्मा से कर्मों का वियोग होना दुर्लभ है।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

साहु-समाहीदो सपर-हिदं

हंसप्पा! साहु-समाहि-भावणा कियत्ता सेट्ठभावणा, जाए सपर-उवयारो; समणोवयारो वि सावगोवयारो वि। किं समणोवयारो? साहग-साहणाए कह वि बाहा उवट्ठिदा, जेणं सो अप्पसाहणं सत्थरूवेणं णो करेज्जा, तस्स चित्ते कदाचि किलेसं आगच्छेदि तहा आगच्छेदि चारित्ते वि दोसो जेणं सो भजेहिदि कम्मबंधं च, पुणो इमा भावणा करेदि साहु-उवयारं। साहु-समाहि-कारग-साहगं सग्गसंसिद्धि-साधग-भूद-णिम्मल-साहणाराहणं च लाहेदि, जेणं देहचित्तेसुं च जाएदि णिम्मलत्तं। चित्त-णिम्मलत्तेणं साहणा होदि णिम्मला। तम्हा, साहु-समाहिकारगं साहगं मण्णेहि मोक्खो। अयं साहु-उवयारो। साहुसमाहि-सहकारगाणं अण्ण-

साधु-समाधि से स्व-पर का कल्याण

हे हंसात्मन्! साधु-समाधि भावना कितनी श्रेष्ठ भावना है, जिसके माध्यम से स्व-पर का उपकार होता है, साधु का भी, श्रावक का भी। साधु का उपकार क्या है ? साधक ही साधना में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो रही हो, जिससे वह अपनी साधना को स्वस्थरूप से नहीं कर पा रहा हो, उसके मन में क्लेश कदाचित् आ सकता है तथा चारित्र में भी दोष आ सकता है, जिससे वह कर्मबंध को प्राप्त होगा, तो यह भावना साधु का उपकार करती है। साधु-समाधि करनेवाले साधक को स्वर्ग/मोक्ष की साधक निर्मल साधना व आराधना प्राप्त कराती है जिससे शरीर व चित्त में भी निर्मलता उत्पन्न होती है। चित्त की निर्मलता से साधना में निर्मलता आती है। इसलिए, साधु-समाधि को करनेवाले साधक को मोक्ष ही मानो। यह साधु का उपकार हुआ। साधु-समाधि में सहयोगी अन्य श्रावकों का क्या उपकार हुआ ? अरे भैया! प्रत्यक्ष उपकार तो यह है कि श्रावक साधु-सेवा जिस समय भाव-भक्तिपूर्वक करता है, तब तत्क्षण अशुभोपयोग से स्व की

साहगाणं किं उवयारो? जदा सावगो साहु-सेवं भावभत्तीए करेदि, तदा तक्खणं असुहोवओगदो णियरक्खणं करेदि तहा विरमेदि झत्ति अवर-रागादिगकज्जत्तो, अयं पच्चक्ख-उवयारो। तेणं तस्संबंधी-असुहकम्म-बंधत्तो णिवज्जेदि, परंपराए मोक्खमग्ग-णिम्माणं जिणसासण- रक्खणं च होदि। अयं सावगोवयारो। जदि कोवि णो करिस्सदि दुक्खसमपीडिद-सेवं पुण जीवो साहगमग्गं णो अहिट्ठेस्सदि। अंतरेण साहगं जिणसासण-उण्णयणं असंभवं। णो धम्मो धम्मिगं विणा। साहु-समाहि-भावणा-सब्भावो समणसावगाणं च आवस्सगो। जहा भंडारे अणल-पगोवे अणलं पसामेदि तहेव विचित्त-वद-सील-समिद्धस्स मुणिस्स तवसमए कारणवसा विग्घ-उब्भवे तस्स संधारणं साहु-समाही।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

रक्षा कर रहा होता है तथा अन्य रागादिक कार्यों से तत्काल दूर होता है; इस कारण तत्-संबंधी अशुभ-कर्म के बंध से बच रहा है, परंपरा से मोक्ष का मार्ग तैयार हो रहा है तथा जिनशासन की भी रक्षा हो रही है। यह श्रावक का उपकार है। यदि कोई दुःख/श्रम से क्लांत की सेवा नहीं करेगा तो व्यक्ति साधक बनना भी बंद कर देंगे। बिना साधक के जिनशासन की उन्नति संभव नहीं है। धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं होता। साधु-समाधि-भावना का होना श्रावक व साधु, दोनों के लिए अनिवार्य है। जैसे, भंडार में आग लग जाने पर आग को शांत किया जाता है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के व्रत-शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न के उत्पन्न होने पर उसका संधारण करना, शांत करना साधु-समाधि है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

दुक्खकारणं दुट्ठ-संगदी

हंसप्पा! आददेव-णाणत्थं आदण्हु-सरणं अहिगच्छ। किं अणप्पण्हुणो आद-दंसणं कारेंति? णेव। अण्णाणी-उवासणाए अण्णाण-लाहो, णाणी-उवासणाए णाण-लाहो, सुप्पसिद्धं इदं वयणं। जस्स समीवं जं होदि सो तमेव देदि। चंदण-सहवासो सुगंधं देदि, णीम-सहवासो कडुगत्तं देदि। भो पण्ण! जीवण-सुगंधिदत्थं कुण गुणीजण-संसग्गं। वुड्ढजण-साणिज्झो परमहिद-कारणं। जे णो मण्णेंति वुड्ढजण-वयणं, ते भजेंति पच्छातावं दसाणणोव्व। जुवा-संगदी आदसाहणादो चुअस्स उच्च-पाढसाला। आदहिदेसिं दुट्ठसंगदि-सेवत्तो विओजेज्जा। णीदिवागमिदे वि-दुट्ठा कियत्ता उत्तमा वि होंतु, ते सगसहावं णो विसज्जेंति, अंते होंति कट्ठदायगा। तं जहा-''विपदन्ता खलमैत्री''। जहा इत्थि-सङ्काणिस्स

दुष्ट की संगति दुःखों का कारण

हे हंसात्मन्! आत्मदेव को जानने के लिए आत्मज्ञों की शरण प्राप्त कर। अनात्मज्ञ क्या आत्मा के दर्शन करा सकते हैं ? नहीं। यह सूत्र प्रसिद्ध ही है कि अज्ञानी की उपासना से अज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञानी की उपासना से ज्ञान की। कारण, जिसके पास जो होता है वह वही तो दे सकता है। चंदन का सहवास सुगंध प्रदान करता है, नीम का सहवास कड़वापन। भो प्रज्ञ! तू जीवन को सुगंधित करना चाहता है तो गुणीजनों का संसर्ग कर। वृद्धजनों का सानिध्य परम-कल्याण का कारण है। जो वृद्धजनों की बात नहीं मानते, वे रावण-जैसे पश्चात्ताप को प्राप्त होते हैं। युवाओं की संगति आत्म-साधना से च्युत करने की उच्च पाठशाला है। आत्म-हितैषी को दुष्टों की संगति/सेवा से दूर रहना चाहिए। महान् नीतिकार श्रीमत् सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' ग्रंथ में उल्लेख किया है कि दुष्ट कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, पर वे अपने स्वभाव को विसर्जन नहीं कर पाते, अंत में कष्टदायक ही होते हैं। 'विपदन्ता खलमैत्री' अर्थात् दुष्टों की संगति अंत में दुःख देने

पदणं तहेव तस्स जीवस्स पदणं। तं जहा-''मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः।'' जावं णो सदसरूवलद्धी, तावं मुमुक्खुं पडिक्खणं णाण-वुड्ढाणं संगदि-सेवा-वेज्जावच्चेसुं च रज्जेज्जा। वुड्ढसेवादो होदि आदबल-अकोमलसाहणा-अणुहवणाण-वड्ढणं कसायमंदत्तं च भजेदि। वेज्जावच्चादो होदि लाघव-अज्जवधम्म-सिद्धी। तं जहा-''गुणवद् दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम्।'' तित्थयर-पयडिबंधग-वेज्जावच्चं तुमं वि पडिवज्जेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

वाली है। उस व्यक्ति का वैसा ही पतन होता है जैसा स्त्रियों पर विश्वास करनेवाले का। 'मरणांतः स्त्रीषु विश्वासः'-स्त्रियों में विश्वास करने से अंत में मृत्यु होती है। अतः, मुमुक्षु-जीव को प्रतिक्षण ज्ञान-वृद्धजनों की संगति व सेवा/वैयावृत्ति में तल्लीन रहने की आवश्यकता है, जब तक सत्स्वरूप की प्राप्ति न हो। वृद्धों की सेवा से आत्मबल, कठोर साधना, अनुभव-ज्ञान की वृद्धि होती है, कषायों में मंदता आती है। वैयावृत्ति से लाघव आर्जव धर्म की सिद्धि होती है। वैयावृत्ति की परिभाषा करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा कि-'गुणी-पुरुषों के दुःख आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उनका दुःख दूर करना वैयावृत्ति है'। तीर्थंकर-प्रकृति की बंधक इस वैयावृत्ति को तू भी स्वीकार कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जिणपाद-आसयदो णियबोहो

हंसप्पा! णियदेव-मेलणत्थं जिणदेव-मेलणं आवस्सगं। विणा जिणदेव-चरणणीसालाहं णियप्पदेवदंसणं असंभवं। णवरि मोह-कलंको घणो, सो दप्पणसमीवगमणेणं विणा णवि दीसेदि। जीवो मुहं दप्पणे दट्ठूणं मुहस्स कलंकं जाणेदि। पुणो सणियं सग-कलंकं दप्पणस्स सच्छत्ते पस्संतो फुसेदि, सकलंकमुहं करेदि णिक्कलंकं। विणा आदरिससमीव-गमणं आदरिसत्तं णवि फुड्डेदि। कलिकालसव्वण्हू कुंदकुंददेवो मोहकलंक-विणासत्थं चारुविही पवयणसारे पण्णत्तो। तस्स विहिस्स जो मुमुक्खू आसएदि, सो लहेदि णिक्कलंक-णियदेवं। तं जहा-

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

जिन-चरणों के आश्रय से निज-बोध

हे हंसात्मन्! निज-देव से मिलने के लिए जिनदेव से मिलना अनिवार्य है। बिना जिनदेव की चरण-निश्रा को प्राप्त किए निजात्मदेव के दर्शन संभव नहीं हैं। कारण, मोह की कालिमा घनी है, वह बिना दर्पण के पास जाए दिखती नहीं है। जब व्यक्ति चेहरे को दर्पण में देख लेता है, तभी समझता है कि ओह! मैं तो कालिमायुक्त हूँ। फिर धीरे से अपनी कालिमा को दर्पण की स्वच्छता में निहारता हुआ पोंछ लेता है, कालिमायुक्त वक्त्र (मुख) को निष्कलंक कर लेता है। बिना आदर्श के पास जाए आदर्शता प्रकट नहीं होती है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने मोहरूपी कालिमा को नष्ट करने के लिए सुंदर विधि 'प्रवचनसार' ग्रंथ में बताई है। उस विधि का जो मुमुक्षु आलम्बन लेता है, वह कालिमा से रहित निज-देव को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा है कि -

''जो पुरुष द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्व से पूज्य वीतराग अरहंत देव को जानता है, वह पुरुष अपने स्वरूप को भी जानता है और निश्चयकर उसी का मोह-कर्म नाश को प्राप्त होता है।''

णिरावरण-णाणदंसणजुत्त-णियदेवदप्पणे सावरण-णियप्पसरूवं दट्ठूणं जाणेदि असुद्धणाणदंसणं णो अप्पसहावो, तेसिं णिम्मल-दव्वगुण-पज्जायं च दट्ठूणं सगं पस्सेदि। भगवं! अहुणा वट्टमाणे मज्झ दव्वं असुद्धं, गुण-पज्जाया वि असुद्धा, कहं वसेंति सुद्धगुणदव्वाणि असुद्धपज्जाए? पावण-पवित्त-जिणरूव-णियभगवं कम्मकलंकेणं असुद्धपज्जाए होमु। सुद्धणिच्छयणयदो सत्तिरूवेणं मे दव्वगुणपज्जाया सोचेव, जो अरुहस्स-सिद्धस्स वा। तित्थेसपद-पप्पमाणो अप्पा वि पुरो अरहंतदेवरूव-आदरिस-उवासणं करेदि, तदेव मोहरिवु-विणासो। अरुह-णिम्मलाराहणा पुव्वबद्ध-णिहत्ति-कम्म-संखलं खणमेत्ते णासेदि। तं जहा-एगीभावत्थोत्ते-

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधि सुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम्।

निरावरण ज्ञान-दर्शन से युक्त जिनदेवरूपी दर्पण में कर्मकलंक से सहित (यानि आवरण-सहित) अपनी आत्मा के स्वरूप को देखकर जानता है कि अशुद्ध ज्ञान, अशुद्ध दर्शन मेरा स्वभाव नहीं है; उनकी निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय को देखकर स्व की ओर देखता है। भगवन्! मेरा अभी वर्तमान में द्रव्य अशुद्ध है और गुण व पर्याय भी अशुद्ध है, क्योंकि अशुद्ध पर्याय में शुद्ध गुण व द्रव्य कैसे ठहर सकते हैं? मैं पावन-पवित्र जिन-स्वरूपी निज-भगवान् कर्मों की कालिमा के कारण अशुद्ध पर्याय में पड़ा हूँ। शुद्ध निश्चयनय से शक्तिरूप से मेरा द्रव्य-गुण-पर्याय भी वही है, जो अरिहंत/सिद्ध प्रभु का है। तीर्थंश-पद को प्राप्त करनेवाली आत्मा भी पूर्व में अरिहंतदेवरूप आदर्श की उपासना करती है, तभी मोक्ष शत्रु पलायन हुआ है। अरिहंतदेव की निर्मल आराधना पूर्वबद्ध निधत्ति कर्मों की जंजीर को क्षण-मात्र में नष्ट कर देती है। आचार्य भगवन् वादिराज स्वामी 'एकीभाव स्तोत्र' में भगवान् की भक्ति करते हुए कहते हैं-

'हे नाथ! शुद्ध ज्ञान, निर्मल चारित्र के रहते हुए भी यदि आपके विषय में होनेवाली यह उत्कृष्ट भक्ति अमर्यादित सुखों की कारणरूप कुंजी (चाबी) नहीं होवे तो सचमुच में मोक्ष के अभिलाषी पुरुष द्वारा, अत्यंत

शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्ति-कामस्य पुंसो,
मुक्तिद्वारं परिदृढ-महामोह-मुद्रा-कवाटम्।।

सत्ततच्च-णवपदत्थ-छद्दव्व-पंचत्थिकाय-उवएसगस्स सदसरूव-उवदिट्ठा-अरुहस्स भत्ती दीणस्स कल्लाणकारी असुहविसय-कसायत्तो अवसरणस्स उवायो अरुहभत्ती। तावं कुण जिणस्स णिद्दोसभत्तिं, जावं णो अरुहजिणावत्था-लाहो। सामी-देवणंदिणा दिव्वभत्तिलक्खणं भणिदं। हत्थ-जोयणं किच्चा चरणफासणं णत्थि भत्ती। एदाओ किरियाओ लोगोवयारेणं पि कुज्जा, बहि-वंछाणं उद्देस्सेणं लुब्भ-कुदिट्ठी वि करेदि। विणा वंछं मोक्खमग्गी करेदि पुज्जाणं गुणाणुरागं। कहं? तं जहा- 'भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।'

भो विण्ण! कम्मसंतदिविणासं इच्छेसि पुण दुअपुव्वं कुण अदुअभत्तिं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

मजबूत महामोहरूपी ताले से युक्त है किवाड़ जिसमें ऐसे मोक्ष-द्वार को किस तरह खोला जा सकता है, अर्थात् नहीं खोला जा सकता।

सप्त तत्त्व, 9 पदार्थ, 6 द्रव्य, पञ्चास्तिकाय का उपदेश देनेवाले सत्-स्वरूप के उपदेष्टा सर्वज्ञ अरहंत भगवान् की भक्ति ही दीन प्राणी के लिए कल्याणकारी है। अशुभ विषय-कषायों से दूर हटने का उपाय अरहंत-भक्ति है। जिन-देव की निर्दोष भक्ति तब तक करता जा, जब तक अर्हद्-जिन न बन जाए। भक्ति की परिभाषा पूज्यपादस्वामी ने बड़ी सुंदर की है। मात्र हाथ जोड़ चरण स्पर्श कर लेने का नाम भक्ति नहीं है। ये क्रियायें तो लोकोपचार से भी की जा सकती हैं। बाह्य कामनाओं के उद्देश्य को लेकर लोभी मिथ्या-दृष्टि भी कर लेता है। परंतु मोक्षमार्गी जीव पूज्यों के गुणों में अनुराग करता है बिना आकाँक्षा के। वह भी कैसे, तो आचार्य भगवान् कहते हैं कि-'भावों की विशुद्धि में अनुराग रखना अरिहंतादि की भक्ति है।'

भो विज्ञ! कर्म-संतति को नष्ट करना चाहता है तो भक्ति कर द्वैतपूर्वक अद्वैत की।।

दीवगो गुरू

हंसप्पा! उवादाणस्स अजोग्गम्हि णो कज्जसिद्धी। उवादाण-पहाणत्तेणं उवादाणदो कज्जसिद्धी। इदं एगंतिगं। जिणसासणं अणेगंत-सियवाय-सक्कारिद-दंसणं। एत्थ पत्तेगं वयणं तक्क-आगमदो परिक्खिय पडिवज्जेज्जा। 'बाबा-वाक्यं प्रमाणम्', इदं सुत्तं सियवादीसुं णत्थि। एत्थ जिणवागं हि पमाणं। जिणो अण्णाण-तिमिर-विणासत्थं पावण-पीऊस-वाणीए पण्णत्तं पदत्थं णेग-धम्मप्पगं तहा कज्जसिद्धीए कारणस्स वक्खाणं पि करेदि। अंतरेणं कारणं णो कज्जसिद्धी। हेदुं विणा कज्जसिद्धी अणले पउम-विगासणमिव। पबल-उवादाणे वि जावं णो पबलणिमित्तलाहो, तावं णो कज्जसिद्धी। पुरिसत्थ-सिद्धी खलु णिमित्त-सब्भावे। भो पण्ण! मोक्खत्थिं मोक्ख-उज्जम-लाहस्स तिव्वाकंखा,

गुरु दीपक है

हे हंसात्मन्! उपादान के योग्य न होने पर कार्य-सिद्ध होते नहीं देखा जाता। वह पृथक् बात है कि उपादान की प्रधानता से कोई कहे कि उपादान से कार्य सिद्ध होता है। पर ये बात एकान्तिक है। जिनशासन अनेकांत/स्याद्वाद से संस्कारित दर्शन है। यहाँ प्रत्येक बात तर्क आगम से परखकर ही स्वीकार की जाती है। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' सूत्र स्याद्वादियों के यहाँ नहीं चलता। यहाँ तो जिनवाक्य को प्रमाणित स्वीकार किया गया है। जिनदेव ने अज्ञान-तिमिर को नष्ट करने हेतु अपनी पावन-पीयूष वाणी में पदार्थ को अनेक-धर्मात्मक कहा है तथा कार्य-सिद्धि के लिए कारण की भी चर्चा की है। बिना कारण के कार्य सिद्धि संभव नहीं है। जो हेतु-बिना कार्य को सिद्ध करना चाहता है, वह अग्नि में कमल खिलाने जैसा है। तात्पर्य यह है कि उपादान के प्रबल रहने पर भी जब तक प्रबल निमित्त प्राप्त नहीं होंगे, तब तक कार्य सिद्ध नहीं होगा। पुरुषार्थों की सिद्धि के सद्भाव में ही होती है। भो प्रज्ञ! मुमुक्षु जीव को मोक्ष-पुरुषार्थ की प्राप्ति की तीव्र

सो करेदि उज्जमं पि, जावं सम्म-णिमित्तसरूव-णिग्गंथमग्गणिद्देसग-णिग्गंथवीदरागी-दियंबरगुरुलाहो णत्थि, तावं णो मग्गो पसत्थो। गुरू दिव्वणेत्तेणं सह पगासजुत्त-दीवो वि अत्थि।

जदि णो अंधगार-णिवारग-दीवपगासो, पुणो गंथ-लोयणाणि य किंचि णो कुज्जा। जहा पगासमाण-दीव-फासणे णिव्वप्प-दीवो वि होदि जोदिमओ, तहेव णाणदंसण-चरित्तदो णिव्वप्प-मुमुक्खू वि आदणाणरूव-दीवत्तो देदीवमाण-आइरियस्स चरणसरणं लहिदूणं विवेगबुद्धि-भेदविण्णाण-रूवं पगासपुंजं लहेदि। णिग्गंथ-जेणाइरिया होंति वीदरागमग्गस्स रक्खगा पोसगा वा। ते मढ-भवणेसुं अप्प-अमुल्ल-रदणत्तय-जीविद-विणासं णो करेंति, पुण्ण-णिप्पुहवुत्ति-जुत्ता सग-पर-हिदम्हि रज्जेंति। सयं पालेंति पंचायारा एवं सिस्सेहिं कारेंति। सिद्धंत-

इच्छा है, वह पुरुषार्थ भी करता है, पर सम्यक् निमित्त-स्वरूप निर्ग्रंथ मार्ग के निर्देशक, निर्ग्रंथ वीतरागी दिगम्बर गुरु तक नहीं मिलते, तब तक मार्ग प्रशस्त होनेवाला नहीं है। गुरु एक दिव्य-नेत्र ही नहीं, प्रकाश-युक्त दीपक भी हैं।

नेत्र व ग्रंथ कुछ नहीं कर सकेंगे, यदि अंधकार का निवारक दीपक का प्रकाश नहीं होगा। प्रकाशमान दीपक के स्पर्श करने पर बुझा दीप भी ज्योतिर्मय हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र से बुझा मोक्षार्थी भी आत्मज्ञानरूपी दीप से दैदीप्यमान आचार्य परमेष्ठी की चरण-शरण को प्राप्त कर, विवेक बुद्धि व भेद-विज्ञानरूप प्रकाशपुँज को प्राप्त कर लेता है। निर्ग्रंथ जैनचार्य वीतराग-मार्ग के रक्षक/पोषक हुआ करते हैं। वे मठ, भवनों में अपने अमूल्य रत्नत्रय जीवन को न्यौछावर नहीं करते, अपितु पूर्ण निस्पृहवृत्ति से युक्त स्व-पर कल्याण में लीन रहते हैं। पञ्चाचार का पालन स्वयं करते हैं और अपने शिष्य-समुदाय से करवाते हैं। सिद्धांत, आगम, तर्क, अध्यात्म की चर्चा व चर्या में अपना प्रत्येक क्षण व्यतीत करते हैं।

समय-तक्क-अज्झप्पाणं च चरिचाए चरियाए य पत्तेग-खणं उवउंजेंति। जा उवसग्ग-परीसहेसुं णो विसादो, णेव पूया-पदिट्ठासुं हरिसभावो, जे धम्मधम्मिगं पडि वच्छल्लसंजुदा, संघ-गच्छ-पक्खपाद-विहूणा; एरिसा धरणीदेव-आइरियाणं जुगलपाद- पउमाणि अम्ह पवित्तंतु।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

जिन्हें उपसर्ग व परीषहों के आने पर विषाद नहीं होता तथा पूजा-प्रतिष्ठा में हर्ष नहीं होता, जो धर्म-धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्यपूर्ण हैं, संघ/गच्छों के भेदभाव से रहित हैं, ऐसे धरती के देवता आचार्य भगवंतों के द्वय चरण-कमल मुझे पवित्र करें।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सुदभत्तिफलं चारित्तं

हंसप्पा! जदा सयल-बहिसुहाणि णिट्ठवेज्जा तदा अक्खय-अणंत-इंदियातीद-सुहलाहो। जो बहिसुहं भूदत्थसुहं मण्णेदि, सो कदावि णो लहेदि सच्चसुहं। जहा उण्हत्त-सीयलत्त-विरोहो, तहेव आदसुह-अक्खसुह-विरोहो। जदि इच्छेसि अविणस्सर-सुहं तु पुव्व-पुण्ण-पुरिस-तित्थयर-राम-पंडव-सगरचक्कवट्टी-पहुदिव्व कुण सम्म-उज्जमं। ते भोगो व भोगसामग्गि-सुलहदाए वि सगदिट्ठिं भोगत्तो पुहं किदा। इदं भिण्णत्तं जीवस्स पहुत्त-सिद्धीए आदि-भूमिगा अत्थि। जावं परपदत्थादो णो भिण्णदिट्ठी, तावं णो भेद-विण्णाणलद्धी। भेद-विण्णाण-अभावे भूदत्थ-सरूव-अणुहवो असंभवो। मुमुक्खुजीवम्हि आवापर-णाणं आवस्सगं, इमस्स सुदब्भासो आवस्सगो। परमोसहं जिणवयणं,

श्रुत-भक्ति का फल चारित्र

हे हंसात्मन्! जब संपूर्ण बाह्य-सुखों की समाप्ति हो जाती तब अक्षय, अनंत, इंद्रियातीत सुख प्राप्त होता है। जो जीव बाह्य सुखों को ही सत्-सुख मान बैठा है, वह कभी सत्य-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार एकसाथ उष्णता और शीतलता का विरोध देखा जाता है ठीक उसी प्रकार आत्मसुख और इंद्रिय-सुख का विरोध है। अविनाशी सुख चाहता है तो सम्यक् पुरुषार्थ कर, जैसे पूर्व पुण्य-पुरुषों ने, तीर्थंकर, राम, पाण्डव, सगर चक्रवर्ती आदि ने किया था। भोगोपभोग की सामग्री की सुलभता होने पर भी उन्होंने अपनी दृष्टि भोगों से भिन्न कर ली। यह भिन्नता ही जीव को भगवान् बनने में आदि-भूमिका रखती है। जब तक पर-पदार्थों से भिन्न दृष्टि नहीं बनेगी, तब तक भेद-विज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी। भेद-विज्ञान के अभाव में सत्य-स्वरूपता का अनुभव संभव नहीं है। मुमुक्षु जीव के अंदर आपा-पर का ज्ञान होना अनिवार्य है, इसके लिए श्रुताभ्यास करना आवश्यक है। जिन-वचन परमौषधि है, जो

विसयसुहरूव-अजिण्ण-विणासट्ठं विरेयणं, जम्ममरणखयकरणं, णिस्सेस-दुक्ख- विणासणं, आदधम्मवड्ढणट्ठं अमिदभूदं। विणएणं भत्तिभावेणं च सुदपाणं असंखेयगुण-णिज्जराकारणं।

णाणी-साहगो खणमेत्तं पि णाणोवओग-रहिदो णो हुज्जा। सुदभत्ती तित्थयर-पयडि-बंधग-भावणासुं एगा भावणा। सुदब्भासेणं पण्णा भजेदि। अदिसयं एवं होदि बुद्धिविवेग-वड्ढी। पसत्थो अज्झवसायो, परमसंवेगो, संसार-सरीर-भोगत्तो उदासीणत्तं च होदि। वेरग्ग-उण्णयण-लाहेणं धम्म-धम्मिगं पडि वड्ढेदि अणुरागो। तवम्हि वि होदि वड्ढी। जदा होदि णाणं पसत्थं, तदा होदि सदसरूवलाह-भावणा। तास सम्मतवो आवस्सगो। तवं अंतरेण कम्माणं संवर-णिज्जरा णत्थि। संजमो तवो य णाणफलं। णाणं लहित्ता जो णो होदि सिवमग्गे अग्गसरो सो अहिणव-परिग्गहं भजेदि।

नष्ट करने के लिए विरेचन हैं, जन्म-मरण का क्षय करनेवाले हैं, संपूर्ण दुःखों का नाश करनेवाले हैं, आत्मधर्म की वृद्धि के लिए अमृतभूत हैं। विनयपूर्वक भक्तिभाव से श्रुत का पान असंख्यात-गुण-श्रेणीरूप निर्जरा का कारण है। स्वाध्याय को आगम में परम ताप कहा है।

ज्ञानी साधक को एक क्षण भी ज्ञानोपयोग से रहित नहीं व्यतीत करना चाहिए। श्रुतभक्ति तीर्थंकर-प्रकृति की बंधक भावनाओं में एक भावना है। श्रुताभ्यास से प्रज्ञा अतिशय को प्राप्त होती है अर्थात् बुद्धि-विवेक में वृद्धि होती है। अध्यवसाय प्रशस्त होता है, परम संवेग होता है अर्थात् संसार-शरीर-भोगों से उदासी आती है। वैराग्य उन्नति को प्राप्त होकर धर्म-धर्मात्माओं के प्रति अनुराग बढ़ता है। तप में वृद्धि होती है। जब ज्ञान प्रशस्त होता है, तब सद्-स्वरूप की प्राप्ति की भावना होती है। उसके लिए सम्यक् तप करना अनिवार्य है। बिना तप किए कर्मों की संवर, निर्जरा नहीं होता है। ज्ञान का फल तो संयम, तप ही है। ज्ञान प्राप्त करके जो मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर नहीं हो पाता वह तो एक नए परिग्रह को प्राप्त

आयरिएहिं पण्णत्तं-चरित्तविहूणणाणं परिग्गहो अहंभाव-वड्ढगं च। विणय-भत्ति-चारित्त-कलिदो हि णाणी। संजमफलं णिव्वाणं। णाणी णिरदिचार-रूवेणं पालेदि सग-वदाणं पुणरवि कदाचिद वएसुं दोसो उवट्ठिदो, लहुमेव विसुद्धभावेहिं करेदि सगसुद्धिं। इमा सुदभत्ति-महिमा। तदो सदद सुदपाणं कादव्वं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

हो गया। आचार्य भगवंतों ने कहा-चारित्रशून्य ज्ञान, परिग्रह है, अहं को बढ़ानेवाला है। ज्ञानी वह है जो विनय, भक्ति, चारित्र से युक्त है। संयम का फल निर्वाण है। ज्ञानी जीव अपने व्रतों का निरतिचाररूप से पालन करता है, फिर भी यदि कदाचित् कोई दोष व्रतों में लग जाए तो शीघ्र ही विशुद्ध भावों से युक्त होकर अपनी शुद्धि करता है। यह श्रुत-भक्ति की महिमा है। इसलिए अनवरत श्रुतपान करते रहना चाहिए।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जिणपवयणं करेदि जिणं

हंसप्पा! पगिट्ठवयणं पवयणं। जो लहेदि बहुसुदभत्तिं, सो खलु सुदपसाएणं लहेदि पवयणं। जिणसासणे भत्ती पवयणभत्ति-भावणा। वीदरागसासणमेव दुक्ख-विणासणं, णेव अण्णं। जो पव्वज्जेदि अरिह-पवयणं, सो सयमेव होदि अरिहो। उत्तमवयणं जिणवरवयणं च जदि बालगो वि सावेदि, पुणरवि सद्धाभत्तिपुव्वगं सुणेदव्वं। सुवण्णं होदु किंचि अहवा सेरपमाणं, सुवण्णत्तं दोसुमेव। तम्हा, इमा भावणा णो होदव्वा-कोवि कारिस्सदि विसेसपवयणं तदा सुणेज्जा, सामण्णं णवि सुणेज्जा। अरे बंधु! जीवेणं जिणवयणं किमत्थं कुणेसि लहुं? अण्णाणी जिणपडिमा-अवगाहणं दट्ठूणं भासेंति दिग्घ-बाबा लहु-बाबा। एगदा खजुराहे दंसणत्थं गदो हं। णयरस्स भत्तगणा घोसेंति-'जयदु दिग्घ-बाबा', केई घोसेंति 'जयदु-लहु-

जिन-प्रवचन ही जिन बना सकते हैं

हे हंसात्मन्! प्रकृष्ट वचन ही प्रवचन है। जो जीव बहुश्रुत-भक्ति को प्राप्त कर लेता है, वही श्रुत के प्रसाद से प्रवचन को प्राप्त करता है। जिनशासन में भक्ति का होना प्रवचन-भक्ति-भावना है। यह वीतराग शासन ही दुःख-विनाश कर सकता है, अन्य नहीं। जो जीव अर्हत्-प्रवचन को प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं ही अरहंत बन जाता है। श्रेष्ठ वचन, जिनदेव की वाणी चाहे कोई बालक ही क्यों न सुना रहा हो, हमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रवण करना चाहिए, क्योंकि स्वर्ण चाहे कण भर हो चाहे सेर प्रमाण हो, पर स्वर्णत्व तो दोनों में है। इसलिए यह भावना नहीं होनी चाहिए कि कोई विशेष प्रवचन करेगा तब तो सुनेंगे, सामान्य करे तो नहीं। अरे भैया! व्यक्ति के पीछे जिनवचन को छोटा क्यों कर रहे हो? अज्ञानी/मूढ़ जीव जिन-प्रतिमा की अवगाहना को देखकर बड़े बाबा, छोटे बाबा कहते हैं। एक बार मैं खजुराहो दर्शनार्थ गया। नगर के भक्तगण कहने लगे-किसी के बड़े बाबा, किसी के छोटे बाबा, हमारे खड़े बाबा की जय हो। खड़े बाबा अर्थात्

बाबा', केई घोसेंति-'जयदु ठाण-बाबा'। ठाण-बाबा संतिणाह-भगवंत-जिणमुद्दाए। परस्स जीवस्स अण्णाणत्तं, बिंबं दट्ठूणं गुरु-लहु-भत्तिं आरंभेदि। णो केवलं अण्णाणी, विउल-पसिद्ध-मणीसी वि इमाए भावणाए गसिदा। किं लहु-अवगाहग-बिंबे तित्थेस-गुणारोवणं असमाणं? दिग्घ-ठाण-बाबा घोसित्ता सग-अहंभाव-पोसणं, ण दु तित्थयर-बिंब-पोसणं। एवमेव सम्मत्त-पयडि-दोसो। जीवा जिणदेव-समय-गुरूसुं पि करेंति भेदं। कहं इमेसुं णिम्मल-पवयणभत्ती? भो पण्ण! जिणपवयणं करेदि जिणं। इदि कुण णिद्दोस-भत्तिं।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

शांतिनाथ भगवान् खड्गासन मुद्रा में। देखो भोले जीवों की अज्ञानता, प्रतिमा को देखकर छोटी-बड़ी भक्ति प्रारंभ हो गई। मात्र अज्ञानी के ऐसी बात नहीं, बड़े प्रसिद्ध मनीषी विद्वान् भी इसी भावना से ग्रसित रहते हैं। क्या छोटी अवगाहना वाली प्रतिमा में तीर्थेश के गुणों का आरोपण समान नहीं हैं? तीर्थंकर प्रतिमा को नहीं, बड़े/खड़े बाबा कहकर अपने अहं को पोष रहे हो। यही तो सम्यक्त्व-प्रकृति का दोष है। व्यक्ति जिनदेव, वाणी, गुरुओं में भी भेद कर रहे हैं। कैसे कहें कि इनके अंदर निर्मल प्रवचन-भक्ति है। भो प्रज्ञ! जिन-प्रवचन ही जिन बना सकते हैं। अतः निर्दोष भक्ति कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णिरावस्सगो णो समणो णो सावगो

हंसप्पा! णियप्पं परमप्प-करणट्ठं कुण सग-कत्तव्व-पालणं। परमप्प-पदलाहो तुव अहिगारो, णिद्दोस-णिच्छल-वित्तीए कत्तव्व-पालणं तुव कत्तव्वं धम्मं च। तित्थेस-आइरिय-परंपराए कत्तव्वाणि छव्विहाणि। सावग-समणाणं च होंति छक्कत्तव्वाणि। तं जहा मूलाचारे समण-कत्तव्वाणि-

सामाइय-चउवीसत्थव-वंदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा, काओसग्गो हवदि छट्ठो।।

णाम-ठावणा-दव्व-खेत्त-काल-भाव-भेदादो सामाइगं छव्विहं। सुहासुह-णामाणि सोच्छिय रागद्दोसादि-वज्जणं णामसामइगं। सुहासुह-दिव्वादिव्व-पडिमाए तदागार-अतदागार-ठावणं दट्ठूणं रागद्दोसादि-वज्जणं ठावणा-सामाइगं। इट्ठाणिट्ठ-पदत्थाणि दट्ठूणं

आवश्यकों से रहित न श्रमण, न श्रावक

हे हंसात्मन्! निजात्मा को परमात्मा बनाना चाहता है, तो अपने कर्त्तव्यों का पालन कर। परमात्म-पद की प्राप्ति करना तेरा अधिकार है, परंतु कर्त्तव्यों का निर्दोष, निश्छल वृत्ति से पालन करना तेरा कर्त्तव्य (धर्म) है। तीर्थेश व आचार्य भगवन्तों की परंपरा में कर्त्तव्य छः कहे गए हैं। छः ही कर्त्तव्य श्रमणें के होते हैं, छः ही श्रमणोपासकों (श्रावकों) के। 'मूलाचार' ग्रंथ में श्रमणों के आवश्यक इस प्रकार से बताए गए हैं-'सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये छः आवश्यक हैं।'

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से सामायिक के छः भेद किए हैं। शुभ-अशुभ नाम सुनकर राग-द्वेष नहीं करना नाम-सामायिक है। शुभाशुभ, सुंदरासुंदर प्रतिमा आदि की तदाकार, अतदाकर स्थापना देखकर राग-द्वेष नहीं करना स्थापना-सामायिक है। इष्टानिष्ट पदार्थों को देखकर राग-द्वेष नहीं करना द्रव्य-सामायिक है। कोई

रागद्दोसादि-वज्जणं दव्व-सामाइगं। उज्जाण-णयर-सरिदा- कूवादि-रम्मखेत्तेसुं रागवज्जणं रुक्ख-कंटग-कलिदविसम-विरसपाहाण-मलादिकलिद-अरम्मखेत्तेसुं दोसवज्जणं च खेत्तसामाइगं। सीद-वरिस-गिम्हयालेसुं हेमंत-सिसिर-बसंतादि-रिदूसुं रत्ति-दिवस-सुक्ककिण्ह-पक्खेसुं च रागद्दोसवज्जणं कालसामाइगं। सव्वदव्वेसुं सव्वजीवेसुं मित्तिसब्भावो असुहभाव-अभावो वा भावसामाइगं।।

चउवीस-तित्थयराणं जुगवं थवणं थुदी। एग-तित्थयर-पहाणत्तेणं किद-थवणं वंदणा। पंचपरमेट्ठि-वंदणं च कादव्वं। आइरिय-देसग-समण-वंदणं साहगं कादव्वं। णिम्मलभावेहिं किदवंदणा भवबंधणत्तो मुत्तिकारणं। आलोयण-पुच्छण-पूया-सज्झायपारंभ-अवराहेसुं च गुरुवंदणं कादव्वं। पावहेदुग-कज्जादो जाद-अदिचारादो पुहुत्तं पडिक्कमणस्स दंडरूव-

क्षेत्र रम्य होते हैं-जैसे बगीचे, नगर, नदी, कूप आदि, उनमें राग नहीं करना, कोई क्षेत्र अशोभनीय होते हैं-जैसे रूक्ष, कंटक-युक्त विषम, विरस पाषाण, मल आदि से युक्त, इन्हें देखकर द्वेष नहीं करना अर्थात् राग-द्वेष के उत्पादक क्षेत्रों के होने पर भी राग-द्वेष नहीं करना क्षेत्र-सामायिक है। शीतकाल, वर्षाकाल, ग्रीष्मकाल, हेमंत, शिशिर, बसंत ऋतुओं में; रात्रि, दिवस, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष इत्यादि इन कालों में राग-द्वेष नहीं करना काल-सामायिक है। सभी द्रव्यों में तथा संपूर्ण प्राणियों में मैत्री-भाव रखना, अशुभ-भाव नहीं करना भाव-सामायिक है।

चौबीस तीर्थंकर भगवंतों का युगपत् स्तवन करना स्तुति है। एक तीर्थंकर की प्रधानता से स्तवन करना वंदना है। पंच-परमेष्ठियों की भी वंदना करना चाहिए। आचार्य, उपाध्याय, साधु की भी वंदना साधक को करनी चाहिए। निर्मल भावों से की गई वंदना भव-बंधन से मुक्त कराती है। आलोचना करने में, प्रश्न के पूछने पर, पूजा करने में, स्वाध्याय के प्रारंभ में और अपराध के हो जाने पर, इन स्थानों में गुरुओं की वंदना करना चाहिए। पाप-हेतुक कार्यों से हुए अतिचारों से दूर होना या प्रतिक्रमण के दण्डरूप शब्दों का उच्चारण करना, पूर्व में हुए दोषों का निराकरण

उच्चारणं, पुव्वकिद-दोस-णिरायरणं च पडिक्कमणं। देवसिय-राइय-ईरियापहिग-पक्खिग-चउम्मासिग-संवच्छरिय-उत्तमट्ठ-भेदादो पडिक्कमणं सत्तविहं। भावि-दोसाणं पुव्विं हु चागो पच्चक्खाणं। देहममत्तं मोत्तूणं पंचपरमेट्ठि-णियप्पझाणं अहवा णववारं णमोयारमंत-जवं काओसग्गो।

एदाणि आवस्सग-कम्माणि आवस्सगाणि। सग-सग-आवस्सग-कम्माणि सावग-समणा णो करेंति दु ते सग-पदच्चुआ। तं जहा-'षण्णमावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः।' जहाकाल सद्दो महच्चपुण्णो। जो समयो जस्स आवस्सगस्स तदा तं आवस्सग-करणं उचिदं। कालादिक्कमणं अणुचिदं। कालादिक्कमणस्स आवस्सगीय-किरियाओ सदोसाओ। भो भावि भगवं! कुणेहि सग-कत्तव्वाणि जहाकाले।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

'प्रतिक्रमण' है। दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ के भेद से प्रतिक्रमण सात प्रकार का होता है। भविष्य में होनेवाले दोषों का पूर्व में ही त्याग कर देना 'प्रत्याख्यान' है। शरीर में ममत्व का त्याग कर पंच-परमेष्ठी का व स्वात्मा का ध्यान करना अथवा नौ बार णमोकार मंत्र का जाप करना 'कायोत्सर्ग' है।

ये आवश्यक कर्म हैं, इन्हें करना अनिवार्य है। यदि अपने-अपने आवश्यक कर्म श्रावक व साधु नहीं करते तो वे स्वपद से च्युत समझे जाते हैं।

आचार्यभगवन् पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथराज में कहा कि-'छः आवश्यक क्रियाओं को यथाकाल करना आवश्यक अपरिहाणि है।' 'यथाकाल' शब्द महत्वपूर्ण है। जो समय जिस आवश्यक का है उस आवश्यक को उसी काल में करना उचित है। काल का अतिक्रमण करना उचित नहीं। जो काल को अतिक्रमण करता है, उसकी आवश्यकीय क्रियायें दूषित हैं। भो भावी भगवन्! तू अपने कर्त्तव्यों को यथाकाल कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अपहावणा हु सम्म-पहावणा

हंसप्पा! कुण सगं धम्म-पहाविदं। जावं जीवो धम्मेणं भूदत्थ-रूवेणं च अपहाविदो, तावं णो करेदि णिद्दोस-सीलसंजम-पालणं। जिणसासणस्स उज्जोदणं पगासणं पहावदंसणं च पहावणा। पढमं कुज्जा सगं पहाविदं। जदा सयमेव धम्म-अपहाविदो पुणो किं कुज्जा अण्णा पहाविदो धम्मपहावणा वा? तदो पढमं कुण आदपहावणं। दिव्व-रदणत्तय-तेयदो जो करेदि आदपहावणं, सो वि करेदि धम्मपहावणं च। पढमं कुज्जा सगपद-अपहावणा-गवेसणं। सयं विसयकसाए रुइयर-भोगं पडि धावेदु, विसयं पडि सव्वं समप्पेदु, अप्प-पदं रदणत्तयं पि हंतेदु। पस्स, तुव आद-पगासो समत्तो। जस्स अब्भिंतरे धम्मज्जोदि-अभावो, किं सो करिस्सदि बहि-पगासं? पढमं दिव्वज्जोदिंपज्जालिय सुरक्खणं कुण।

अप्रभावना नहीं करना ही सच्ची प्रभावना है

हे हंसात्मन्! तू अपने आपको धर्म से प्रभावित कर। जब तक जीव धर्म से सत्यरूपेण प्रभावित नहीं होता, तब तक निर्दोष शील, संयम का पालन नहीं कर सकता। जिनशासन का उद्योतन करना अर्थात् प्रकाशित करना, प्रभाव दिखना प्रभावना है। पर सर्वप्रथम स्वयं को प्रभावित करना चाहिए। जब स्वयं ही धर्म से प्रभावित नहीं है, तो फिर दूसरों को क्या प्रभावित करेगा तथा धर्म की क्या प्रभावना करेगा? इसलिए सर्वप्रथम अपनी आत्मा की प्रभावना कर। दिव्य रत्नत्रय के तेज से आत्म-प्रभावना जिसने की है, वह धर्म की प्रभावना कर सकता है। सर्वप्रथम यह देखने की आवश्यकता है कि मेरे द्वारा कहीं स्वपद की अप्रभावना तो नहीं हो रही। अर्थात् स्वयं विषय-कषाय में रुचि कर भोगों की ओर दौड़ लगा रहा हो, विषयों के प्रति सर्व न्यौछावर कर दिया हो, आत्मपद रत्नत्रय-धर्म की भी बलि चढ़ा रहा हो। देख! आत्मप्रकाश तो तेरा समाप्त हो गया। जिसके अंदर धर्म की ज्योति ही बुझ रही हो, वह बाहर क्या प्रकाश करेगा? पहले अपनी

जो अक्खजण्ण-सुहरदो एवं भावेदि भावणं, सो कदावि णो करेदि जिणसासणस्स णिम्मल-पहावणं। अपहावणादो रक्खणमेव पहावणा। तित्थयर-पयडि- बंधग-भावणासुं पहावणा वि एगा भावणा।

सम्मत्त-अट्ठंगेसुं पहावणा एगं अगं। पहावणाए धम्मसद्दो णिहिदो। सग-खादि-लाह-पहावणा-विसज्जणं कुज्जा तदेव धम्मपहावणा होज्जा। अण्णहा मेत्तं वट्टमाण-देह-पसंसा एव होदि। आदहिदट्ठं णिप्पुह-भावणाए किदसम्मसाहणा खलु सुप्पहावणा। सुसाहणं दट्ठूणं सयमेव जीवो होदि पहाविदो, जायदि हिदए अल्हादभावो, लोयणेहिं पसण्णत्त-णीरं पवहेंति। साहगस्स पत्तेग-किरिया-चरिया सयं पहावणा, अण्ण-पहावणा अणावस्सगा। आरिसे वि उत्तं-'ज्ञानतपोदानजिनपूजा-विधिना

दिव्य-ज्योति को जलाकर सुरक्षित कर। जो इंद्रियजन्य सुखों में लीन है व भावना भा रहा है, वह कभी भी जिनशासन की निर्मल प्रभावना नहीं कर सकता। अप्रभावना से बचना ही प्रभावना है। तीर्थंकर-प्रकृति की बंधक भावनाओं में 'प्रभावना' भी एक भावना है।

सम्यक्त्व के आठ अंगों में एक अंग प्रभावना है। प्रभावना के अंदर धर्म शब्द जुड़ा है। स्वयं ही प्रभावना, ख्याति लाभ की भावना को विसर्जित करना होगा, तब ही होगी धर्म-प्रभावना। अन्यथा मात्र आपके स्वयं के वर्तमान शरीर की प्रशंसा ही हो सकती है। निःस्वार्थ भावना से की गई आत्म-कल्याण हेतु सच्ची साधना ही वास्तव में है सत्-प्रभावना। सत्-साधना को देखकर प्राणीमात्र स्वयं प्रभावित होता है, उसे देखकर हृदय में आह्लाद उत्पन्न होता है, प्रसन्नता के नीर नेत्रों से झरने लगते हैं। साधक की प्रत्येक क्रिया-चर्या स्वयं प्रभावना है, अलग अन्य कोई प्रभावना करने की आवश्यकता नहीं। आर्ष ग्रंथ (सवार्थसिद्धि) में कहा है कि-'ज्ञान, तप, दान और पूजा इनके द्वारा धर्म का प्रकाश करना 'मार्ग-प्रभावना' है।' 'आचारसार' ग्रंथ में उल्लेख है-'जो साधक मार्ग-प्रभावना से शून्य है,

धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना।' आचारसारे वि भणिदो- मग्गपहावणारित्तो साहगो वसुहाए भारभूदो। भो णाणी! सगहिदं इच्छेसि दु कुण णियप्पं पहाविदं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

वह इस वसुधा पर भारस्वरूप है। जो ज्ञानी! तू स्वयं की आत्मा को प्रभावित कर, स्वकल्याण चाहता है तो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जं णो णियगुण-अणुरागो, कहं सो धम्मप्पा

हंसप्पा! उज्जाणे विसट्ट-पुप्फाणि दट्ठूणं भमरा परिब्भमेंति। अम्ब-मंजरीओ दट्ठूणं बसंतसोहाए बला कोइला कूयणं करेदि, तं कोवि णो पणोल्लेदि। किसगो सग-सस्स-सामलाभूमीए हरिदकायं दट्ठूणं होदि पमुदिदमणो, तस्स आणंदो अंतरंगे माहुरियं देदि। सो तदा सव्वं विसरेदि, केवलं भोमत्थ-सस्सं पस्सेदि। भो चेयण्ण! आद-उज्जाणे चारित्त-संजमफलाणि संति, ताणि फलाणि सिवसुह-परागजुत्ताणि।अस्स उववणस्स मालायारो हुव। आदधम्मस्स माला-णिम्माणट्ठं णाण-वेरग्ग- पुप्फाणि भजेज्जा। आद-उज्जाणे चिट्ठिय मालं गुंफिय सग-सामिं चेयण्णदेवं परिदा। सो तुम्हम्हि हरिसेज्जा, हरिसिदूणं णियसिर-सेहरं तुमे पवेज्जेज्जा।

निज गुणों में जिसे अनुराग नहीं, वह धर्मात्मा कैसा?

हे हंसात्मन्! उद्यान में खिले सुमनों को देखकर भ्रमर मंडराने लगते हैं। आम्र मंजरियों को देखकर बसंत की बहार में कोकिल बलात् कुहू-कुहू करने लगती है, कोई उसे प्रेरित नहीं करता। कृषक अपनी शस्य-श्यामला भूमि में हरितकाय को देखकर प्रमुदित-मन हो जाता है, उसका आनंद अंदर ही अंदर मिठास प्रदान करता है। वह उस क्षण सब भूल जाता है, मात्र अपनी भूमि के ऊपर खड़ी फसल को निहारता है। भो चैतन्य! आत्म-बगिया में चारित्र व संयमरूप फल लगे हैं, उन फलों में मोक्ष-सुख का पराग भरा हुआ है। इस उपवन का तू मालाकार (माला) बन जा। आत्मधर्म की माला बनाने के लिए ज्ञान, वैराग्य के पुष्प मिलेंगे। आत्म-बगिया में बैठकर तू माला बनाकर अपने स्वामी चैतन्य-देव को समर्पित कर दे। वे तेरे ऊपर खुश हो जाएँगे, खुश होकर अपनी सिर-शेखर

तुमं होहिसि तिलोग-तिलगो। चेयण्ण! उज्जाणपालगं सग-आरोविद-लहुकोमल-रुक्खगेसुं कियत्तो अणुरागो। सो पडिपलं पुणो पुणो दट्ठूणं हरिसेदि, तहा तेसिं सुरक्खणट्ठं पडिदिणं करेदि जलसिंचणं, तं रुक्खगेसुं विसाल-फलवंता रुक्खा दीसेज्जा। किं तुमं सग-उज्जाणं पडि किंचिवि अणुरागो णत्थि? तुव उज्जाणे वद-समिदि-अणुवेक्खा-धम्म-गुत्ति-मूलोत्तरगुणरूव-रुक्खगा पल्लवेंति। सूसंतं उज्जाणं दट्ठूणं किं तुमं किंचिवि चिंता णत्थि? भोगाकंखा-कीडा धम्मचारित्त-रुक्खगा णासेंति। रे मूढ! णस्सिद-उज्जाणं पुण आरोवणं दुग्गमं। भासण-पवयणादो णो कज्जसिद्धी। सयं कुण आद-उववण-रक्खणं। णियगुणेसुं जं णो अणुरागो, सो कहं धम्मप्पा? कत्थ तम्हि वच्छल्लं? धम्म-धम्मिगं दट्ठूणं धेणुवच्छसमो णिक्काम-णिक्कंखिद-अणुरागो पलुंट्टेज्जा। जहा पओयणं विणा धेणुं

तुझे भेंट कर देंगे। तू त्रैलाक्य-तिलक बन जाएगा। देख, चैतन्य! बागवान को अपने द्वारा लगाए नन्हें-नन्हें कोमल पौधों से कितना प्रेम है। वह प्रति पल देख-देखकर खुश होता है तथा कहीं मेरे पौधे सूख न जाएँ इसलिए प्रतिदिन जल-सिंचन करता है, क्योंकि उसे पौधों में विशाल फलवत् वृक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं। क्या तुझे अपने बगीचे के प्रति तनिक भी प्रेम नहीं है ? तेरे उद्यान में व्रत, समिति, अनुपेक्षा, धर्म, गुप्ति, उत्तरगुण, मूलगुण रूप पौधे पल्लवित हो रहे हैं, क्या तुझे बिल्कुल चिंता नहीं है सूखती बगिया को देखकर ? भोगों के, आशाओं के कीड़े चारित्र व धर्म के पौधों को नष्ट कर रहे हैं। रे मूढ़! एक बार नष्ट हुआ बगीचा पुनः लगाना कठिन हो जाता है। भाषण/प्रवचन से कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है। तुझे अपने उपवन की रक्षा स्वयं करनी होगी। निज गुणों में जिसे अनुराग नहीं, वह धर्मात्मा कैसा ? वात्सल्य उसके अंदर कहाँ ? धर्म-धर्मात्मा को देखकर धेनु-वत्स-जैसा निष्काम, निःकाँक्षित प्रेम उमड़ना चाहिए। जैसा गाय को अपने बछड़े के प्रति वात्सल्य होता है बिना किसी स्वार्थ के, वैसे ही साधक के लिए स्वधर्म के प्रति तथा धर्मात्माओं के प्रति मायाचारी से रहित, प्रतिफल की भावना

वच्छं पडि होदि वच्छल्लं, तहेव साहगस्स आदधम्मं पडि धम्मिगं पडि आदगुण-वड्ढीए मायारहिदं पडिफलभावणारहिदं णिम्मलभावसहिदं च होदव्वं वच्छल्लं। विणा वच्छल्लं धम्मिग-वेस-धारगो णिग्गंधपुप्फसमो। जो वच्छल्ल-रहिदादो सयल-सम्माणपत्तं इच्छेदि, सो घेणु-सिंगादो दुद्धं फेडिदूणं सग-बुभुक्खा-णिवारणं इच्छेदि। णाणी-सुदिट्ठि-चारित्तवंतस्स सुगंधो वच्छल्लभावो। जो धम्मिगा दट्ठूणं अप्पमुदिदो, करेदि अणादरं च, सो धम्म-अवमाणगो एव। सो णाणी धम्मप्पा चारित्तवंता य णत्थि। आदधम्मसिद्धीए उप्पादेहि वच्छल्लभावं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

से रहित, आत्म-गुणों की वृद्धि के लिए निर्मल भावों से युक्त वात्सल्य होना चाहिए। वात्सल्य-बिन धर्मात्मा के वेष को धारण करनेवाला निर्गंध पुष्प के तुल्य है। जो व्यक्ति वात्सल्य से रहित होकर सभी के सम्मान का पात्र बनना चाहता है, वह मानो गाय के सींगों से दुग्ध निकालकर अपनी भूख दूर करना चाहता है। ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, चारित्रवान् की सुगंध वात्सल्य-भाव है। जो धर्मात्माओं को देखकर प्रमुदित नहीं होता, उल्टा अनादर करता है, वह धर्म की ही अवहेलना करनेवाला है। वह न ज्ञानी है, न धर्मात्मा, न ही चारित्रवान्। आत्मधर्म की सिद्धि के लिए वात्सल्य-भाव को जन्म दे।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

मा कुण रागदोसा परदव्वेसुं

हंसप्पा! संसार-परिणदिं दट्ठूणं मा कुण हरिसविसादा। उहय-किरियादो कम्मबंधो होदि। हरिसम्हि रागो, विसादम्हि दोसो। जीवो रागद्दोसेहिं भवसायरे हिंडेदि। जीवो तिव्व-रागद्दोसेसुं सगविवेगं विसरेदि, णो होदि सग-पर-णाणं। हेयोवादेयस्स भेदविण्णाणं सम्मभावे हु फुड्डेदि। रागभूमिगाए राया-सच्चंधरस्स किं होसी? रायमहिसी-विजया-रागे तम्मयत्तेणं विसरीअ रायकज्जं। कट्ठंगार-मंतिम्हि सयलरायकज्जं दिंतीअ एवं सयं रायभवणे विलासिदा-जीवणं जीवीअ। मंतिणा सच्चंधर-रायणो पाणं रज्जं चावि गदो। सिरिपालो किदो समणं पडि दोसं, तेणं देहे जादो कुड्ढरोगो, इदं पसिद्धं। भो णाणी! संसारण्णवे णिबुड्ढणं णो इच्छेसि दु मा कुण

पर पदार्थों में राग-द्वेष मत कर

हे हंसात्मन्! संसार की परिणति को देखकर न हर्ष कर और न विषाद। उभय क्रिया से कर्म-बंध होता है। हर्ष में राग है, विषाद में द्वेष है। राग-द्वेष के कारण भवसागर में भटक रहा है। जीव अपने स्वविवेक को राग-द्वेष की तीव्रता में भूल जाता है। आपा-पर का भान ही नहीं रहता। क्या हेय है, क्या उपादेय-ये भेद-विज्ञान साम्यभाव के होने पर ही प्रकट होता है। राग की भूमिका देखो-महाराजा सत्यंधर का क्या हुआ ? रानी विजया के तीव्र राग में इतना तन्मय हो गया कि राज-काज ही छोड़ बैठा। काष्टङ्गार मंत्री पर सारा राजकार्य सौंप दिया। स्वयं राजभवन में विलासिता का जीवन यापन करने लगा। मंत्री के द्वारा सत्यंधर राजा के प्राण भी गए और राज्य भी गया। मुनिराज के प्रति द्वेष किया था श्रीपाल ने, सारे तन में कुष्ठ रोग हो गया, वह सर्व-प्रसिद्ध बात है। भो ज्ञानी! संसारार्णव में तू भीषण गोते नहीं खाना चाहता है तो किसी पर-पदार्थ के प्रति राग-द्वेष न कर, चाहे वे द्रव्य चेतन हों, अचेतन हों। तू परम वीतराग-मार्ग का

रागद्दोसा चेयण-अचेयण-परदव्वं पडि। वीदरागमग्ग-आसयं कुण। कुंदकुंददेवस्स अमरवयणं हिदए विज्जेहि। विहडेहि परिग्गहादो। तुव रागो पुण्णरूवेणं णस्सेज्जा। तं जहा-

छिज्जदु वा भिज्जदु वा, णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु, तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ।।

सो मज्झ णत्थि, जाणगभावस्स सामी हं। अण्णं अण्णं एव। एरिसं चिंतणं कुण, पुण तुमं चेयण्णं लहिस्ससि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

आलम्बन कर। भगवान् कुंदकुंददेव की अमरवाणी को हृदय पर विराजमान कर ले। परिग्रह से दूर हो जा। पूर्णरूपेण तेरा राग नष्ट हो जाएगा। कहा भी है कि-'ज्ञानी जीव ऐसा विचारता कि पर-द्रव्य छिद जाओ अथवा मिट जाओ अथवा कोई ले जाओ या नष्ट हो जाओ, जिस-तिस तरह चला जाओ, तो भी निश्चय से मेरा पर-द्रव्य-परिग्रहण नहीं है, अर्थात् मैं उसका स्वामी नहीं हूँ।'

वह मेरा स्व नहीं है, मैं अपना ज्ञायक-भाव-रूप का स्व स्वामी हूँ। अन्य, अन्य ही है। ऐसा चिंतवन कर, तो तू चैतन्य को प्राप्त कर लेगा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

धार विणयं, कुण माणणासं

हंसप्पा! अप्पाणो अणुवमगुणो विणेयो, जेणं विज्झंतो दीवगो वि पज्जलेदि रित्तघडो णिब्भरेदि। विणयवंतो विणयगुणेणं गुणिणो पहाविदूणं तेसिं गुणसमूहं णिए गेण्हेदि, अण्णाणेणं अच्छादिदं आदणाणजोदिं पभासेदि। महंत-गुणेसुं एगो गुणो विणयो। सयमेव विणयवंतो सव्वत्थ लहेदि आदरं। पत्तेग-जीवो करेदि विणयवंतस्स कित्ति-वक्खाणं। आदगोरव-वड्ढीए हुव विणयवंतो। विणयादो विणा विज्जा-विण्णाण-दंसण-चारित्त-पहुदिगुणा वि णो भजेंति आदरं। णाणी-जीवं कादव्वं सगपर-गुणविणयं। अण्ण-दिस्समाण-गुणा गेण्हेज्जा परिअरेज्जा एवं अप्पत्थ-गुणा वड्ढेज्जा, आदरादो पालेज्जा। तदेव माणविणासो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

विनय धार, मान का कर नाश

हे हंसात्मन्! विनय आत्मा का वह अनुपम गुण है, जिसके माध्यम से बुझा दीप जल उठता है, खाली घट भर जाता है। विनयशील व्यक्ति अपने विनय गुण के द्वारा गुणियों को भी प्रभावित कर उनके गुण-समूह को अपने में ग्रहण कर लेता है, अज्ञान से आच्छादित आत्मा की ज्ञान-ज्योति को प्रकाशमान कर लेता है। महान् गुणों में एक गुण विनय है। विनयवान् प्रत्येक स्थल पर स्वयं आदर को प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति विनयवान् की कीर्ति बखान करता है। आत्मगौरव की वृद्धि जिसे करना हो तो पहले विनयशील बन जाओ। विनय के बिना विद्या, विज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि गुण भी आदर को प्राप्त नहीं होते। ज्ञानी-जीव को स्व-पर गुणों की विनय करना चाहिए। स्व-पर गुणों की विनय से तात्पर्य है जो दूसरों में गुण दृष्टिगोचर हों उन्हें ग्रहण करना चाहिए तथा आदर करना चाहिए और अपने अन्दर जो गुण हैं उन्हें बढ़ाना चाहिए, आदरपूर्वक उनका पालन करना चाहिए। मान का नाश तभी होगा।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

मा लेह, णिरिक्ख सगं

हंसप्पा! आदणाणिणो आद-णिम्मलत्तं संभवं ण दु सत्थणाणिणो। सत्थणाणं मेत्तं बुद्धिवायामो। को वि इच्छेदि सत्थणाणेणं होदु वेरग्गं चारित्तं भोगेसुं उदासीणत्तं च, पुण तं सव्वेसुं णिमित्तं। णाणेणं एदाइं उप्पज्जेंति, एसो णत्थि। पुणो जावदु सत्थणाणी, ते सव्वे साहू हुज्जा। आगम-अज्झप्प-सत्थ-णाणबद्धा विउला जाणेंति उवदिसेंति वि, उवदिसंतो सुणंतो आणंदेंति, पुणो वि भोगं पडि उदासीणत्तं एवं तेणं णिउत्ती णो होंति। आदणाणं सत्थणाणं अवगमणं मे बुद्धीए अण्णाणत्तं। जीवस्स सत्थणाण-दव्वसुद-परिणदी भिण्णं, जेणं जीवो चारित्तरदो तं आदणाणं भिण्णं। आदणाणी होदि सत्थणाणी, सो सत्थणाणेणं णियप्पणाणे णिम्मलत्तं चारित्ते विसुद्धत्तं च

लिखो नहीं, स्व को लखो

हे हंसात्मन्! आत्म-निर्मलता आत्मज्ञानी के ही संभव है, शास्त्र-ज्ञानी के नहीं। शास्त्र-ज्ञान बुद्धि का व्यायाम मात्र है। कोई चाहे कि शास्त्र-ज्ञान से वैराग्य होता है, शास्त्र-ज्ञान से चारित्र होता है, शास्त्र-ज्ञान से भोगों में उदासीनता आती है वह इन सब में निमित्त तो है, पर ज्ञान से ही ये उत्पन्न हैं, ऐसा नहीं है। कारण, फिर तो जितने शास्त्रज्ञानी हैं वे सब साधु होने चाहिए। अध्यात्म/आगम शास्त्रों के विद्वान् जानते तो बहुत हैं, उपदेश भी देते हैं, सुनते-सुनाते हुए विभोर भी हो जाते हैं, पर भोगों के प्रति उदासीनता व उनसे निवृत्ति नहीं देखी जाती। आत्मज्ञान जिसे कहा गया है, उसे शास्त्र-ज्ञान समझना मेरी समझ में नासमझ है। जीव की शास्त्रज्ञान/द्रव्यश्रुत की परिणति भिन्न है; जिससे जीव चारित्र में संलग्न होता है वह आत्मज्ञान भिन्न ही है। आत्मज्ञानी शास्त्रज्ञानी तो हो सकता है, शास्त्रज्ञान से वह अपने आत्मज्ञान में निर्मलता तथा चारित्र में विशुद्धता लाता है। आत्मज्ञान होने पर ही वैराग्य का जन्म होता है, पर मात्र शास्त्रज्ञान इन सब से दूर रखता है। तर्कशीलता की वृद्धि होती है शास्त्रज्ञान

उप्पादेदि। आदणाणम्हि जादेदि वेरग्गं, पुण केवलं सत्थणाणं इमत्तो विओजेदि। सत्थणाणेणं तक्कणासत्ती वड्ढेदि। आदणाणी होदि आणासम्मत्त-समिद्धो। खलु जिण-आणा भूदत्था, णो अण्णा णेव अण्णहा। एत्थ मे उद्देस्सो मेत्तं सत्थणाण-जागरणं णत्थि, अप्पणो णियोवादाण-जोग्गत्त-जागरणं आदणाण-जागरणं चेव उद्देस्सो। विसयभोगत्तो सयमेव उदासीणत्तं, सुलह-भोगेसुं अप्प-अगमणं, पुव्व-भोगाणं णो मिदी, भविस्स-भोगाणं अणाकंखा वा आदणाणी- लक्खणाणि। भो चेयण्ण! हुव आदणाणी णो केवलं सत्थणाणी।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

से। आत्मज्ञानी आज्ञा-सम्यक्त्व से भरा होता है। जो जिन-आज्ञा है, वह सत्य है। अन्य नहीं है, अन्यथा नहीं है। यहाँ मेरा उद्देश्य मात्र शास्त्रज्ञान को जागृत करना नहीं है, अपितु आत्मज्ञान/आत्मा की निज-उपादान की योग्यता को जागृत करना है। विषयभोगों से स्वतः पूर्ण उदासीनता का आना, सुलभ-से-सुलभ भोगों में अपने आप को नहीं ले जाना, पूर्व भोगों का स्मरण नहीं करना, आगामी भोगों की इच्छा नहीं करना, ये आत्मज्ञानी के लक्षण हैं। भो चैतन्य! आत्मज्ञानी बन, मात्र शास्त्रज्ञानी नहीं।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

वंचणं मा कुण

हंसप्पा! कदावि णो अण्णस्स वंचणा। जो भासेदि अण्णं वंचेज्जा, सो पढमो सगं वंचेज्जा। वंचणा होदि सगस्स। अण्णाणी अण्णं वंचिदूणं हरिसेदि। रे मूढ! तुमं अण्णाणदाए अत्थि। जं तुमं मायाजालम्हि पाडेदि, सो वट्टमाण-मेत्ते तए भजेस्सदि किंचि किलेसं। तुमं णो जाणेसि कियत्ते विराडजालम्हि बज्झेसि? तं विसरेसि। पस्स कम्मसमूहं पुणो तेसिं विवागे विचिंत, किं होहिदि वंचणाफलं? णिम्मलभाव-सहजावत्था-सब्भावो वा समणत्तं। इमस्स विवरीदगममाणो समणत्त-सुण्णो। भोगी जोगी तुमं पस्स सगपरिणदिं। अण्णं उवदिसेसि, कइयाइं दिंत सगं उवएसं। कोवि कुणेदु वंचणं फलं तु भुंजेज्जा। तम्हा चेयण्ण! कुण णियधम्मरक्खणं वंचणा चागं च।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

मत करो वंचना

हे हंसात्मन्! वंचना कभी दूसरे की नहीं होती। जो कहता है कि मैं दूसरे को धोखा दे रहा हूँ, वह सर्वप्रथम अपने आप को धोखा दे रहा है। वंचना स्वयं की होती है। अज्ञानी जीव खुश होता है दूसरे को ठग कर। रे मुढ़! देख, कैसी भूल में है तू ? जिसे तूने मायाजाल में डाला है, वह तो मात्र वर्तमान में तेरे द्वारा कुछ क्लेश को प्राप्त होगा पर तुझे मालूम नहीं कि तू कितने विराट् जाल में फँस चुका है ? उसे शायद भूल रहा है। कर्मों के उस समूह को देख, फिर उनके विपाक पर एक क्षण चिंतवन कर ले, क्या परिणाम होगा वंचना का ? निर्मल-परिणाम/सहज-अवस्था का होना ही साधुता है। जो इसके विपरीत गमन करता है, वह साधुता से शून्य है। भोगी-योगी तू स्व की परिणति को देख। पर को तो तू खूब उपदेश देता है, पर निज को भी तो कभी उपदेश दे लिया कर। वंचना कोई भी करे, फल तो भोगना ही पड़ेगा। तो चैतन्य! निज धर्म की रक्षा कर, वंचना का त्याग कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

गुणी णो करेदि णियपसंसं

हंसप्पा! णाण-दंसण-चरित्ते विसेसे णाणिं सगमुहादो सग-पसंसं परणिंदं च णवि कादव्वं। आदपसंसा-परणिंदादो गुणी वि होदि णिग्गुणी। चारितगुणवंतस्स य गुणपसंसा सयमेव होदि। णियपसंसादो फुड्डेदि हीणत्तं। सगेणं पसंसादो णो होदि पसंसणिज्जो, अपित्त णिंदणिज्जो एव। सा हु पसंसा वरा, जा अपरिचिद-पसंसगेहिं किदा। जो णाण-दंसण-चरित्तहीणो, णं कदावि णो करेदि सग-पसंसं, सो पसंसणिज्जो गुणी वा। जदा तं समया णो गुणो दु कहं गुणी? सो सग-पसंसं णो करेदि, एवमेव तस्स गुणो, तम्हा पसंसणिज्जो। भो चेयण्ण! धार मद्दवज्जव-धम्मं, कुणेहि सगगुण-वड्ढिं एवं विसज्ज सग-पसंसं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

गुणी स्वप्रशंसा नहीं करता

हे हंसात्मन्! ज्ञान, दर्शन और चारित्र में विशेष होने पर ज्ञानी को स्वमुख से अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। साथ ही पर की निंदा भी नहीं करना चाहिए। आत्मप्रशंसा, पर-निन्दा करने से गुणी भी निर्गुणी कहलाता है। चारित्रवान्/गुणवान् के गुणों की प्रशंसा स्वतः हुआ करती है। निज की प्रशंसा करने से हीनता प्रकट होती है। प्रशंसनीय, अपने द्वारा प्रशंसा करने से नहीं होता, अपितु निन्दनीय ही हो जाता है। प्रशंसा तो वही श्रेष्ठ है जो बिनचाहे प्रशंसकों के द्वारा की जाती है। जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र में हीन है, पर कभी स्व की प्रशंसा नहीं करता है, वह गुणी है, प्रशंसनीय है। जब उसके पास गुण ही नहीं, तो गुणी कैसा ? उसका उत्तर यह है कि वह अपनी प्रशंसा नहीं करता, यही उसका गुण है, इसलिए प्रशंसनीय है। अतः, भो चैतन्य! मार्दव-आर्जव धर्म को धारण कर, स्व-गुणों में वृद्धि कर, स्व की प्रशंसा का विसर्जन कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सम्मभावो जीवण-सुहा

हंसप्पा! सम्मभावो सहजवित्ती जीवण-अमिदं, जं जीवं मरण-उवरंतं पि जीवेदि। जस-सम्माण-पहुदी जादि सरलहिदयिं। इदरो णिद्दुर-हिदयिं अवजस-अणादर-अवकित्तिं जादि। समण-सिंगारो समदा। सम्म-सहावी-हिदयो उत्तम-खमा-मद्दव-अज्जव-सुइ-सच्च-संजम-तव-चाग-आकिंचण्ण-बंभचेरधम्मजुत्तो। समदासील-समणवित्ती विउल-अणुवमा। ते रिवु-परिवारे कंचण-मुउरे जल-थल-णहे चेयणाचेयणे इट्ठाणिट्ठे मित्तामित्ते य धम्मभावं धारंता हरिसविसादत्तो विरमेंति। सग-कत्तव्वे सग-समय-गवेसणाए रज्जेंति। बहि-किरियादो विरमेंति। जे आदसुहे सुरदा, ते परम-अप्पाणुभूदि-लाहं इच्छेंति। ताए उवलद्धीए कुण सम्म-उज्जमं च।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

साम्यभाव जीवन का अमृत

हे हंसात्ममन्! साम्यभाव, सहजवृत्ति जीवन का अमृत है, जो कि व्यक्ति को मरण के उपरान्त भी जीवन्त रखता है। यश, सम्मान आदि सरल-हृदयी को प्राप्त होता है। इसके विपरीत कठोर-हृदयी को अपयश, अनादर, अपकीर्ति ही प्राप्त होती है। साधु का शृंगार तो समता ही है। साम्य-स्वभावी का हृदय उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य धर्म से युक्त होता है। समताशील महामुनिराज की वृत्ति बहुत ही अनुपम है। शत्रु व कुटुम्ब में, कंचन-काँच में, जल-थल-नभ में, चेतन-अचेतन में, इष्ट-अनिष्ट में, मित्र-शत्रु में साम्यभाव रखते हुए हर्ष-विषाद से बहुत दूर रहते हैं। अपने स्व-कर्त्तव्य में तथा स्व-समय की खोज में लीन रहते हैं। बाह्य-क्रियाओं से दूर रहते हैं। जिन्हें मात्र आत्मसुख की सुरत लगी है, वे चाहते हैं कि कब उस परम आत्मानुभूति को प्राप्त करें। उसी की उपलब्धि हेतु तू सम्यक् पुरुषार्थ कर।।

सम्मभावो सम्मसाहणा

हंसप्पा! सयलसाहणासुं सामण्णं परमसाहणा। सव्वविह-तवस्सा-चरित्ताणि संकिलेसत्त-हाणीए सम्मभाव-रक्खणत्थं च कीरेदि। अप्पा! तुव णियलक्खं जस्स आसी, जस्स अत्थि, भविस्से वि तमेव कुण। साहणादो णाणचरित्त-वड्ढीए सह पुण्णजोगदो कित्ती वड्ढेदि। बहिदो रक्खणसमयो साहगस्स परिक्खा-समयो। जणसमूहे जणसमूहादो सगं पुहं कुज्जा एवं सग-आवस्सग-किरियाओ णिच्छिदसमए कुज्जा। भोयणं छुट्टेज्जा, पुणो वि आवस्सग-कत्तव्वकालं णवि छुट्टेज्जा। कत्तव्व-विमोयणं महावराहो त्थि, कत्तव्वस्स जहासमयस्स कालादिक्कमं पि सम्मसाहगो मण्णेदि महावराहो। सो पडिक्खणं सगकत्तव्वपालणे पमादं णवि करेदि। भो अप्पा! ताए संपदा-सिद्धीए तुमं संजमं धारेसि। सुह-संति-कम्मक्खयो

साम्यभाव रखना ही सच्ची साधना

हे हंसात्मन्! संपूर्ण साधना में साम्यता ही परम साधना है। जितने प्रकार की तपस्या है, चारित्र है, वह सब क्लेशिता की हानि के लिए ही की जाती है, साम्यभाव की रक्षा के लिए ही की जाती है। हे आत्मन्! तेरा निज लक्ष्य जिसका था, जिसका है, वही बनाकर रखना भविष्य में भी, क्योंकि साधना करने से ज्ञान चारित्र, दोनों की वृद्धि के साथ कीर्ति भी पुण्य के योग से वृद्धिमान होने लगती है। साधक की परीक्षा का समय यही होता है बाहर से बचने का। भीड़ सामने होने पर भीड़ से अपने आपको पृथक् रखना और अपनी आवश्यक क्रियाओं को निश्चित समय पर करते रहना। भोजन छूट जाए, लेकिन आवश्यक कर्त्तव्य का काल नहीं छूट पाये। ध्यान रख, कर्त्तव्य का छूटना तो महा अपराध है ही, पर कर्त्तव्यपालन के यथा-समय के कालातिक्रम करने को भी सच्चा साधक महा अपराध समझता है। वह प्रतिक्षण स्व-कर्त्तव्य-पालन में प्रमाद नहीं करता। भो आत्मन्! तूने उसी सम्पदा की सिद्धि के लिए संयम धारण किया है। परम लक्ष्य सुख, शान्ति

हु परम-लक्खं। तमेव जीवणे सव्वोवरिं जाण, अवर-किरियाकंड-पदिट्ठाए सामाइग-चारित्तविणासं मा कुण णवरि तस्स लद्धीए देवा वि तरिसेंति। परमसुही-भूद-णियप्पोवलद्धि-रक्खणं सिद्धिदायग-सामाइगचारित्त-रक्खणं च कुण पाणत्तेणं। सुमेरु-पव्वदो वि कंपेज्जा, तुमं महव्वदादो हुव पुण्ण-अकंपिदो। एवमेव तुव समणत्तं वीरत्तं धीरत्तं गंभीरत्तं च। तं महामहिमामंडिद-जिणदेवरूवं तुमं पुण्णकम्मोदएणं लहेसि। तं पुण्णं तुव पुण्णफलं होदूणं अरहंतपदहेदू हुज्जा।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

और कर्म-क्षय है। उसे ही अपने जीवन में सर्वोपरि मानकर चलना, अन्य क्रियाकाण्डों व प्रतिष्ठा के पीछे सामायिक-चारित्र का विनाश मत कर बैठना, क्योंकि उस चारित्र की प्राप्ति के लिए देवगण भी तरसते हैं। उस परमसुखकारी स्वात्मोपलब्धि की, सिद्धिदायक सामायिक चारित्र की प्राणपन से रक्षा कर। सुमेरु पर्वत भी काँप जाय, लेकिन तू महाव्रतों से पूर्ण अकंपित रहना, यही तेरी साधुता है, वीरता है, धीरता है, गंभीरता है। उस महामहिमा-मंडित जिनदेव के रूप को तूने पुण्य-कार्म के उदय से प्राप्त किया है। वह पुण्य तेरा पुण्यफल बन अरहन्त-पद का हेतु बने।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अहुणा संभल

हंसप्पा! तए किद-पावफलं किं होहिदि, अहुणा तुमं णो जाणेसि? अहुणा पावकम्मं तुव पुण्णोदयस्स पुरदो अप्पहावी। होदि पावसंचयो। जदा पुण्णदव्वकोसो होहिदि रित्तो, तदा तुव का अवत्था होहिदि? जस्स णेत्ते विद्दही होदि, सो उवणेत्तेणं णेत्त-विद्दहिं गुहेदि। सो करेदि णेत्तम्हि आवरणं, णं किं आवरणत्तो णेत्त-कट्ठं विओजेदि? वेदणा दु होदि। एवमेव अण्णाणी-दसा। सो अण्णत्तो पावकम्म-गोवणट्ठं पावकम्मं किच्चा बहिदो धम्मिग-आवरणं छादेदि। पावकम्मफलं तु तुमं भुंजेज्जा। जहा-आवरणं णेत्तवेदणं णो गुहेदि, केवलं गुहेदि विद्दहिं। भो णाणि! जाणि पावाणि तुमं करेसि, ताणि सव्वाणि सत्ताए विज्जेंति, बालकण्ण व्व। जहा बालकण्णा वट्टमाणे जुवाजीवस्स

अभी संभल जा

हे हंसात्मन्! अभी तुझे मालूम नहीं चल रहा है कि तेरे द्वारा किये गए पापों का परिणाम क्या होगा ? क्योंकि अभी तो पाप-कर्म तेरे पुण्योदय के सामने प्रभाव नहीं दिखा रहा है। पाप-द्रव्य का संचय हो रहा है। जिस दिन पुण्य-द्रव्य का कोश खाली हो जाएगा, उस दिन तेरी क्या अवस्था होगी ? देख, जिसकी आँख में फोड़ा हो जाता है, वह चश्मे के माध्यम से आँख के फोड़े को ढ़ँक लेता है पर उस व्यक्ति से पूछना कि तू नेत्र के ऊपर आवरण तो कर सकता है किंतु आवरण से नेत्र के कष्ट को दूर कर पा रहा है क्या ? दर्द तो हो ही रहा है। अज्ञानी की दशा यही है। वह पाप-कर्म करके बाहर से धर्मात्मापने का आवरण ओढ़ लेता है दूसरे से पाप-कर्म छुपाने हेतु। लेकिन ध्यान रख, पापकर्म का फल तो तुझे भोगना ही पड़ेगा। जैसे कि आवरण नेत्र के दर्द को नहीं ढँकता, मात्र फोड़े को ढँकता है। भो ज्ञानी! जो पाप तू कर रहा है, वे सब सत्ता में विराजमान हो रहे हैं, बालकन्या के समान। जैसे बालकन्या किसी युवा के लिए अभी वर्तमान में विकार का

णो होदि विगार-कारणं। सा हु कण्णा जदा लहेदि जुवदी-अवत्थं तदा कामुगस्स करेदि जालाकज्जं वासणा-उप्पत्तीए होदि णिमित्तं च। तहेव जीवकिद-कम्माणि वट्टमाणे बालकण्ण व्व। अहुणा किंचणं पि अणुहवणं णत्थि। सत्तट्ठिद-कम्मविवागम्हि पडिक्खणं तुज्झ णेत्ताणि रोच्छेज्जा। पावकम्मस्स दिणं विम्हरेज्जा। हे अप्पा! तुमं अहुणा संभल, जेणं णेत्ताणि णो रोच्छेज्जा दुग्गदि-गमणं णो होज्जा।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

कारण नहीं बनती है, परंतु वही कन्या जब युवती-अवस्था को प्राप्त करती है, तब कामी के लिए ज्वाला का कार्य करती है, अर्थात् वही बालकन्या अपनी युवा-अवस्था में वासना की उत्पत्ति में निमित्त बन गई। उसी प्रकार से जीव जो कर्म वर्तमान में कर रहा है वे बालकन्या के तुल्य हैं। अभी कुछ पता नहीं चल रहा। जिस दिन सत्ता में पड़े कर्म विपाक (उदय) में आएँगे फिर क्षण-क्षण तेरी आँखों में नीर बहायेंगे। वह दिन याद आएगा जब पाप-कर्म कर रहा था। हे आत्मन्! तू अभी संभल जा, ताकि नयनों में नीर न बहाना पड़े, दुर्गति में गमन न करना पड़े।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सीलरक्खणट्ठं हुव सुचेदो

हंसप्पा! तुमं भवतवणं अणादिणा सहेसि। किं इदं तवणं तुमं तवण-रूवे णो अणुहवेसि। अणल-सिहं दट्ठूणं बालगा वि होंति भयभीदा, णं तुमं धिगत्थु। भो पुमाण! कत्तो तुव विवेगो? भवतवणेणं काम-कोह-उद्देगा जायंति, तदा विवेगो धंसेदि। वेगकाले जदि विवेगो जायदु, वेगट्ठाणे णिव्वेगो जायदु दु तुव कामत्तो अमरिसत्तो होदु रक्खणं च। खमा-बंभसरूवाणं च तुहिणकण-सीयलहिमं होदव्वं तदेव करेदि संतिवेदणं। वाणी-खमं जीवो णंतहुत्तं याचेदि। सा खमा खमा णत्थि। अंतोकरणादो खमं याचेज्जा ण दु वाणीदो। कालुस्स-अभावे णिरत्थग-बहि-परिणदीए णो आगच्छेज्जा। णियभाव-सरिदाए रज्ज, मुंच परभावा, हुज्जा तुव खमावाणी-पव्वो णिम्मलो सत्थगो य।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

शील-रक्षा के लिए सावधान रह

हे हंसात्मन्! भव की तपन को तू अनादिकाल से सह रहा है। क्या तुझे यह तपन, तपनरूप नहीं लग रही है। शिखिन् (अग्नि की शिखा) को देखकर बालक भयभीत हो जाते हैं, पर धिक्कार हो तुझे। भो पुमान्! तेरा विवेक कहाँ है ? जब भव-तपन के कारण काम-क्रोध के उद्वेग सामने आते हैं, उस समय विवेक को खो बैठता है। वेग के समय विवेक आ जाये, वेग के स्थान पर निर्वेग-भाव उत्पन्न हो जाये, तो तेरी मनोभव (काम) से, अमर्ष (क्रोध) से रक्षा हो जाये। क्षमा और ब्रह्म-स्वरूप की तुहिनकण, शीतल हिम चाहिए, तभी शांति का वेदन कर सकता है। वाणी की क्षमा इस जीव ने अनेक बार माँगी है। वह क्षमा, क्षमा नहीं। क्षमा वाणी से नहीं, अन्तःकरण से माँगी जाती है। यदि कालुष्य का अभाव हो जाये तो व्यर्थ ही बाह्य परिणति में आना ही नहीं पड़े। निज-भावों की सरिता में निमग्न हो जा, पर-भावों को छोड़ दे, तेरा क्षमावाणी पर्व निर्मल, सार्थक हो जाएगा।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णिब्भेदविण्णाण-किरियाओ सुण्णाओ

हे हंसप्पा! जावदिया अरहंता अज्जपज्जंतं होसी, होंति वा होस्संति, ते सव्वे पुव्विं भेदविण्णाणं भजीअ। भेदविण्णाणं विणा णो होदि अप्पस्स सम्मत्तरूव-परियट्टणं। जदि वि कोवि दव्वदो एगारसंग-पाढगो होदु, चरियाए मासोववासं पि कुणदु पुण विणा सम्मत्तं आदविगासो असंभवो। ते सव्वे सुण्णसरूवं। अंकादो होदि सुण्ण-मुल्लं। जहा अंकविहूणं सुण्णं सुण्णमेव, तहेव सम्मत्त-विहूणं णाणचरित्तं च होदि सुण्णरूवमेव। भेदविण्णाण-भूमिगं णिव्वत्तेहि। खाइग-णाण-दंसण-दाण-लाह-भोग-उवभोग-वीरिय-सम्मत्त-चारित्त-लब्दिधारगस्स अरिहस्स दव्वं गुणं पज्जायं च जो जाणेदि, तस्स मोहो लयं जादि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

भेद-विज्ञान बिना क्रियाएँ शून्य हैं

हे हंसात्मन्! जितने अरहंत आज तक हुए हैं, हो रहे हैं और आगे भी होंगे, वे सब पूर्व में भेद-विज्ञान को प्राप्त हुए थे। बिना भेद-विज्ञान के आत्मा का सम्यक्त्वरूप-परिणमन नहीं होता। बिना सम्यक्त्व के आत्म-विकास संभव नहीं है, चाहे कोई द्रव्य से ग्यारह अंगों का पाठी भी क्यों न हो, चर्या में मासोपवास भी क्यों न करता हो। वे सब शून्य-स्वरूप हैं। शून्य की कीमत अंक से ही हुआ करती है। जिस प्रकार अंक-विहीन शून्य, शून्य ही है उसी प्रकार सम्यक्त्व-विहीन ज्ञान व चारित्र शून्य रूप ही हैं। भेद-विज्ञान की भूमिका तैयार कर। क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक दर्शन, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र इन नव लब्धियों के धारक अरहन्तदेव के द्रव्य, गुण, पर्याय को जो जानता है, उसका मोह विलय को प्राप्त हो जाता है।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

बंधण-विच्छेदं विणा असंभवा मुत्ती

हंसप्पा! केवचिरं परमाणंद-सरूव-आदा कम्मपासम्हि बज्झेहिदि? अणादिकालो दु गदो। पिंजर-पक्खी विप्फंदेदि, सो बंधणे परतंतत्तं पस्सेदि। किमत्थं हंसप्पं तण-पिंजरम्हि परतंतत्तं णो दिस्सेदि? किं बंधं सहावो मणेदि? अप्पा! पढमं बंधणं पडिवज्ज बंधणं, पुण कुण मुत्ति-उवायं। बंधणछेदणं विणा पिंजर-उग्घाडणं विणा कहं तुमं पिंजरादो णिज्जेहिसि? सो जीवो अण्णाणी, जो बंधो बंधो अणुगज्जेदि, णं बंधणं णवि विभंजेदि। केवलं बंधतच्चचिंतणादो णो होदि मोक्खो। जहा-कुंडीबद्धजीवो 'बंधणे हं' इदि चिंतणादो, किं सो कुंडीदो मुच्चेहिदि? णेव। जदा कुंडिं भजेज्जा तदेव सिज्झेज्जा।तेहव कम्मबंधणं संजम-मुग्गरेणं भंजेज्जा, तदेव होदि मोक्खो। तस्सेव कुण उज्जोगं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

बंधन के छेदे बिना मुक्ति असंभव

हे हंसात्मन्! परमानन्द-स्वभावी भगवान्-आत्मा इस कर्म-पाश में कब तक बंधी रहेगी? अनादिकाल तो व्यतीत हो गया। पिंजड़े का पक्षी तो तड़प जाता है, क्योंकि उसे बन्धन में परतन्त्रता दुष्टिगोचर हो रहा है। क्यों इस हंसात्मा को तन-पिंजड़े में परतन्त्रता दृष्टिगोचर नहीं हो रही है? बंध को क्या स्वभाव मान लिया है? हे आत्मन्! सर्वप्रथम बन्धन को बन्धन स्वीकार कर, फिर मुक्ति का उपाय कर। बन्धन को छेदे बिना, पिंजड़े को खोले बिना तू पिंजड़े से कैसे निकलेगा? वह जीव अज्ञानी है, जो बन्ध-बन्ध तो चिल्लाता है, पर बन्धन को तोड़ता नहीं है। अरे भाई! मात्र बन्ध-तत्त्व के चिन्तवन से मोक्ष नहीं होता। जैसे साँकल से बँधा व्यक्ति बँधा हूँ ऐसा चिन्तवन करता रहे तो क्या वह साँकल से छूट जाएगा? नहीं। उसे साँकल तोड़ना पड़ेगा, तभी मुक्त होगा। उसी प्रकार कर्म-बन्धन को संयम की हथोड़ी से तोड़ना पड़ेगा, तब मोक्ष होगा। उसी का पुरुषार्थ कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

मग्गं विणा असंभवं मग्ग-फलं

हंसप्पा! दव्वगुणपज्जयाणं जहत्थ-णाणं आवस्सगं। अयं जीवो मोह-रागद्दोस-वसा तच्चणिण्णय-रहिदादो करेदि भवभमणं। जावं णो होज्जा सच्चतच्च-णिण्णयो णो जाणेज्जा दव्वगुणपज्जायं च, तावं णो दंसणमोहणासो। दंसण मोहविणासेणं विणा कत्थ सम्मत्तं? सम्मत्तेणं विणा णाण-चारित्तेसुं णो सम्मत्तभावो। णाण-सम्मत्त-चारित्त-एगत्तं विणा णो सिवमग्ग-सिद्धी। जावं णो सिवमग्गो, तावं कहं सिवलाहो? मग्गं विणा णो मग्गफललद्धी, अयं सिद्धंतो अचलो। मग्गफललाहट्ठं पढमं मग्ग-गवेसणं। रदणत्तयं मग्गो, मोक्खो मग्ग-फलं। भो चेयण्ण! जदि इच्छेसि सच्चमग्गिं तु कुण सच्चमग्ग-अण्णेसणं तम्हि गमणं च पवुत्त, णूणं मग्गिं लहेज्जा।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

मार्ग बिना मार्ग का फल संभव नहीं

हे हंसात्मन्! द्रव्य, गुण और पर्याय का यथार्थ ज्ञान होना अनिवार्य है। यह जीव मोह, राग-द्वेष के वशीभूत होकर, तत्त्व-निर्णय-रहित होकर भव-भ्रमण कर रहा है। जब तक सत्य-तत्त्व का निर्णय नहीं करेगा, द्रव्य-गुण-पर्याय को नहीं समझेगा, तब तक दर्शन-मोह का नाश नहीं होगा। दर्शन-मोह के नाश हुए बिना सम्यक्त्व कहाँ ? बिना सम्यक्त्व के ज्ञान व चारित्र में सम्यक्त्वपना नहीं। ज्ञान, चारित्र व सम्यक्त्व की एकता बिना मोक्ष-मार्ग नहीं बनता। जब तक मोक्षमार्ग नहीं, तब तक मोक्ष कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? सिद्धांत अटल है कि बिना मार्ग के मार्ग-फल की प्राप्ति नहीं होती। मार्ग-फल की प्राप्ति हेतु मार्ग की खोज सर्वप्रथम की जाती है। रत्नत्रय मार्ग है, मोक्ष मार्ग का फल है। भो चैतन्य! यदि सत्य-मार्गी को चाहता है तो सत्य-मार्ग का अन्वेषण कर, उस पर चलना प्रारंभ कर, तू निश्चित ही मार्गी को प्राप्त कर लेगा।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

कामी संसारस्स णिद्धणअम-जीवो

हंसप्पा! मण-राइण्णो पेरणाए इंदिय-सेणा धम्मधणं विद्धंसेदि। जहा सत्तुराया सग-सेणाए अवर-रज्जकोसं अवहारेदि दुग्गादिं च भंजावेदि, तहेव मणो राया, अक्खं सेणा, संजम-साहणाधम्मधणं, सीलं दुग्गं। भो णाणी! मण-राइण्णो सेणाए सेणावदी सयलजीवं वेदणा-दायगो दुट्ठो कामदेवो विराड-णरिंदेसुं जुज्झिय संजमधम्मधणं मुस्सेदि। रे चेदण्ण! जस्स राया इयतो बलवंतो, जस्स आणाए समणा वि परिकंपेंति, तस्स सेणावदिं कामदेवं-तुमं परिभवेज्जा दु मूलसत्ति-मणराइण्णो पडागं विद्धंसेहि। मणराया वसे दु सेणावदी वि सयमेव पसमिय तुव चरणेसुं पणिवदेदि। किच्चा खग्गपहारं मणरायं परिभव, तुमं होहिसि सगगढस्स सामी।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

कामी है, संसार का सबसे निर्धन प्राणी

हे हंसात्मन्! मन-रूपी राजा के द्वारा प्रेरित होकर इन्द्रिय-रूपी सेना ने धर्म-रूपी धन को नष्ट कर दिया है। जैसे शत्रु राजा अपनी सेना द्वारा दूसरे राज्य के कोश को छिनवा लेता है और दुर्ग आदि को भग्न करा देता है, इसी प्रकार मन राजा है, इन्द्रिय सेना है, संयम-साधना धर्म-रूपी धन है, शील दुर्ग है। भो ज्ञानी! मन-राजा की सेना का सेनापति, प्राणीमात्र को पीड़ित करनेवाला दुष्ट कामदेव है, जिससे बड़े-बड़े सम्राटों पर चढ़ाई करके संयम-धर्म रूपी धन को लूट लिया है। रे चैतन्य! जिसका राजा इतना बलवान् है, जिसकी आज्ञा से साधु-सन्त भी काँप उठते हैं, उसके सेनापति कामदेव को तू परास्त करना चाहता है, तो सर्वप्रथम जो मूल-शक्ति मन-राजा है, उसकी ध्वजा तू नष्ट कर दे। मन-राजा वश में हो गया तो सेनापति स्वयमेव शांत होकर तेरे चरणों में शीश रख देंगे। खड्ग का प्रहार कर, मनराजा को परास्त कर, स्वगढ़ का स्वामी बन जाएगा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णिव्वेरग्ग-चरित्तं णिप्फलं

हंसप्पा! वेरग्गं अणुवम-णिही। जहा भूमीए अद्दत्तं बीयं रुक्खरूवं देदूणं तं थिरं करेदि। सुक्ख-भूमीए णो बीयंकुरणं। सलिलाभावे रुक्खा वि विणिव्वेंति। तहेव वेरग्गं संजम-अंकुरणं संजम-रक्खणं च कुणेदि। जहा भूमीए सस्स-ववणस्स पुव्विं णीरं आवस्सगं एवं ववण-उवरंतं पि। उहयणीरं विणा णो किसी, तहेव मोक्खत्थिं सिवफलदायग-संजमरुक्खट्ठं वेरग्गं पुव्विं पि आवस्सगं एवं संजम-उवरंतं पि। वेरग्गरित्तस्स चारित्तं णिप्फलं। जहा अजाए कंठथणं केवलं भारभूदं अकज्जकारं च तहेव होदि वेरग्ग-भावणा-विहूण-चारित्तं। वेरग्गहीण-चारित्तं सुक्ख-तिणमिव पमिलाइदूणं णस्सेदि। तम्हा, भो णाणी! सिवफलं इच्छेसि दु अप्पं वेरग्गदो भावेज्जा।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

वैराग्यहीन-चारित्र निष्फल

हे हंसात्मन्! वैराग्य अनुपम निधि है। जैसे भूमि की आर्द्रता बीज को वृक्ष का रूप प्रदान कराकर उसे स्थिर बनाकर रखती है। शुष्क मिट्टी/सूखी भूमि में बीज अंकुरित नहीं होता। जल के अभाव में वृक्ष भी सूख जाते हैं। वैसे ही वैराग्य संयम को अंकुरित करता है और रक्षा भी करता है। जैसे, भूमि में फसल बोने के पूर्व भी जल चाहिए तथा बोने के उपरान्त भी। बिना उभय पानी के खेती नहीं होती वैसे ही मुमुक्षु जीव को मोक्षफल को देनेवाले संयम-वृक्ष के लिए वैराग्य पूर्व में भी चाहिए और संयम धारण करने के बाद भी। वैराग्यहीन का चारित्र निष्फल हुआ करता है। जैसे बकरी के गले में स्तन मात्र भार-भूत है, कोई कार्य कारी नहीं, उसी प्रकार वैराग्य-भावना से रहित चारित्र हुआ करता है। वैराग्यहीन का चारित्र सूखे घास जैसा मुरझा कर नष्ट हो जाता है। इसलिए, भो ज्ञानी! मोक्षफल चाहता है तो अपने आपको वैराग्य से भावित करते रहना।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अहं-ममेदंभावे लीणत्तं रागपोसणं

हंसप्पा! रागद्दोसमोहा आद-पबल-रिवुणो। अज्ज जीवो बहि-रिवुत्तो जुज्झेदि एवं अब्भिंतर-रिवुणो बलवंता करेदि। अब्भिंतर-रिवू रिवू-रूवो णो संलक्खेंति। रे मूढप्पा! किं जदा तुव सव्वस्स खलेज्जा तदेव बुज्झेहिसि? कम्म-रिवूहिं अज्जपज्जंतं अणादिकालेणं तुमं पीडिदो एवं तुमं ता मित्तं मण्णेसि। जीव-बुद्धी हु विवरीदा। जदि जीवस्स मण्णत्तं परियट्टेदि दु भवसायरे विप्पणस्सेदि। रागद्दोसमोहा अहोणिसं अप्पं विणासं पडि णिज्जेंति पुणो वि तुमं अहोणिसं तेसिं पोसणं कुणेसि। परपदत्थं परसंबंधिं परिजणं च णिय-मणणं किं मोह-परियट्टणं णत्थि? धम्म-धम्मिगं पडि जणसामण्णं पडि गिलाणि भावो किं दोसपोसणं णत्थि? अहंमज्झ-भावे लीणत्तं किं

मैं और मेरे में लगना है राग का पोषण

हे हंसात्मन्! राग, द्वेष, मोह ये तीन आत्मा के प्रबल शत्रु हैं। आज प्राणी बाहर के शत्रुओं से लड़ रहा है और अन्तरंग शत्रुओं को बलवान् कर रहा है। अन्दर के शत्रु तुझे शत्रु-रूप नहीं लगते। रे मूढ़ आत्मन्! जब तेरा सर्वस्व पतित हो जाएगा तभी समझ में आएगा क्या? आज तक अनादिकाल से तू सताया जा रहा है कर्म-शत्रुओं के द्वारा और उन्हे तू मित्र-मान बैठा है। जीव की समझ ही तो विपरीत चल रही है। सत्य बात तो यह है कि जीव की मान्यता बदल जाये तो भवसागर समाप्त हो जाए। अहर्निश जो विनाश की ओर भगवान् आत्मा को ले जा रहे हैं, वे हैं राग, द्वेष और मोह; फिर भी तू अहर्निश उनका ही पोषण कर रहा है। देख, पर-पदार्थ को, पर-संबंधी व कुटुंब-परिवार को अपना मानना क्या मोह को बल देना नहीं है? धर्म-धर्मात्माओं के प्रति, जन-सामान्य के प्रति ग्लानि करना क्या द्वेष का पोषण नहीं है? मैं, मेरे में लगना क्या राग का पोषण नहीं है?

रागपोसणं णत्थि? तम्हा, रे अप्पा! अहं-मज्झभावस्स गिलाणि-भावं मुंचेहि, तदेव तुमं लहिस्ससि अरहंत-अवत्थं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

इसलिए, रे आत्मन्! मैं व मेरेपन का ग्लानि-परिणाम छोड़, तभी तू अरहंत-अवस्था को प्राप्त कर सकेगा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

मोणसाहणा सम्मसाहणा

हंसप्पा! जावं वाणीए दीणत्तं णो फुड्डेदु तावं चेव पुज्जत्तं महाणत्तं पावणत्तं च। जत्थ जीवो मुहरो तत्थेव लहुत्तं आरंभेदि। गंभीरदाए जा पदिट्ठा णिहिदा, सा वायालदाए तियाल-असंभवा। वायालो पडिक्खणं पत्तेग-इत्थि-पुरिसेहिं णिंदिदो, हस्स-भायणो चावि होदि। अण्णेणं सम्माणं पि लहेदि दु सम्माण-दायगो वि ते खु होंति जे वायालेहिं सम्माणणीया होंति। णाणीहिं मुहर-जीवो कदावि, सम्माणं णो भजेदि। भो चेयण्ण! जदा संसारस्स जीवेहिं संसारे वायालजीवा सक्कारं णो भजेंति, पुण कहं ते लहेंति आद-पदिट्ठं? तदेव परमट्ठ-पदिट्ठा संभवा, जदा तुमं सयल-बहिरब्भंतर-वायालदादो विरमेज्जा। भो णाणी! सयल-परपरिणदीदो पुहुत्तं इच्छेसि दु हुव मोणी।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

मौन ही साधना ही सच्ची साधना

हे हंसात्मन्! तभी तक पूज्यता है, तभी तक महानता है, तभी तक पावनता है, जब तक वाणी में दीनता प्रकट न हो। जहाँ व्यक्ति मुखर हुआ, वाचालता प्रकट हुई, वहीं से लघुता प्रारंभ हो जाती है। गंभीरता में जो प्रतिष्ठा निहित है, वह वाचालता में त्रिकाली संभव नहीं है। वाचाल व्यक्ति प्रतिक्षण/प्रतिपल प्रत्येक नर-नारी के द्वारा निन्दित होता है, हास्य का पात्र भी बनता है। किसी के द्वारा सम्मान भी प्राप्त करता है तो सम्मान देनेवाले भी वही होंगे जो वाचालों द्वारा सम्माननीय होते हैं। परंतु ज्ञानी/विद्वानों के द्वारा मुखर-व्यक्ति कभी भी सम्मान को प्राप्त नहीं होता। भो चैतन्य! जब संसार के प्राणियों द्वारा संसार में वाचाल व्यक्ति सत्कार को प्राप्त नहीं होते, तो वे आत्म-प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त कर सकते हैं? परमार्थ-प्रतिष्ठा तभी संभव है जब तू संपूर्ण अंतरंग-बहिरंग वाचालता से परे हो जाएगा। भो ज्ञानी! संपूर्ण पर-परिणतियों से परे होना है तो सर्वप्रथम मौनी बन जाओ।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

विवेगी-जीविदं साहु-जीविदं

हंसप्पा! णिम्मल-उवओगधाराए उज्जोगं सुसाहगं पडिपलं कादव्वं। पत्तेग-कत्तव्वं पुण्ण-विवेएणं लोग-रीदिं दट्ठूणं च कादव्वं, जेणं णो होदु सम्मत्तचारित्तहाणी एवं णो होदु अंते पच्छादावो। जस्स कज्जस्स संपण्णस्स पुव्विं मज्झे व अंते हरिस-णिरास-भावा कालुस्स-भावा य जायंतु, एरिसं कज्जं विवेगिं णवि कुज्जा। जं णाणदंसण-चारित्त-विघादगं सगेणं सग-अप्पं अहोपदणं-पडि णिज्जंतं दुग्गदि-कारणभूदं कज्जं चावि णो कुज्जा। भो णाणी! एरिसं किच्चं दूरदो मुंच, अण्णहा उहयलोए णिंदापत्तो होदूणं णरगजत्तं करिहिसि। तिव्व-भावुगदा-कसाय-वेदादीसुं कज्जणिप्पण्ण-णिण्णयो अविवेगीणं चिण्हं। किं कसायी जीवस्स कज्जं विज्जाण-सहाए पसंसणिज्जं?

विवेकी का जीवन ही साधु-जीवन

हे हंसात्मन्! उपयोग की धारा निर्मल रहे, ऐसा पुरुषार्थ सत् साधक को प्रतिक्षण करते रहना चाहिए। प्रत्येक कर्तव्य पूर्ण-विवेक के साथ तथा लोक-रीति देखकर करना चाहिए, जिससे सम्यक्त्व व चारित्र की हानि न हो, तथा अन्त में पश्चात्ताप न करना पड़े। जिस कार्य के सम्पन्न होने के पूर्व, मध्य तथा अंत में हँसी व निराशा हाथ लगे और परिणामों में कलुषता हो, ऐसा कार्य विवेकी जीव को नहीं करना चाहिए। साथ ही ऐसा कार्य भी न करे जो चारित्र, दर्शन, ज्ञान का विघात करनेवाला हो, स्वयं के द्वारा स्वयं की आत्मा को अधःपतन की ओर ले जानेवाला हो और दुर्गति का कारण बने। भो ज्ञानी! ऐसे कृत्य को दूर से छोड़ देना, अन्यथा उभय लोक में निन्दा का पात्र बनकर नरक की यात्रा ही करेगा। भावुकता, कषाय, वेद इत्यादि की तीव्रता में किसी भी कार्य को निष्पन्न करने का निर्णय करना अविवेकियों की पहचान ही समझना। क्या कषायी व्यक्ति के कार्य को विद्वानों की सभी में प्रशंसनीय सुना है ?

णाणीजीवा करेंति सविवेग-किदकज्जस्स अणुमोदणं। तं जहा णीदिवागामिदे-'नाविचार्यं कार्यं किमपि कुर्यात्'। पस्स दसाणणं जेणं चितंणं विणा किदो सीयाहरणं, सुवण्ण-लंकं णासिय होसी णिंदापत्तो तहा अहोगदिं पत्तो। एगो समणो सील-महच्चं पगासट्ठं गणिगा-गेहं गदो, अंते चएदूणं गणिगाए अवमाणं च पत्तो। किसग-भारिया चिंतणं विणा णउलं मारिदा, पच्छा रोच्छीअ। इमा कहा पसिद्धा। हे अप्पा! विवेगणाण-जीविदं साहु-जीविदं, इदं झाणे धार।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

ज्ञानी-जीव विवेकपूर्वक किए हुए कार्य की अनुमोदना करते हैं। महान् नीतिग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' में बहुत ही सुन्दर सूत्र दिया है कि-'बिना विचारे कोई कार्य न करें।' देखो रावण को, जिसने बिना विचारे सीता का हरण किया, सोने की लंका को नष्ट करके निन्दा का पात्र बना तथा अधोपति को प्राप्त हुआ। उस साधु की गाथा तूने आगम से पढ़ी ही है, जो शील का महत्त्व प्रकट करने हेतु वेश्या के घर गया, अन्त में भ्रष्ट होकर वेश्या द्वारा ही अपमान को प्राप्त हुआ। किसान की पत्नि ने बिना विचारे नेवले को मार दिया था, बाद में रोना पड़ा। हे आत्मन्! विवेक-ज्ञान का जीवन ही साधु-जीवन है, इस बात को पूर्ण ध्यान में रखना।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

चित्त-णिम्मलकरण-रसायणं सज्झाओ

हंसप्पा! सत्थणाणं सावग-साहग-जीवणे परमावस्सगं। सुसमय-अज्झयणेणं हि हेयोवादेय-विवेगणाणं। अंतोकरण-लोयणाणि आगम-णाणदो उग्घाडेंति। साहगस्स पत्तेग-किरिया-चरिया य जहासत्थं होदि। जदि कोवि साहगो करेदि सत्थविहीण-किरियं तु जिणसासणे सो सुसाहगो णत्थि। आगमकुसलो विरागचरियाजुदो मिच्छत्तविसदो पुहं जीवमाणो य जिणसासणे भूदत्थ-साहू। खलु एरिसो साहू धम्ममुत्ती, अण्णत्थ णो कोवि धम्मो। जदि पुव्वत्तगुणा साहुम्हि णो संति दु पवयणसारे तं केवलं दव्ववेसी-साहू पण्णत्तो। भो चेयण्ण! आदहिदट्ठं कम्मणिज्जरट्ठं च सम्मविहीए सम्मसमय-परायणं अहोणिसं कादव्वं। चित्त-णिम्मलदाए सत्थसज्झाओ अणुवम- रसायणं। इमत्तो उत्तमं णो अण्ण-रसायणं

चित्त निर्मल करने का रसायन है स्वाध्याय

हे हंसात्मन्! शास्त्र का ज्ञान होना साधक-जीवन में ही क्या श्रावक जीवन में भी परमावश्यक है। हेय-उपदेय का विवेक-ज्ञान सद्शास्त्रों के अध्ययन से ही होता है। अंतःकरण के चक्षु भी आगम-ज्ञान से ही खुलते हैं। साधक की प्रत्येक क्रिया-चर्या भी शास्त्रानुसार हुआ करती है। शास्त्रविहीन क्रिया को यदि कोई साधक करता है, तो जिनशासन में उसे सद्साधक स्वीकार नहीं किया जाता। जिनशासन में उसे ही सच्चा साधु कहा है, जो विराग-चर्या से युक्त हो, मिथ्यात्व के विष से पृथक् जीता हो तथा आगम-कुशल हो। ऐसे साधु को ही धर्म की मूर्ति स्वीकार किया गया है, अन्यत्र कोई धर्म नहीं है। यदि पूर्वोक्त गुण साधु के अन्दर नहीं पाये जाते तो आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रन्थराज 'प्रवचनसार' में उसे मात्र द्रव्यवेषी साधु स्वीकार किया है। अतः, भो चैतन्य! तू आत्म-कल्याण हेतु और कर्म निर्जरार्थ सम्यक्-विधिपूर्वक समीचीन शास्त्रों का पारायण अहर्निश करते रहना। चित्त की निर्मलता के लिए शास्त्र-स्वाध्याय अनुपम

दद्धकाले, जं सिग्घेणं हिंडंत-मणरूव-उम्मत्तमतंगं णिरोगी कुणदु।

जदा वि चित्तं होदि चंचलं, तदा झत्ति जिणवयणं पढेज्जा, अण्णहा मणो अणवगद-खेत्ते अच्छोडेज्जा। जेसिं विसए अज्जपज्जंतं णो जाणेसि, तं दरिसेदि। जे कदावि णो भुंजेसि, एरिसे पंचिंदिय-भोगम्हि अच्छोडेदि। मणो सामण्णं गहण-भोग-गत्तम्हि अच्छोडावेदि। सत्थणाणहीणस्स संसारे णो किंपि मुल्लं। सो पगे पगे अवमाणं हीणत्तं च पडिवज्जेदि, विज्जाण-सहाए मोणव्वदी होदि, मूढ-सहाए कुलवदि-पदं च सोहेदि। सत्थ-सज्झाय-विहूणो लोयण-सब्भावे वि अंधो। तं जहा णीदिवागामिदे- ''अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्धं एव'' जहा अंध-माणवं णो होदि सम्मुह-ट्ठिद-इट्ठाणिट्ठ-पदत्थणाणं, तहेव सत्थणाणसुण्णं मूढ-माणवं पि

रसायन है। इससे अच्छा इस कलिकाल में कोई अन्य रसायन नहीं है जो शीघ्रता से भटकते मन रूपी उन्मत्त मतंग को स्वस्थ कर सके।

जब भी चित्त चंचल होता है, तब शीघ्र ही जिनवाणी पढ़ना प्रारंभ कर देना, अन्यथा ये मन पता नहीं किस स्थल पर तुझे पटक देगा। जिनके बारे में तूने आज तक नहीं जाना होगा, उन्हें बता देगा। जिन्हें कभी भोगा नहीं, ऐसे पंचेन्द्रिय भोग में रख देगा। साधुता को गहरे भोगों के गर्त में पटकवा देगा ये तेरा मन। शास्त्रज्ञानहीन व्यक्ति की संसार में कोई कीमत नहीं हुआ करती। वह पग-पग पर अपमान व हीनता का ग्रास बनता है, विद्वानों की सभा में मौनव्रती बनकर रहता है और मूर्खों की सभी का कुलपति-पद सुशोभित करता है। शास्त्र-स्वाध्याय से रहित व्यक्ति नेत्रों के सद्भाव में भी अंधा है। महान् नीतिज्ञ आचार्य सोमदेवसूरि 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ में कहते हैं कि-'जिस पुरुष ने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, वह चक्षु सहित होकर भी अंधा ही है।' जिस प्रकार अन्धे मनुष्य को सामने रखे हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार शास्त्रों के ज्ञान-शून्य मूर्ख मनुष्य को भी धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः, भो प्रज्ञ! तू स्व प्रज्ञा को

धम्माधम्म-कत्तव्वाकत्तव्व- णाणं च णो होदि। भो पण्ण! कुणेहि सग-पण्णं णिम्मलं, णिच्चं कुणेहि कम्मणिज्जरट्ठं सत्थसज्झायं च।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

निर्मल करना व कर्म-निर्जरा हेतु सतत् सद्शास्त्रों का स्वाध्याय करते रहना।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

आमणाय-सज्झायो णिप्पुहदा-साहणं

हंसप्पा! वायणा-पुच्छणा-अणुवेक्खा-आमणाय-धम्मोवएस-पंचविह-सज्झाएसुं आमणाय-सज्झाए विसेस-चिंतणं आवस्सगं। आमणाओ णिप्पुहदा-साहणं। जे गंथपाढा कंठत्था, तेसिं पढिदुं सत्थाणि आवस्सगाणि णत्थि। विसेसं होदि कंठत्थ-णाणं। विज्जाण-णाणं कंठणाणदो दीसेदि। मरण-समए समाहि-काले वा आमणाय-सज्झायो सगस्स करिस्सदि धम्मोवएस-कज्जं। जदि चरमसमए दुब्भग्गदो णिद्दोस-णिज्जावगाइरिय-अभावो, पंच-णमोयार-सावमाण-अभावो, पुणो तुव किं हुज्जा? एरिसे काले णिद्दोस-आमणाय-सज्झायो तुमं पडिबोहेदि, णिरत्थग-चरिचा-अभावं किच्चा पुव्व-कंठत्थपाढघोसं कुज्जा। पत्तेगं समणं सावगं च आमणायं पडि रुइं वड्ढेज्जा। तं जहा-'घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः।'

आम्नाय-स्वाध्याय निष्पृहता का साधन

हे हंसात्मन्! वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश पंच प्रकार के स्वाध्यायों में आम्नाय-स्वाध्याय पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। आम्नाय निस्पृहता की ओर ले जाता है। जो ग्रन्थ पाठ कण्ठस्थ हैं, उनके पढ़ने हेतु शास्त्र नहीं रखना पड़ते। कण्ठस्थ ज्ञान विशेष ही होता है। विद्वान् की विद्वता कण्ठ के ज्ञान से ही दृष्टिगोचर होती है। अंतिम समय में, अर्थात् समाधि के काल में आम्नाय-स्वाध्याय स्वयं के लिए धर्मोपदेश का कार्य करेगा। यदि अंतिम समय दुर्भाग्य से कहीं कोई निर्दोष निर्यापकाचार्य प्राप्त नहीं हो सका, पंच-नमस्कार सुनानेवाला ही नहीं मिल सका तो तेरा क्या होगा? ऐसे काल में निर्दोष आम्नाय-स्वाध्याय तेरे लिए जागृत बनाकर रख सकता है, व्यर्थ की चर्चा न करके पूर्व कंठस्थ पाठ का घोष करता रहेगा। प्रत्येक श्रावक व साधक को चाहिए कि वे आम्नाय की ओर रुचि बढ़ायें। आचार्य भवगन् पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में आम्नाय-स्वाध्याय की परिभाषा करते

सद्द-लक्खण-उच्चारणसुद्धी आवस्सगा। असुद्ध-उच्चारणदो अत्थ-अवगमण-बोहणे चावि होदि असुद्धी, जीवो तस्स विवरीद-फलं भाजेदि। एवं पि तच्चत्थवट्टिगम्हि-'व्रतिनो वेदितसमाचारस्यैह लौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुतविलम्बितादिघोषविशुद्धं परिवर्तनमाम्नाय इत्युपदिश्यते।'' इणं पत्तेगं मुमुक्खुं आदहिदट्ठं पडिक्खणं कादव्वं।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

हुए लिखा है कि-'उच्चारण की शुद्धि सहित पाठ को पुनः पुनः दुहराना आम्नाय-स्वाध्याय है।'

शब्द, व्याकरण व उच्चारण की शुद्धि का होना अनिवार्य है। अशुद्ध उच्चारण करने से अर्थ समझने व समझाने में भी अशुद्धि हो जाती है, उसका परिणाम व्यक्ति को विपरीत मिलता है। इसी बात को आचार्य भगवन् भट्ट-अकलंक देव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' (राजवार्तिक) ग्रन्थ में भी कहा है कि-'आचार पारगामी व्रती को लौकिक फल की अपेक्षा किये बिना द्रुत, विलम्ब आदि पाठ दोषों से रहित होकर पाठ फेरना, घोकना आम्नाय-स्वाध्याय है।' इसे प्रत्येक मुमुक्षु जीव को प्रतिपल करते रहना चाहिए, आत्मकल्याण हेतु।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सपर-हिदभावदो देयमाणो उवएसो समीचीणो

हंसाप्पा! करुणा-दया-धम्माणं च सायार-तिमुत्ती समण- परंपरा। एत्थ 'सत्तवेषु मैत्रीं' पत्तेग-कंठादो उग्घोसेदि। मित्ति-अत्थो बहु-विसालो। मेत्तं कंठ-मेलणं मित्ती णत्थि। सयलजीवा होंतु सुही, हिदमग्गम्हि मग्गंतु, कुमग्गं चत्तिदूणं सुपहं पडिवज्जंतु; एसा भावणा समण-सक्किदीए मूलमंतं। जस्स चित्ते 'धम्मस्स मूलं दया' सुत्तं णत्थि, सो ण दु समणो णेव समणोवासगो। जेण केण पयारेण भमिद-सपर-परिणामा वीदराग-मग्गे संवट्टेज्जा, जुत्ति-आगमेहिं सच्चतच्चं पयासण-सामत्थं णिए उग्घाडेज्जा, इमा जिण-आणा। जदि कोवि बहुसत्थब्भासी वि सगणाणं धम्ममंचे उग्घाडणे असमत्थो वागपडुदा-वत्तत्तकलाविहूणो, पुण तस्स

स्व-पर कल्याण की भावना से दिया हुआ उपदेश ही समीचीन है

हे हंसात्मन्! श्रमण-परम्परा करुणा, दया और धर्म की साकार त्रिमूर्ति है, यहाँ पर 'सत्त्वेषु-मैत्रीं' का पाठ प्रत्येक कण्ठ से उद्घोषित होता है। मैत्री का अर्थ बहुत विशाल है। किसी व्यक्ति के गले मिलना मात्र मैत्री नहीं है। प्राणीमात्र सुखी रहें, कल्याण के मार्ग पर चलें, विपरीत/खोटे मार्ग का त्याग कर सत्पथ को स्वीकारें, ये भावना श्रमण-संस्कृति का मूलमंत्र है। जिसके अन्तःकरण में 'धर्मस्य मूलं दया' सूत्र नहीं है, वह व्यक्ति न श्रमण है, न ही श्रमणोपासक। जिनदेव की आज्ञा है कि जैसे बने वैसे भटके हुए निज-पर के परिणामों को वीतराग-मार्ग पर लगाओ, युक्ति व आगम से सत्यतत्त्व को प्रकट करने का सामर्थ्य स्वयं के अन्दर प्रकट करो। यदि काई व्यक्ति बहुशास्त्राभ्यासी भी है, पर अपने ज्ञान को धर्म-मंच पर रखने में समर्थ नहीं है, अर्थात् वाक्पटुता, वाक्तृत्व-कला विहीन है, तो उस

णाणिस्स णाण-अवत्था वणत्थ-विउलसरोवरे विगसिद-पउममिव। तं पहिगस्स ण दु आणंदकारणं होदि, णेव कंठहारो। फुड्डित्तु मिलाणं तस्स कज्जं। पवयणकला-सुण्ण-णाणिस्स णाणं फुड्डित्तु विप्पणस्सेदि, णो होदि अण्णस्स हिदकारणं। आगम-विहिद-पंचविह-सज्झाएसुं धम्मोवएसो चरम-सज्झायो। जो पुव्विं किदा सम्म-चउ-सज्झाया, तस्स साहगस्स आदहिदेणं सह परहिदभावणादो धम्मोवएस-सज्झायं पि कादव्वं। केवलं परहिदत्थं णत्थि, आददिट्ठीदो धम्मोवएसं दादव्वं। सो वि अणुवीइभासणेणं। णिरत्थग-चरिचासुं समयं णवि विद्धंसेज्जा। णियोवएसम्हि आगम-आसयं णेज्जा। जिणसासण-उत्थाणस्स भावणा वि होज्जा, देसणत्थं एगं इदं लक्खं पि आवस्सगं। अट्ठंगेसुं चरमंगं पहावणा। तस्स पुत्तीए वि होज्जा। उवदिट्ठा-वयणं पहाववंतं होदव्वं, जेणं कुदिट्ठी वि सम्मं अवत्थं लहेदु, एवमेव

ज्ञानी के ज्ञान की अवस्था वही है जैसी कि जंगल के अन्दर विशाल सरोवर में खिले हुए कमल की है। वह किसी पथिक के न आनन्द का कारण बन रहा है, न किसी के गले का हार। प्रकट होकर मुरझा जाना ही उसका काम है। प्रवचन-कला-शून्य ज्ञानी का ज्ञान प्रकट होकर समाप्त हो जाता है, किसी अन्य के हित का कारण नहीं बन पाता। आगम में वर्णित पाँच प्रकार के स्वाध्यायों में धर्मोपदेश नाम का अंतिम स्वाध्याय है। जिसने पूर्व के चार स्वाध्याय भलीभाँति कर लिए, उस साधक के लिए आत्महित के साथ परिहत की भावना से युक्त होकर धर्मोपदेश नाम के स्वाध्याय को भी करना चाहिए, परंतु मात्र पर के लिए ही नहीं, आत्मदृष्टि रखकर ही धर्मोपदेश देना चाहिए। वह भी अनुवीचिभाषण के साथ। यहाँ-वहाँ की चर्चाओं में ही समय पूर्ण नहीं करना चाहिए। अपने उपदेश में आगम का पूर्ण सहारा लेना चाहिए। जिनशासन के उत्थान की भी भावना होनी चाहिए, देशनार्थ एक यह लक्ष्य भी रखना अनिवार्य है। आठ अंग में अंतिम अंग प्रभावना अंग भी है। उस अंग की भी पूर्ति होना चाहिए, अर्थात् उपदेष्टा की वाणी इतनी प्रभावी होना चाहिए कि एक मिथ्यादृष्टि जीव भी समीचीन अवस्था को प्राप्त

भूदत्थ-उवएसो। सोद-हिद-भावणादो पवयणं कादव्वं, ण दु णिय-सत्थपुण्णवित्तीदो। सग-बहि-पदिट्ठा-उद्देस्समेत्तादो किदो उवएसो सपर-हिदम्हि णिमित्तं होदु, अयं भयणिज्जो। सपर-हिद-भावणादो देयमाणो उवएसो णूणं हिदकारगो। जदि सोदू दूरभव्वो, सहसा णो बोहेदि, तावि णूणं तुव हिदं, देसणाकाले विसय-कसाय-रक्खणं होदु। तुव सुहभावेणं णूणं णियहिदं। तित्थयर-पयडि-बंधगो करेदि अवायविचय-धम्मज्झाणं। संसारस्स सयलजीवा कुणंतु आदहिदं, इमा हु तस्स भावणा।

णूणं सणिमित्तं जीवहिदं सगोवादाण-जोग्गदाए, भावणं भावमाणो होदि भगवं। तं जहा-''दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्तनार्थं

कर ले, यही सत्य उपदेश है। श्रोता के कल्याण की भावना से प्रवचन करना चाहिए, निजी स्वार्थपूर्ण-वृत्ति से नहीं। स्व की बाह्य प्रतिष्ठा के उद्देश्य मात्र से किया गया उपदेश स्व-पर के कल्याण में निमित्त बने तो वह भजनीय है, परंतु जो उपदेश स्व-पर कल्याण की भावना से दिया जाता है वह नियम से कल्याणकारी ही होता है। माना कि श्रोता दूर-भव्य है, शीघ्र नहीं समझ पा रहा है, कोई बात नहीं, तेरा कल्याण तो होगा नियम से, क्योंकि तू देशना के काल में विषय-कषाय से बचा है। शुभ-भाव है तेरा, निज का कल्याण तो होगा। देखो, तीर्थंकर-प्रकृति का बंध करनेवाला जीव अपाय-विचय धर्म-ध्यान को करता है। उनकी भावना यही रहती है कि संसार के प्राणीमात्र आत्मकल्याण करें।

कल्याण तो वास्तव में प्रत्येक जीव का निमित्त के साथ स्वोपादान की योग्यता से ही होता है, लेकिन भावना भानेवाला तो भगवान् बन ही जाता है। धर्मोपदेश-स्वाध्याय की परिभाषा आचार्य भगवन् भट्ट अकलंकदेव ने 'राजवार्तिक' ग्रन्थ में बहुत ही सुंदर की है कि-'लौकिक ख्यादि, लाभ आदि फल की आकांक्षा के बिना उनमार्ग की निवृत्ति, सन्देह

संदेहव्यावर्त्तनापूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश इत्याख्यायते।''

भो णाणी! तुमं धम्मोवएसं आदहिद-भावणादो कुज्जा, मेत्तं परिहदम्हि णवि लिप्पेज्जा। कुमग्गादो णीदूणं सम्मग्गे सपर-ठावणा तुव लक्खं होज्जा, इमाए आदहिदं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

की व्यावृत्ति और अपूर्व पदार्थ के प्रकाशन के लिए धर्मकथा करना धर्मोपदेश है।'

भो ज्ञानी! तू धर्मोपदेश करना 'आदहिदं' (अपने हित) की भावना रखकर ही करना, मात्र 'परहिदं' (परहित) में ही नहीं लगे रहना। मिथ्यामार्ग से निकलकर सन्मार्ग पर लगना-लगाना तेरा लक्ष्य होना चाहिए, इसी में अत्महित है।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जो कामं पसाधेदि, सो महंतो

हंसप्पा! उम्मत्तगइंद-वसीकरणं सुगमं, सायर-वीईदो रक्खणं सुगमं, भुजंगमणि-हरणं सुगमं, आगासतारग-गणणं सुगमं, इयत्ताणि कज्जाणि कारगा महंत-साहगा णो लावेंति। किमु? एदाणि कज्जाणि तुच्छ-सामण्ण-जणा वि करेंति। कामदेवपिय-विवेगणेत्तणासग-जुवा-अवत्थाए भोग-पभंजणादो सग-भावरक्खणं पोरुसपुण्ण-कज्जं। जे कामणि-दंसणे वि कामवेदणा णो पीडेदि, जे सुलहभोग-सामग्गिं वेरग्गतेयदो णीरसं किदा, जीविदधारं अज्झप्पधाराए रज्जिदा, जे महुर-विसय-गंधो णो फासिदा; एरिसा मह-उज्जोग-साहगा समण-भगवंता उत्तविसेसदाजुत्ता। भूमंडलत्थ-भावलिंगी-समणाणं चरण-पउमाणं बलिहारी हं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

महान् वह जिसने काम को वश में कर लिया

हे हंसात्मन्! उन्मत्त गजेन्द्र को वश में कर लेना सहज है, सागर की लहरों से बचना सरल है, भुजंग की मणी को छीनना सरल है, आकाश के तारों को सामान्यतः गिनना सरल है, इतने कार्य करनेवाले माहान् 'साधक' नहीं कहलाते। क्यों ? ये कार्य तुच्छ सामान्यजन भी कर लेते हैं। पौरुषतापूर्ण यदि कोई कार्य है तो वह है कामदेव को प्रिय, विवेक-नेत्र को नष्ट करनेवाली युवा अवस्था में अपने परिणामों को भोगों के तूफान से सुरक्षित रखना। कामनियों के दर्शन होने पर भी जिन्हें काम पीड़ा नहीं सताती, सुलभ-से-सुलभ भोग-सामग्री को जिन्होंने अपने वैराग्य के तेज से नीरस कर दिया, अपने जीवन की धारा को अध्यात्म की धारा में लगा दिया, स्वादिष्ट विषयों की गंध जिन्हें स्पर्श नहीं कर पायी, ऐसे महापुरुषार्थ के साधक साधु भगवंत उक्त विशेषताओं से युक्त होते हैं। भूमण्डल पर जितने भावलिंगी संत हैं, उनके चरण-कमलों का मैं बलिहारी हूँ।।

पुण्णस्स दुरुवओगो हि णरगो णिगोदो

हंसप्पा! इह संसारे णाणा-पुण्णवंता पुरिसा जादा। जहा, आउकम्मं णिच्छिदं, समत्तीए अण्णत्थ आउं लहिदूणं तदणुसारेणं गदीसुं गच्छेज्जा, तहेव पुण्णकम्मं णेयं। विवेगिणो दिग्घाउं लहिदूणं उत्तमकज्जं किच्चा पुणो दिग्घाउं लहेंति। अविवेगिणो दिग्घाउणा दिग्घपावकम्मं किच्चा दिग्घासुहाउबंधं किच्चा णरगादि-गदिं भजेंति। पुण्णकम्मोदयादो पावकम्माणि वि छादेंति, लोग-पसंसं चावि लहेदि जीवो। जीवो अद्धचक्की-पदं सगपुण्णदो लहेदि, णं सो अद्धचक्की तिव्वकसाय-भाव- कालुस्सेणं भजेदि णरग-गदिं।

भो अप्पा! णारायणस्स पुण्णं पि अणिच्चं। तुमं समया किंचि पुण्णं,

पुण्य का दुरुपयोग ही नरक/निगोद

हे हंसात्मन्! इस संसार में अनेक पुण्यशाली पुरुष हुए हैं। पर ध्यान रखना, जैसे आयुकर्म निश्चित है, पूर्ण होने पर अन्यत्र आयु को प्राप्त करके तदुनसार गतियों में जाना पड़ता है, उसी प्रकार पुण्यकर्म को समझना। विवेकी-जीव दीर्घ-आयु प्राप्त करके श्रेष्ठ कार्य कर पुनः दीर्घ-आयु को प्राप्त कर लेते हैं। अविवेकी जीव दीर्घ-आयु के साथ दीर्घ-पाप-कर्म करके दीर्घ अशुभ-आयु का बंध करके नरकादि गति को प्राप्त होते हैं। पुण्य-कर्म के उदय से पाप-कर्म भी छिप जाते हैं, लोक-प्रशंसा को भी व्यक्ति प्राप्त करता है। देख! अर्धचक्री-पद को जीव अपने पुण्य से प्राप्त करता है, लेकिन वह अर्धचक्री अपने तीव्र कषाय-परिणामों की कलुषता के कारण नरक गति को प्राप्त होता है।

भो आत्मन्! नारायण-जैसे पदवीधारी जीव के पुण्य भी सदा नहीं रहे। तेरे पास कितना-सा पुण्य है, तू भूल रहा है पुण्य के पीछे कृत्य-पापों के

तुमं पुण्णेणं किदपावफलाइं विसरेसि। अयं विसयो त्थि सगस्स, णेव अण्णस्स। कुण तिजोग-परिणदिं णिम्मलं, अण्णहा जदा पावकम्म-घडो फट्टेज्जा तदा तुव किं अवत्था होज्जा? संसारे कोवि तुव संगो णो देज्जा।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

फलों को। यह विषय अन्य के लिए नहीं, स्वयं के लिए है। मन, वचन, काय की परिणति को निर्मल रखो, अन्यथा पाप-कर्म का घट जिस दिन फटेगा उस दिन तेरी क्या अवस्था होगी ? संसार में कोई तेरा साथ देनेवाला नहीं होगा।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भवभमण-कारणं कम्मासवो

हंसप्पा! तुमं जिणवयणे णो सद्धा। जदि अत्थि, पुण कुण कम्मासव-कारणादो अप्प-रक्खणं। जीवस्स भवसायरे णिमज्जण-कारणं कम्मासवो, एसो जिणवर-वसहस्स उवएसो। जदि णाणभावजुदादो वि तिजोगस्स असुह-पउत्तिं करेदि पुण हुज्जा तिव्व-कम्मासवबंधा तहा विवागो वि तिव्वो। किंचि विचिंत, अण्णस्स कियत्तं वक्खाणं दिंतेसि, 'कम्मासवत्तो आसव-पच्चयत्तो कुण अप्प-रक्खणं'। णं किं अयं उवएसो णियट्ठं णत्थि? कसायभावं किसेहि, कुण विसुद्धभाव-वड्ढणं च, अयं पढमं सगं दिज्जा। अण्णं असंजमादो अवसरण-उवएसस्स पुव्विं अप्प-असंजम-पउत्तिं णिग्घिप्पेज्जा। एवमेव सम्मवेवेगी-णाणीचरिया। जो सयं चाग-तवस्सा-संजम-साहणा-हीणो एवं अण्णस्स उत्तवयण-उवएसं देदि, सो अण्णाणी

कर्मास्रव ही संसार-परिभ्रमण का कारण है

हे हंसात्मन्! तुझे जिनदेव की वाणी पर विश्वास नहीं है। यदि है, तो कर्मास्रव के कारणों से तू अपनी रक्षा कर। जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है कि जीव आज तक संसार-सागर में डुबकी लगा रहा है तो उसका मुख्य कारण कर्मास्रव ही है। ध्यान रख, ज्ञान-भाव से युक्त होकर भी यदि मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति करता है तो तीव्र कर्म का आस्रव-बंध होगा तथा विपाक भी तीव्र होगा। जरा विचार कर, तू दूसरे के लिए कितने व्याख्यान देता है कि कर्मास्रव से बचो, आस्रव के प्रत्ययों (कारणों) से स्व की रक्षा करो? लेकिन क्या यह उपदेश निज के लिए नहीं होता? कषाय-भाव क्षीण करो, विशुद्ध भावों की वृद्धि करो, ये उपदेश पहले स्वयं को देना सीख। दूसरे को असंयम से पृथक् होने का उपदेश देने के पूर्व स्व की असंयम-प्रवृत्ति पर संयम होना चाहिए। यही सच्चे विवेकी ज्ञानी की चर्या होती है। वह अज्ञानी हास्य का पात्र होता है जो स्वयं त्याग, तपस्या, संयम, साधना से हीन है और दूसरे के लिए उक्त बातों का उपदेश दे रहा है। जो सद्गुणों से हीन

होदि हस्सपत्तो। सुगुण-हीणस्स वक्खाणेहिं भूदत्थत्तं णो फुड्डेदि। चरिचा वा चरिया जस्स सरिसा, तस्स वाणीए होदि ओजगुणो, हीणत्तं णवि दीसेदि। भो चेयण्ण! तुमं किं कुंदकुंददेवस्स गाहं विसरेसि? तं जहा-

जम्म-समुद्देबहुदोस-वीचिए दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं, कम्मासवकारणं होदि।।

इदि सग-चित्तेणं विचिंत, सगपद-लाहट्ठं संजममग्गे भूदत्थेणं सह गमिदूणं कम्मासवत्तो कुणेहि णिय-रक्खणं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

होता है उसकी बातों से सत्यता प्रकट नहीं होती है, क्योंकि चर्चा-चर्या जिसकी एक होती है, उसकी वाणी में ओज-गुण हुआ करता है, हीनता नहीं दिखती। भो चैतन्य! तुझे क्या कुन्दकुन्दस्वामी की गाथा स्मरण नहीं आ रही है? 'वारसाणुपेक्खा' में आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि-

'दुःखरूपी जलचरों से भरे हुए बहुत दोषरूपी तरंगों से युक्त जन्म-मरण-रूपी संसार-समुद्र में जो जीव का परिभ्रमण हो रहा है, उसका मूल कारण कर्मों का आस्रव है।' अतः अपने अंतःकरण से विचार कर, स्वपद की प्राप्ति हेतु संयम-मार्ग पर सत्यता के साथ चलकर कर्मास्रव से अपनी रक्षा कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

दुक्करं पज्जयदिट्ठिचागो

हंसप्पा! पव्वदं उट्ठाविय सीसे ठावणं सरलं, पज्जयदिट्ठि-चागो दुक्करं समसज्झ-कज्जं। विण्ण! भोगिणो तच्चविवेयणं दुक्करं, पुण सच्चसाहणा दु विउल-दुक्करं। भो पण्ण! अज्झप्प-विज्जाए अमिद-सेवणादो णंत-अप्पा असरीरी-अवत्थं पत्ता। तस्स सेवणं कुण तम्मयत्तेणं। अहो णंतसुहसरूवी-हंसप्पा! तुमं एगत्तविहत्त-अप्पसरूव-सुमरणं कुण पडिक्खणं, सो हु तुव सद-सहावो।

पुण्णजोगादो सयलपदत्थाणि सुलहाणि, रिवु-गहे वि होदि सम्माणो, महज्जाला वि हिमरूवे परिणमेदि, किंदु तम्हि फले मा रज्ज। पुण्णफलं उहयरूवे फलेदि। णिस्सेयसं अब्भुदयं च पढमं पस्स।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

पर्यायदृष्टि छोड़ना दुष्कर कार्य

हे हंसात्मन्! पर्वत उठाकर सिर पर रखना सरल है, किंतु पर्यायदृष्टि छोड़ना बहुत कठिन एवं श्रम-साध्य कार्य है। हे विज्ञ! तत्त्व का विवेचन करना ही कठिन है तब सत्य-साधना तो बहुत कठिन है भोगी के लिए। भो प्रज्ञ! अध्यात्म-विद्या वह अमृत है जिसके पान करने से अनंत आत्माएँ अशरीरी-अवस्था को प्राप्त हुई हैं। उसका तू तन्मयता से पानकर। अहो अनंत-सुखस्वरूपी हंसात्मन्! तू एकत्व-विभक्त अपने निज स्वरूप का प्रतिक्षण स्मरण रखना, वही तेरा सत्-स्वभाव है।

पुण्य-योग से सभी पदार्थ सुलभ हो जाते हैं, शत्रु-गृह में भी सम्मान होता है, महाज्वाला भी हिमरूप परिणत हो जाती है परंतु उस फल में लीन नहीं हो जाना; क्योंकि पुण्य का फल उभयरूप फलता है। निःश्रेयस अभ्युदय पर प्रथम ही दृष्टि रखना।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

विसय-विरत्ते वेदकम्म-उवसमो

हंसप्पा! किं अग्गी अग्गीदो समेदि? रत्तदूसिद-वत्थं किं रत्तदो पवित्तेदि? पुणो किं वासणासुं लित्तादो कामणा समग्गेदि? वासणा-कामणा-परिहि-ट्ठिद-जीवदो पुच्छेदु-किं भोग-सेवणस्स पच्छा सो णो विचिंतेदि भोग-वासणासुं णो आणंदो सुहं च णत्थि? भोगा सच्च-सुइत्त-देहणासगा एव। सेवणस्स पच्छा किंचण समयाणं तिव्व-कामुगो वि विउल-वेरग्गीरूवं धारेदि एवं भासेसि-'अदो कदावि एवंविह-कुकिच्चं णवि करिस्सामि।' इमेसुं विसएसुं असंती, तिव्व-वासणाओ वि वड्ढेंति। भोग-सेवणस्स पच्छा तिव्व-भोगिच्छा वड्ढेदि। सहजत्ते जं कदावि कदाचि कामणाओ पीडेंति, जदि सो कामकीडं आरंभेदि पुण कामो तं पुण्णरूवेणं मारेदि। पडिक्खणं तं अण्णं किंचणं पि णो दीसेदि, कामिच्छा-पुत्ति-लिच्छाए

वेदकर्म का उपशम विषयों से विरक्त रहने में

हे हंसात्मन्! अग्नि क्या अग्नि से शांत होती है ? रक्त से दूषित वस्त्र क्या कभी रक्त से साफ होते हैं ? तो फिर मैं तुझसे ही पूछता हूँ, क्या कभी वासनाओं में लिप्त रहने से किसी की कामना भी पूर्ण हो सकती है ? वासनाओं, कामनाओं के घेरे में पड़े व्यक्ति से पूछो कि क्या भोग भोगने के बाद वह नहीं सोचता है कि अरे! भोगों/वासनाओं में कोई आनंद/सुख नहीं है ? सत्यता, पवित्रता व शरीर के नाशक ही हैं भोग। भोगने के बाद कुछ क्षणों के लिए तीव्र कामी भी बहुत बड़ा वैरागी-रूप धारण कर लेता है और कहता है कि अब कभी इस प्रकार के कुकृत्य नहीं करूँगा। इस विषयों में शांति नहीं है, ये तीव्र वासनाओं को बढ़ाते ही हैं। भोग भोगने के बाद तीव्र भोगेच्छा वृद्धिगत होती है। सहजता में जिसे कभी कदाचित् ही कामनाएँ सताती हों, यदि वह काम-क्रीड़ा करना प्रारंभ कर देता हैं तो उसे काम पूर्णरूप से मार डालता है। प्रतिक्षण उसे अन्य कुछ नहीं दिखता, एक कामेच्छा की पूर्ति की लालसा में ही रहता है। भावों से न मालूम कितनी

लीयदे। भावेहिं कियत्ताओ कामणाओ भुंजेज्जा, कोवि णो जाणेदि। कइयाइं होदि सचेदो, तदा सग-किच्चम्हि पच्छादाव-अणलदो संदुड्ढेदि, पुणो तं णो इट्ठजणेसुं अहिरुई, णेव विण्णजणेसुं। एवं आदघाद-समं कुकिच्चस्स होदि तप्परो। तिव्व-कामजरेणं आदविवेगं विसरिदूणं असच्च-सेवणं पि जीवो करेदि, इदं सुप्पसिद्धं लोए दिस्समाणं च। जदा समेदि कामजरो तदा कुकिच्चेणं अप्पं पडि सगहिदयो होदि गिलाणिजुत्तो। कुकिच्चं सामण्ण-जण-मज्झे पगासमाणं, अदु कहं पावी-मुहं सव्वस्स सम्मुहे भावेज्जा, इदं विचिंतिय आदघादं करेदि। अज्ज पायो एदे पसंगा समण्णा। भो णाणघण-अप्पा! वेदकम्म-उवसमणं विसयविरत्तम्हि संभवं, ण दु विसय-सेवणादो। आद-णिब्भरत्त-बीयं सीलधम्मं, असेस-किरियाओ गउणाओ।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

कामनियों को भोग डालता है। कभी-कभी सचेत होता है, तब अपने कृत्य पर पश्चात्ताप की अग्नि से झुलसता है, फिर उसे न इष्टजनों में अच्छा लगता है, न विज्ञजनों में। यहाँ तक कि आत्मघात-जैसे कुकृत्य करने को तैयार हो जाता है। ऐसा देखा-सुना भी गया कि तीव्र कामज्वर में आत्मविवेक खोकर असत्य का भी सेवन कर बैठता है। कामज्वर जब शांत होता है, तब स्व-कुकर्म के कारण स्व के प्रति स्व-हृदय ग्लानि से भर जाता है। बात-सामान्यजनों के बीच आ गई, अब कैसे पापी चेहरे को सबके सामने दिखाऊँ, ऐसा विचार कर आत्महत्या तक कर लेता है। प्रायःकर ये घटनाएँ सामान्य-सी होती जा रही हैं। भो ज्ञानघन-आत्मन्! वेद-कर्म का उपशमन विषयों से विरक्त रहने पर ही संभव है, विषयों के सेवन से नहीं। आत्मनिर्भरता का बीच शीलधर्म है, बाकी सब क्रियाएँ गौण समझ।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भोगसेवणदो असक्कं आदहिदं

विण्णप्पा! चित्तं किद-समणो असमणो। तं तु केवलं समणस्स भित्तिचित्तं। चित्तं ण दु दव्वसमणो, णेव भावसमणो। तहेव जो दव्वभावसंजम विरहिदो, केवलं मुणिवेसं धारेदि, कसाय-इंदियाणि णो समेदि, तं जाण भित्तिचित्तमिव समणो। जिणो जिणवाणीए पण्णत्तो-जो रदणत्तयं घारिदूणं पि विसय-कसाए परिणदो, सो होदि दुग्गदिपत्तो रदणत्तय-धम्मघादगो एवं होदि णंतसंसारी। जस्स संसारस्स दिग्घत्तादो रक्खणट्ठं गहवास-परिवार-पहुदि-संबंधं मुंचेसि, तं मा विसरेहि। दिग्घ-संसारी जीवणं इच्छेसि पुण विहा कायकिलेस-सहणादो णो कोवि विसेस-लाहो। विसयकसायरूव-जीवण-परिणदी दिग्घभव-कारणं। जदि पिच्छि-कुंडिगा-जिणमुद्दं च

भोगों के सेवन से कभी आत्मकल्याण संभव नहीं

हे विज्ञात्मन्! चित्र-अंकित-मुनि मुनि नहीं होता। वह तो मात्र मुनि का भित्ति-चित्र है। चित्र न द्रव्य-श्रमण है, न भाव-श्रमण। उसी प्रकार जो जीव द्रव्य-भाव संयम से रहित है, मात्र मुनि-वेष धारण किए है, न कषाय शांत हुई न इंद्रियाँ, भो ज्ञानी! उसे भित्ति-चित्र-जैसा ही श्रमण तू जान। जिनभारती में जिनदेव ने कहा है कि जो रत्नत्रय धारण करके भी विषय-कषाय में परिणत है, वह दुर्गति का पात्र होता है, रत्नत्रय-धर्म का घात करता है तथा अनंतसंसारी होता है। तू ध्यान रख, जिस संसार की दीर्घता से बचने के लिए गृहवास, परिवार आदि के संबंध को छोड़ा है, उसे भूल नहीं जाना। दीर्घ-संसारी बनकर जीना ही है तो व्यर्थ में काय-क्लेश सहन करने से कोई विशेष लाभ नहीं है। दीर्घ-संसार का कारण विषय-कषायरूप जीवन की परिणति है। यदि पिच्छी, कमण्डलु व जिन-मुद्रा धारण करके भी जीव की परिणति नहीं बदली बाह्य द्रव्यों से,

धारिदूणं पि बहिदव्वादो, विसयकसायभावदो जीव-परिणदी णवि परियट्टेदि पुणो दिग्घ-संसारी-भावदो कोवि णो रक्खेदि। परणिमित्ताणि केवलं णिमित्तरूवाणि। भूदत्थेणं परियट्टणं दव्वस्स णियोवादाणं। अण्ण-किरियादो विरमिदूणं णियोवादाणस्स णिम्मलत्तं आवस्सगं। पढमं साहग-कत्तव्वं आदबोहो आदसोधो य होदव्वं। सगहिदरूवं कत्तव्वाकत्तव्वं च जाणिदूणं अकत्तव्वं मुंचेज्जा। जदि णूणं कल्लाण-भावणा दु सगहिदरूव-कत्तव्वमग्गे अहिरूढेज्जा, अण्णहा मोक्खो णो इयत्तो सहजो। भोगज्जालाए आदहिदं असक्कं। अंगारेसुं कमलाणि णो विसट्टेंति, कमलाणि सरोवरे विसट्टेंति।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

विषय-कषाय-भाव से, तो कोई भी दीर्घ संसारीपने से बचानेवाला नहीं है। पर-निमित्त तो मात्र निमित्तरूप ही होते हैं। बदलना/परिणमन करना भूतार्थरूप से द्रव्य का निज उपदन ही समझ। निज उपादान को निर्मल-बनाने की आवश्यकता है अन्य क्रियाओं से विराम लेकर। साधक का सर्वप्रथम कर्तव्य आत्मबोध/आत्मशोध होना चाहिए। स्वकल्याणरूप कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जानकर अकर्त्तव्य छोड़ देना चाहिए। स्वकल्याणरूप कर्त्तव्यमार्ग में अभिरूढ़ हो जाना चाहिए यदि वास्तव में कल्याण करने की भावना है तो, अन्यथा तो ठीक है, मोक्ष इतना सहज नहीं है। भोगों की ज्वाला में कभी आत्मकल्याण संभव नहीं है, क्योंकि अंगारों पर कभी कमल नहीं खिलते, कमल सरोवर में ही खिलते हैं।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सपरहिद-भावणादो साहुत्तं बहुदुक्करं

विण्णप्पा! चिंता हु तुव अदिस्स-रिवू। संसारे अण्णरिवू वि दीसेंति, ते अत्थसत्थ-पहारो वि करिस्संति, पुण्णवसा कोवि सज्जणो तुमं रक्खेदि। चिंतारूव-रिवू इयत्तो सबलो, जो अण्णेणं णो रुब्भेदि। चिंता णासेदि जीवस्स सयल-उच्चत्तं। चिंता तणं चेयण्णं च उस्सिंचेदि, जीवो होदि मिद-समो। चिंताउरस्स कज्ज-सामत्थं विप्पलएदि। चिंताउरो सगकज्जे असफलो होदि। कज्जस्स उज्जमं कादव्वं, कज्जस्स चिंतं णवि कादव्वं। चिंतादो णिरासा जायदि। णिरासा पसण्णभावं सुहं संत्तिं च णासेदि एवं सुकम्मट्ठं किद-संकप्पाणं पि णासेदि। सयल-उण्णदि-णासग-ओसहं णिरासा। णिरासा करेदि मण-मत्थिक्कं दुब्बलं। जस्स मत्थिक्कं दुब्बलं, तस्स

स्वपर कल्याण की भावना से साधु बनना बहुत कठिन है

हे विज्ञात्मन्! तेरा अदृश्य शत्रु यदि कोई है तो वह है चिंता। संसार में अन्य शत्रु भी दिखते हैं वे अस्त्र-शस्त्र का प्रहार भी करेंगे, हो सकता है कि कोई सज्जन-मध्य में आकर तेरी रक्षा कर दे परंतु चिंतारूपी शत्रु इतना सबल है, जो किसी अन्य के द्वारा रोका नहीं जा सकता। चिंता व्यक्ति की संपूर्ण ऊँचाइयों को भूमिसात करा देती है। चिंता तन और चैतन्य को खोखला कर देती है, व्यक्ति मृतक-तुल्य हो जाता है। चिंतामग्न व्यक्ति की कार्यक्षमता विलय को प्राप्त हो जाती है। चिंता करनेवाला कभी अपने कार्य में सफल नहीं हो पाता। सत्य तो यह है कि कार्य करने का पुरुषार्थ करना चाहिए, न कि कार्य करने की चिंता। चिंता से निराशा का जन्म होता है। निराशा प्रसन्नता, सुख-शांति को ही नष्ट नहीं करती, अपितु वह हमारे उन संकल्पों की भी हत्या कर देती है जो हमने कुछ सत्कर्मों को करने के लिए किये थे। निराशा संपूर्ण उन्नति की नाशक-औषधि है। निराशा मन व

णिस्सेस-देहं होदि दुब्बलं। चिंताउरो कियत्तं पोट्ठिगभोयणं कुणेदु, उत्तमोत्तम-परिवेसे वसेदु पुण्णे वि सो णो होदि हट्ठ-पुट्ठो। चिंता होदि वेदणीय-कम्मासव-हेदू, जस्स फलं उहयलोए दुक्खं। जदा वि जीवस्स आसा-वंछाओ धंसेंति, तदा तस्स माणसिग-सत्तीओ कज्जस्स अजोग्गं होंति।

भो चेयण्ण! गेह-पदणं पव्वयदो अहोपदणं च बहु-सुगमं, गेह-णिम्माणं पव्वय-आरोहणं च समसज्झ-कज्जं। तहेव हीण-चिंतण-उब्भावो, भावुगदा-वसा असम्म-णिण्णयो एवं कामकसायवसा अणत्थेणं माण-सम्माण-कुलं च कलंकिद-करणं सुगमकज्जं। णिम्मलचिंतणदो पवित्त-चित्तदो पवित्तकज्जं किच्चा सपर-हिदभावणादो वर-समणत्तं बहुदुक्करं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

मस्तिष्क को कमजोर करती है। जिसका मस्तिष्क कमजोर है, उसका सारा शरीर कमजोर हो जाता है। चिंतामग्न व्यक्ति कितना ही पौष्टिक भोजन करे, अच्छे-से-अच्छे वातावरण में निवास करे, फिर भी वह हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकता। वेदनीय-कर्मास्रव का हेतु बन जाती है चिंता, जिसका परिणाम उभय लोक में दुःख-ही-दुःख है। जितनी बार व्यक्ति की आशाएँ, आकाँक्षाएँ धराशायी हो जाती हैं, उतनी बार उसकी मानसिक शक्तियाँ कार्य करने के अयोग्य हो जाती हैं।

भो चैतन्य! मकान गिराना, पर्वत से नीचे गिर जाना बहुत सरल है, परंतु मकान का निर्माण कराना, पर्वत पर चढ़ना श्रमसाध्य कार्य है। उसी प्रकार निम्न विचारों का आना, भावुकतावश गलत निर्णय कर लेना, कषाय व काम के वशीभूत होकर अनर्थ कर अपने मान-सम्मान व कुल को कलंकित कर बैठना कोई बड़ी बात नहीं है, परंतु निर्मल चिंतवन से पवित्र चित्त से पवित्र कार्य करके स्व-पर कल्याण की भावना से श्रेष्ठ साधु बनना बहुत कठिन है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

होदूणं वर-किसगो कुण वर-किसिं

विण्णप्पा! उत्तम-सस्सलाहट्ठं उत्तम-उव्वराभूमी आवस्सगा। अणुव्वरा-भूमीए उत्तम-बीयं पि णवि देदि उक्किट्ठ-फलं। जोग्ग-किसगो भूमिं करिसित्तु णिरत्थग-सिलाखंड-तिण-पत्ताइं च विओजेदि, तिणादि-सब्भावे णो होदि बीयस्स सम्मं अंकुरणं। भो चेयण्ण! एत्थ खेत्त-किसग-बीय-तिण-पहुदि-अहिप्पाओ आदतच्चे दिट्ठी जाण। पत्त-माणुसपज्जायो खेत्तं, उत्तमकुल-धम्मं च उव्वराभूमी, मण-वयण-काया तिय-किसगा, कोह-माण-माया-लोहा णिरत्थग-तिणाणि, काम-भोगा-सिला, पुण्णापुण्णाइं बीयाइं च। तुमं किं ववणं इच्छेसि, तं विचिंतेहि? उत्तमबीयं ववित्ता उत्तमसस्सं इच्छेसि पुण तं सस्सं अब्भुदय-णिव्वाणं च। से पुण्ण-बीयंववेहि।देवसमय-गुरु-आराहणा,विसयकसायरहिद-परिणदी,

उत्तम कृषक बनकर श्रेष्ठ कृषि कर

हे विज्ञात्मन्! उत्तम फसल की प्राप्ति हेतु उत्तम उर्वरा भूमि की आवश्यकता होती है। भूमि यदि उपजाऊ नहीं है तो श्रेष्ठ बीज भी उत्कृष्ट फल नहीं दे पाता। योग्य-किसान सर्वप्रथम भूमि को जोतकर व्यर्थ के कंकड़-पत्थर, घास-पत्तों को पृथक् कर देता है, क्योंकि घास-पात के रहने से बीज भली-भाँति अंकुरित नहीं हो पाता। भो चैतन्य! यहाँ खेत, किसान, बीज, घास-पात इत्यादि से तात्पर्य आत्मतत्त्व पर दृष्टि रखकर समझना। ये मनुष्य-पर्याय प्राप्त हुई है, वही खेत है। उत्तम कुल, श्रेष्ठ धर्म को ही उर्वरा-भूमि समझ तथा मन, वचन, काय ये तीन किसान है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये व्यर्थ की घास-पात है। कामभोगरूपी पत्थर हैं, पुण्य-पापरूपी दो बीज हैं। तू क्या बोना चाहता है, उसे विचार कर ? देख! यदि उत्तम बीज बोकर उत्तम फसल चाहता है तो वह फसल है स्वर्ग-मोक्ष। इसके लिए पुण्य-बीज का वपन कर। वह पुण्य-बीज है देव-शास्त्र-गुरु की

महव्वद-अणुव्वद-पालणं, णिक्कसाय- णिक्कामवित्ती, सामण्णं च पुण्णबीयं। इदं सव्वुत्तम-बीयं ववणस्स पुव्विं पुव्वुत्त-तिण-ठाणीयं कसायादि-परिणदिं भेदविण्णाण-हलत्तो विओजेदि अण्णहा तुव बीयं णिरत्थगं। मज्झम- जहण्ण-सस्साणि णर-णारग-तिरिय- पज्जाया। इमेसिं पुण्ण-पावरूव- मिस्सबीय-ववणं पावबीय-ववणं च करिस्ससि पुण एदाणि सस्साणि सुगमत्तेणं भजिस्ससि। तेसिं विसेस-तिणं पि णवि विओजेज्जा। णरगट्ठं आरंभ-गंथ-आसा कामभोगवंछा इंदियदासत्तं च पावबीयं। तिरियट्ठं माया-छल-कवडं, सण्णासुं तिव्वत्तं च पावबीयं। माणुसट्ठं मिदुभावो, थोवारंभ-गंथो पुण्णापुण्णरूवं मिस्सबीयं। एसो जिणोवएसो। जं सस्सं सच्चेसि तस्स किसिं कुणेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

आराधना, विषय-कषाय से रहित परिणति, महाव्रत/अणुव्रतों का पालन तथा साम्यभाव, निःकषाय-निष्कामवृत्ति। इस सर्वोत्तम बीज को बोने के पहले पूर्वोक्तघास-पातरूपी स्थानीय कषायादि परिणति को भेदविज्ञान के हल से पृथक् कर देना, अन्यथा तेरा बीज व्यर्थ चला जाएगा। मध्यम-जघन्य फसल नर, नारक, तिर्यंचादि पर्याय हैं। इसके लिए पुण्य-पापरूप मिश्र बीज व पाप-बीज का वपन करना होगा, तो ये फसल बड़ी सहजता से प्राप्त हो जाएँगी। उनके लिए विशेष घास-पात भी अलग नहीं करना पड़ेगी। नरक के लिए इंद्रियों की दासता, आरंभ-परिग्रह की आशा, काम-भोग की वांछा पाप-बीज है। तिर्यंचादि के लिए मायाचार, छल-कपट, संज्ञाओं की तीव्रता, ये पाप-बीज हैं। मनुष्य के लिए मृदु भाव, अल्प आरंभ-परिग्रह पुण्य-पापरूप मिश्र बीज है। ऐसा जिनदेव ने कहा है। अब तुझे जो फसल अच्छी लगे उसकी खेती कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सेयं वाणी-वेहवं तं कुण वरं

विण्णप्पा! वाणीसंजमो जीविदम्हि आवस्सगो। वाणी हिदय-अहिणाणं कारेदि। जीवस्स हिदयभावा जीवस्स भासाए जाणेज्जा। भासाए कोइल-कागणाणं। देहवण्ण-वत्थेहिं णो होदि जीवस्स वत्तित्तणाणं, वत्तित्तणाणं तु भासाए। भासाए जीवस्स देस-गाम-पंत-णाणं च होदि। भासा होदव्वा महुर-सुवत्त-दिव्वा य। सव्वपियो होदुं कडु-कक्कस-णिट्ठुर-सावज्ज-पेसुण्ण-भासा-पओगं णवि कुज्जा। लोगपियदाए वाणी-माहुरियं आवस्सगं। भावाणं भासं सुसक्किदं कादव्वं। जीवपरिणामा उत्तमा होंतु किंदु भावा सम्मरूवेणं उग्घाडेदि अहवा णो उग्घाडेदि, पुण अण्णजीवा णो अहिरुएदि दु उत्तमभावाणं पि मुल्लं णो होदि। अणुवम-वसीकरणं वाणी।

वाणी का वैभव श्रेयस्कर है, उसे श्रेष्ठ बना

हे विज्ञात्मन्! वाणी-संयम जीवन में अनिवार्य है। वाणी हृदय की पहचान करा देता है। व्यक्ति के हृदय में क्या भाव हैं, ये व्यक्ति की भाषा से मालूम हो जाता है। भाषा से ही कोयल व काक का ज्ञान होता है। शरीर के वर्ण या वस्त्र से व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान नहीं होती, व्यक्तित्व की पहचान भाषा से होती है। किस देश, प्रांत, ग्राम का वासी है; ये ज्ञान भाषा के माध्यम से होता है। भाषा मधुर, सुंदर व स्पष्ट होनी चाहिए। कटु, कर्कश, निष्ठुर, सावद्य, पैशून्य भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए यदि आपको सर्वप्रिय बनना है तो। लोकप्रियता के लिए सर्वप्रथम वाणी की मधुरता अनिवार्य है, भावों की भाषा को सुसंस्कृत करने की आवश्यकता है। व्यक्ति के परिणाम अच्छे हों परंतु भावों को सही ढंग से व्यक्त नहीं कर रहा हो या माना कि कर भी रहा हो तो लोगों को पसंद नहीं आ रहा हो, तो श्रेष्ठ भावों की भी कीमत नहीं हो पाती। वाणी अनुपम जादू है। वह व्यक्ति को रुला भी देता है, हँसा भी देती है। रागी को भी वैरागी बना देती है, वैरागी

सा जीवं रोवेदि पविहसेदि वा। रागिं पि करेदि वेरागी, वेरागिं पि करेदि रागी। वाणी कम्मबंधं पि कारेदि, कम्मबंधादो मोक्खं पि देदि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

को भी रागी बना देती है। वाणी कर्मबंध भी करा देती है, कर्मबंध से मुक्ति भी दिला देती है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

कहण-करणे एगत्तं विणा दुल्लहं आददंसणं

विण्णप्पा! सच्चवाणी सच्चसहावरूवा होदु, णो होदु कडू, तदेव जाणेज्जा सच्चं। किंचणं जीवा मेत्तं सच्चं सुणेंति, सच्चं जीवणे णो किदा सागारं, तम्हा अज्जपज्जंतं भवे हिंडेंति। संसारातीद-अप्पाणो सच्चं जाणित्ता सच्चं पडिवज्जिदा। अज्ज सच्चोवएसगो सुगमत्तेणं उवलद्धो, सच्च-गममाणो उवएसग-लाहो दुल्लहो। जावं कहण-करणे णो एगत्तं, तावं दुल्लहं आददंसणं।

तुमं बहु-कुसलो परोवएसम्हि, इमा णीदी दिस्सेदि। सहासुं सच्चविसए बहु-सुहुम-विवेयणा होदि। सच्चघोसस्स दिट्ठंतं देदूणं णियसच्चघोसं उब्भासेदि। घोसे सच्चं होदि, णं णो होदि सच्चघोसं।

कथनी और करनी में एकता आए बिना आत्मदर्शन दुर्लभ हैं

हे विज्ञात्मन्! सत्य-वाणी कुट न हो, सत्य-स्वभावरूप हो, तभी सत्य को समझ सकते हैं। संसार में आज तक जीव भटक रहे हैं, इसका कारण यही रहा कि कुछ जीवों ने मात्र सत्य को कानों में सुना है, लेकिन सत्य को जीवन में साकार नहीं किया है। जो संसारातीत आत्माएँ हैं, उन्होंने सत्य को जानकर सत्य को स्वीकार कर लिया था। आज सत्य का उपदेशक आसानी से मिल सकता है, परंतु ऐसा उपदेशक मिलना कठिन है जो सत्य पर चल रहा हो। जब तक कथनी-करनी में एकता नहीं आती, तब तक आत्मदर्शन बहुत दुर्लभ है।

'परोपदेश कुशल बहु तेरे' की नीति लागू हो रही है। सभाओं में सत्य के बारे में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवेचना हुआ करती है। सत्यघोष के

घोसवयण-सच्चं णिट्ठवित्ता जदा सच्चघोसो आरंभेज्जा तदा आदा होहिदि परमप्पा। वयं चरिया-किरिया-कहण-करणं च सच्चं होदव्वं।

भो अप्पा! कक्खस्स विसुद्धसायरो भिण्णो, सहाए भिण्णो, गुरुणो भिण्णो, भत्ताणं भिण्णो; एदे णाणा-रूवा तुव णियसरूव-रमणे अवरोहा। जावं भिण्णत्तं तावं णो लहेज्जा देहदो भिण्णं विदेही-अवत्थं। किरगिल-वेसं मुंच, एगरूवो हुव। एगरूवत्तं सरलत्तं सदाचारो वा। भो भावी भगवं अप्पा! भविस्स-पज्जायस्स लक्खं धारेहि, भूद-पज्जाय-दुक्खाइं सुमरेहि। सच्च-अभावे तुमं हिंडेसि। सच्च-परमप्पपद-लाहट्ठं सच्चाचरणम्हि रज्जेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

उदाहरण देकर निज के सत्यघोष को प्रकट कर दिया जाता है। घोष में सत्य रहता है, पर सत्यघोष नहीं हो पाता। घोष (बोलने) का सत्य समाप्त कर जिस दिन सत्य-घोष प्रारंभ हो जाएगा, उसी दिन आत्मा ही परमात्मा बन जाएगा। हमारी चर्या, क्रिया, कथनी-करनी वह होनी चाहिए जो सत्य है।

भो आत्मन्! कमरे का विशुद्धसागर भिन्न है, सभा का भिन्न है, गुरु का भिन्न है, भक्तों का भिन्न है; ये नाना रूप जो तेरे हैं, वे ही तुझे निज-स्वरूप में नहीं जाने देते। ये भिन्नता जब तक रहेगी, तब तक तू देह से भिन्न विदेही-अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाएगा। गिरगिट-वेष को छोड़, एकरूप हो जा। एकरूपता का नाम ही सरलता-सदाचार है। भो भावी भगवानात्मा! भविष्य की पर्याय का लक्ष्य रख, भूत की पर्यायों के दुःखों को याद कर। सत्यता के अभाव से ही तू भटका है। सत्य परमात्मपद को प्राप्त करना है, तो सत्याचरण में लीन हो जा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

मणो इरिदेदि अक्खाणि

विण्णप्पा! कम्मासवकारणं कामसेवणं मेत्तं णत्थि। अज्ज पायो जीवा विसयसेवणं कामसेवणं मेत्तं मण्णेंति। जो करेदि मेहुणकीडं, तं विउल-पावी मण्णदे। तं कुलकलंकी-पहुदि-सद्दादो संबोधेज्जा। अबंभसेवणं घोरपावं होदि, इंदियमणविसयं सामण्णं णो मण्णेज्जा। फास-इंदिय-विसयगा कामकीडा विउलविलंबे होंति, पढमं तु सेस-इंदियाणि भोगं भुंजेंति। ताणि हु कामकीडाए गामेंति। गरिट्ठ-इट्ठ-वीरियवड्ढग-भोयणं रसणिंदियं णो कुणेदु, पुण किं करिस्सदि फासिंदियं? सुक्ख-सरोवरे णो संचरेदि तरणी। कामकीडा-तरणिं चालणट्ठं णीरं रसणिंदियं देदि। जदि देहे णो वीरिय-आधिक्कं णो उत्तेयग-पदत्थसेवणं च, पुणो णो होदि कामकीडा वि। कामुप्पादग-गंधं घाणिंदियं जिग्घेदि, णयणेसुं होदि काम-दिट्ठी।

मन ही इंद्रियों को प्रेरित करता है

हे विज्ञात्मन्! कर्मास्रव का कारण काम-सेवन मात्र नहीं। आज अधिकांश व्यक्ति विषय-सेवन से तात्पर्य काम-सेवन मात्र समझते हैं। जो मैथुन-क्रीड़ा करता है, उसे बहुत बड़ा पापी माना जाता है। उसे कुल-कलंकी इत्यादि शब्दों से संबोधित किया जाता है। ठीक है, अब्रह्म-सेवन घोर पाप तो है ही, लेकिन इंद्रिय-मन के विषय को सामान्य न समझें। सत्य तो यह है कि स्पर्शन-इंद्रिय संबंधी कामक्रीड़ा तो बहुत देर में होती है, सर्वप्रथम तो शेष इंद्रियाँ ही भोग भोगती हैं। वे ही कामक्रीड़ा में गमन कराती हैं। रसनाइंद्रिय गरिष्ठ, इष्ठ व वीर्यवर्द्धक भोजन न करे तो स्पर्शन-इंद्रिय क्या करेगी? देखो, सूखे सरोवर में नौका नहीं चलती। कामक्रीड़ा की नौका चलाने हेतु नीर रसना-इंद्रिय प्रदान करती है। शरीर में वीर्य की अधिकता नहीं होगी, उत्तेजक पदार्थ सेवन नहीं होगा, तो कामक्रीड़ा नहीं हो सकती है। कामोत्पादक-गंध घ्राण सूँघती है, काम-दृष्टि नेत्रों में होती है। इष्ठ शब्दों को कान सुनते हैं। अश्लील कर्णप्रिय,

इट्ठ-सद्दा कण्णा सुणेंति। असक्किद-कण्णपिय-वेगवड्ढग-कुकहाओ राग-गीदं च फासिंदियाणि इरिदेंति। इमेसिं सव्वेसिं सामी तुव मणो, सव्वाणि अणुमदिं देदि। सव्वेसिं इंदियाणं कीडं सोचेव करेदि। दोसो मेत्त-फासिंदियं देदि, तमेव दुव्वयणादो संबोधेदि, इदं पुण्णसंचयं णत्थि। चउ-इंदियाणि मणं च वसीकरणे फासिंदियं सयमेव होदि वसे। संगीदं वादेज्जा एवं दोसो णट्ठगं दिज्जा तुव पादा अथिरा। संगीदं रुंभेहि पादा सयमेव समेज्जा। चउ-इंदिय-संगीदं रुंभेज्जा दु फासिंदिय-णच्चं विप्पणस्सेज्जा। कामसेवणं एगिंदियविसयो णत्थि, तं तु पंचिंदियभोगविसयो। तं जहा-'इंद्रिय-मनस्तर्पणो भावो विषयः।' ते विसया कम्मासव-बंधकारणाणि, मा हुव इमेसिं वसे।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

वेग-वृद्धिकारक कुकथाएँ, राग, गाने स्पर्शेंद्रियों को प्रेरित करते हैं और इन सब का स्वामी तेरा मन है, जो सभी को अनुमति प्रदान कर रहा है। सारे इंद्रियों के खेल वही कर रहा है। दोष मात्र स्पर्शन-इंद्रिय को दिया जाता है, उसे ही दुर्वचनों से संबोधित किया जाता है, पर यह बात पूर्ण सत्य नहीं है। यदि चार इंद्रियों व मन को वशीभूत कर लिया जाए तो स्पर्शन-इंद्रिय स्वतः ही वश में हो जाएगी। बात यों है कि साज-संगीत बजाता रहे और दोष नाचनेवाले को दो कि तेरे पैर स्थिर नहीं रहते हैं। अरे भैया! संगीत बंद करा दो, पैर स्वतः शांत हो जाएँगे। चार इंद्रिय का संगीत बंद करा दो तो स्पर्शन-इंद्रिय का नाच समाप्त हो जाएगा। ध्यान रख, काम-सेवन एक इंद्रिय मात्र का विषय नहीं है, पाँचों इंद्रियों का भोग-विषय है। आचार्य भगवंत सोमदेव सूरि ने 'नीति वाक्यामृत' में लिखा है कि-'इंद्रिय-मन जिससे संतुष्ट हो उसे विषय कहते हैं।' वे सभी कर्मास्राव व बंध को कारण हैं। इसके वश में न हो।।

।। सम्पूर्ण सिद्धों को नमस्कार हो।।

हुव सगदव्वकत्ता

विण्णप्पा! कत्ताबुद्धी अहं बुद्धी दुक्ख-असंति-कारणं। जावदिया विसंवादा, ते सव्वे जीवस्स कत्तत्तेहिं। अरे चेयण्ण! भूदत्थेणं तुमं सग-दव्वखेत्तकालभावकत्ता। कहं तुमं होज्जा परपरिणदि-कत्ता। तिक्काले असंभवो परोवादाणकत्ता। पत्तेगदव्व-परियट्टणं सगोवादाण-जोग्गदाए होदि। संसार-संबंधा णिमित्ताधीणा। उवादाणदो पत्तेगदव्व-संबंधो केवलं सगेणं सह एव, णेव अण्णेणं। अण्ण-संबंधा णियसंबंधभूद-मणणं दोसो। तुव अयं दोसो केवचिरं णो गलेज्जा? खलु तुमं णियकत्ता-करण-कम्मं च। अण्णो तुव कत्ता-करण-कम्मं च णत्थि। फलं पि तुमं हि भजेज्जा। णिच्छय-चेयण्णाणुभूदि-परिणद-कारणसमयसारो तेयालिग-सुद्धसिद्ध-अवत्था एव फलं, तमेव पडिवज्जेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

स्व द्रव्य का ही कर्ता बन

हे विज्ञात्मन्! दुःख व अशांति का कारण है कर्ताबुद्धि, अहं बुद्धि। जितने विवाद/विसंवाद हैं, वे सब जीव के कर्तापन के कारण हो रहे हैं। अरे चैतन्य! तू सत्यरूप से स्व द्रव्य-क्षेत्र-भाव का कर्ता है। पर-परिणति का कर्ता तू कैसे हो सकता है? पर-उपादान का कर्त्ता त्रिकाली संभव नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्व-उपादान की योग्यता से ही होता है। संसार में जितने भी संबंध हैं, वे सब निमित्ताधीन हैं। उपादान से तो प्रत्येक द्रव्य का संबंध मात्र स्व से ही है, अन्य से नहीं। अन्य संबंधों को निज संबंध मानना भूल है। ये भूल तेरी कब तक समाप्त नहीं होगी? निज का कर्ता तू ही है, कारण भी तू ही है, कर्म भी तू ही है। अन्य तेरे कर्ता, करण, कर्म नहीं हैं। फल भी तुझे ही प्राप्त होगा। निश्चल चैतन्यानुभूति से परिणत कारण-समयसार त्रैकालिक-शुद्ध सिद्ध अवस्था ही फल है, उसे ही प्राप्त कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

दुट्ठमित्ती दुक्खकारणं

विण्णप्पा! माणवो सामायिग-जीवो, सो सामूहिगरूवेणं परोप्परं मिलित्ता वसेदि। पायो जीवाणं मित्ताणि होंति। जं वयणं मादुं पिदुं पुत्तं चावि णो संवयदि तं मित्तं संवयदि। जो संपदाए तए जहापीदिं करीअ, जीविदस्स पत्तेगसमय-चरिचं पुच्छीअ, सा हु किरिया विवदाए वि, सो हु मित्तं। सत्तिं अत्थलोलुविं च मित्तं णवि कप्पेज्जा। किण्ह-सुदामा-सरिसा मित्ती होदु ण दु हंस-मूसग-सरिसा, जो हंसस्स पक्खं विकट्टेज्जा। मित्तं होदव्वं, णं णो परिक्खाए विणा। जो झत्ति हिदयस्स रहस्समयं वयणं अण्णं संवयदि, सो मूढो। जो कज्जसिद्धिपज्जंतं वयणं संगोवेदि, सो णाणी। खल-मित्तिं कदावि मा करेहि, दुट्ठमित्ती अंतो, दुक्खं देदि। सुपहे गमेज्जा गामेज्जा वा, जस्स एरिसा भावणा, तमेव मित्तं कप्प।।

।। णमो णिहिल-सिद्धांण।।

दुष्टों की मित्रता दुःखों का कारण

हे विज्ञात्मन्! मानव एक सामाजिक प्राणी है, वह सामूहिकरूप से परस्पर मिलकर रहता है। अधिकांशतः व्यक्ति अपने मित्र बनाकर रखते हैं। जो बात माता, पिता, पुत्र को नहीं बताता, वह मित्र को बता देता है। मित्र वही होता है, जो संपदा के समय तेरे से जैसी प्रीति/प्रेम करता था, जीवन के प्रत्येक क्षण की चर्चा पूछता था, वही प्रक्रिया विपदा के समय भी करता हो। स्वार्थी, अर्थलोलुपी को मित्र नहीं बनाना चाहिए। मित्रता हो तो श्रीकृष्ण-सुदामा जैसी हो, हंस-चूहे जैसी नहीं, जो कि हंस के ही पंख काट डाले। ध्यान रख, सखा बनाओ, पर बिना परीक्षा के नहीं। अपने हृदय की रहस्यमयी बात जो सहसा किसी को बता देता है वह मूर्ख कहा जाता है। ज्ञानी वही है जो कार्यसिद्धि-पर्यंत बात को गुप्त रखता है। एक बात का ध्यान रखना, खल-मैत्री कभी मत करना, क्योंकि दुष्टों की मित्रता अंत में दुःख ही प्रदान करती है। सत्-पथ पर चलो, चलाओ ऐसी भावना जिसकी हो उसे ही तुम मित्र बनाओ।।

कुण णिय-समिक्खं, ण दु परस्स

विण्णप्पा! कस्स समिक्खं तुमं करेसि? किं पर-समिक्खाए तुव समिक्खा होज्जा? समयं किमत्थं विहा णासेदि? तुमं णो जाणेसि समय-मुल्लं। एक्केक्क-पलं अमुल्लं। समिक्खा-काले किं तुमं करेसि णियसमिक्खं? पढमो समिक्खगो अण्णविसए विचिंतेदि। किंचणं अक्कोसो वि जादेज्जा, किंचणं विसएणं धम्मज्झाणट्ठाणे अट्टज्झाणं पि जादेज्जा। जावं लेहो, तावं पत्तं सपक्खिं। किं तदा णियस्स परमप्पस्स चित्तं सपक्खिं आगच्छेदि? अरे चेयण्ण! तुव लेहणादो किं कस्स भविदव्वदा परियट्टेदि? किंचणं कुणेहि अज्झप्प-पाणं। गहण-परविसए वि विचिंत। जिणवयण-विहिपरग-चरिचाओ करेसि दु जोगो असुहादो रक्खिदूणं सुहं रज्जेदि, जिणसासण-पहावणा वि होदि, जदि णवि होदि दु णियपहावणा

निज की समीक्षा कर, पर की नहीं

हे विज्ञात्मन्! किसकी समीक्षा तू कर रहा है ? क्या पर की समीक्षा करने से तेरी समीक्षा होगी ? समय को क्यों व्यर्थ में नष्ट कर रहा है ? समय की क्या कीमत है, मालूम नहीं है तुझे ? एक-एक पल अमूल्य है। तू समीक्षा करते समय क्या निज की समीक्षा कर पाता है ? सर्वप्रथम समीक्षक अन्य के बारे में सोचता है। कुछ आक्रोश भी उत्पन्न होता होगा, कुछ ऐसे विषय भी आते होंगे जिससे धर्म-ध्यान के स्थान पर आर्त-ध्यान भी बनता होगा। जब तक लेख जारी है तब तक पात्र सामने है। क्या इतने समय तक निज की, परमात्मा की तस्वीर सामने आती है ? अरे चैतन्य! तेरे लिखने से क्या किसी की भवितव्यता बदल सकती है ? कुछ अध्यात्म का भी पान कर। जिस पथ को चुना है, उसके बारे में भी चिंतवन कर। कुछ जिनवाणी की विधिपरक चर्चाएँ करता तो योग अशुभ से बचकर शुभ में लगता, जिनशासन की प्रभावना होती; न भी होती तो निज प्रभावना तो

होदि। पस्स, तुमं कियत्तो समिक्खा-पत्तो। जदि णिय-समिक्खं करेसि पुण अणेग-गंथा लेहेज्जा। गुरुद्दोही किं होदि भूदत्थ-मुमुक्खू? किं एगागी दद्धयाले होदि भूदत्थसाहगो? किं एगागी-विचरणं जिणदेव-आणा? किं अंतरेण साहगं सावगधम्मो, ववहारधम्म-पहावणा य होदि? किं जे दोसा समिक्खायाले अवरम्हि दीसेंति, तदा समिक्खगो णियम्हि वि पस्सेदि? जो पुण्ण-णिद्दोसो होदि, णियम्हि सिविणे वि णो होदि दोसो, सो कुज्जा समिक्खं। जदि सगदोसा असीमा, पुण पर-समिक्खाए किं अहिगारो? अणहिकद-चेट्ठं अवराहं च पडिवज्जेहि।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

होती। देख, तू कितनी समीक्षा का पात्र है। अपने ऊपर यदि समीक्षा करने बैठेगा तो ध्यान रख, दर्जनों ग्रंथ लिख जाएँगे। गुरु-द्रोही क्या सच्चा मुमुक्षु हो सकता है ? क्या एकल बिहारी सच्चा साधक पंचमकाल में हो सकता है ? क्या एकल-बिहार जिनदेव की आज्ञा है ? क्या बिना साधक के श्रावक-धर्म चल सकता है, व्यवहार धर्म-प्रभावना हो सकती है ? क्या जो दोष समीक्षा करते समय दूसरे के अंदर देखे जाते हैं, उस समय समीक्षक अपने अंदर झाँक कर भी देखता है ? समीक्षा वही कर सकता है, जो पूर्ण निर्दोष हो, निज के अंदर स्वप्न में भी दोष न हो। यदि स्वयं के दोष असीम हैं, तो पर की समीक्षा करने का क्या अधिकार है ? अनधिकृत चेष्टा है अपराध है, उसे स्वीकार कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

आदबली चरेदि चारित्त-पहे

विण्णप्पा! आदुण्णदीए आदधम्मं पडि उस्साहो आवस्सगो। उस्साहेणं विणा माणवजीवणं मिदग-सरिसं। उस्साहो देदि वुड्ढं पि जुवासत्तिं। णिरासा-उस्साहहीणत्तं च विउलदोसो। आद-णिब्बलो हीणदीणत्त-जीवणं जीवेदि तहा होदि उज्जम-सुण्णो। तस्स जीवणं होदि परावलंबी। सो होदि पडिक्खणं अवमाण-अहेडो एवं होदि उहयलोए दुही। वट्टमाण-दुहाणि सपक्खिं, भविस्से परमट्ठपहे गमणट्ठं कोवि विचारो णत्थि। चरित्त-मग्गे आदबली चरेदि। किमु णो देहं थूलं पि, जदि आदसत्ती दुब्बला पुण देह-थूलत्तं अकज्जकारं। जो पव्वदस्स लहु-गिरिं णो आरुहेदि, सो कहं आरुहेदि सुमेरु-वेणीए तेलुक्क-चूडामणी-सिद्धसिलाए य? भो णाणी! कुणेहि

आत्मबली ही चारित्र के पथ पर चल सकता है

हे विज्ञात्मन्! आत्मोन्नति के लिए आत्म-धर्म के प्रति उत्साह का होना अनिवार्य है। बिना उत्साह के मानव-जीवन मृतक-तुल्य है। उत्साह वृद्ध को भी युवा-शक्ति प्रदान कर देता है। निराशा, उत्साहहीनता बड़ी बुराई है। जो आत्म-निर्बल है, वह व्यक्ति हीनतादीनता का जीवन जीता है, पुरुषार्थ-शून्य हुआ करता है। उसका जीवन परावलंबी बन जाता है। वह प्रतिक्षण अपमान, अवहेलना का शिकार बना रहता है। उभय लोक में दुःखी बन जाता है। वर्तमान के दुःख सामने हैं, भविष्य में परमार्थ-पथ पर चलने के लिए कोई विचार नहीं दिखते। चारित्त-मार्ग पर भी वही चल सकता है जो आत्मबली होता है। शरीर-स्थूल भी क्यों न हो, यदि आत्मशक्ति कमजोर है तो शरीर की स्थूलता भी कोई काम की नहीं है। जो व्यक्ति पर्वत की छोटी-सी गिरि नहीं चढ़ पा रहा है वह सुमेरु की चोटी तथा त्रैलोक्य-

आदबल-संचारं। तुज्झम्हि णंत-गुणप्पगसत्ती विज्जमाणा, तं जग्गेहि। णिब्बलत्तं विसज्जेहि, तुमं सव्व-सत्तिमाणो भगवं-अप्पा। अण्णाण-तमेणं णिय-चेयण्ण-पहुं विसरेसि तुमं। भो णाणी! तुव सव्वे इट्ठ-पियजणा संजोगरूवा। संजोगस्स वियोगो णियामगो इणमो असंकणीयो। अविणस्सर-चेयण्ण-पहु-भगवं- अप्पा तुमं। तुव सरूवं णंत-धम्मप्पगं। भो णाणी! परिचत्त मायं, कुण सुद्धज्झाणं, होज्जा तुव हिदं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

चूड़ामणी सिद्धशिला पर कैसे चढ़ सकता है ? भो ज्ञानी! उत्साह-शक्ति का संचार कर। तेरे अंदर अनंत-गुणात्मक शक्ति विराजमान है, उसे जागृत कर। निर्बलता का विसर्जन कर, तू सर्व शक्तिमान भगवान्-आत्मा है। तू अज्ञानता के अंधकार में निज चैतन्य प्रभु को भूला जा रहा है। भो ज्ञानी! सभी तेरे इष्ट/प्रियजन तो संयोगरूप हैं। संयोग का वियोग तो नियामक है, कोई शंका की बात नहीं है। तू अविनाशी, चैतन्य, प्रभु भगवान्-आत्मा है। अनंत-धर्मात्मक तेरा स्वरूप है। भो ज्ञानी! तू छल-कपट का परित्याग कर, शुद्ध ध्यान कर, तेरा भी कल्याण है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

कुण आदबल-संगहं

विण्णप्पा! सम्म-झाणसाहणा आदजागरण-उवायो। जावदिया णाणी-सुपुरिसा जादा, ते सव्वे झाणसाहणं किच्चा सिज्झेज्जा। णंता आदसत्ती। झाणेणं होदि आदसत्ति-संगहो। झाणेणं सगेणं सगमेलणं। जेणाइरिया झाण-मुक्खत्तेणं किदा साहणा-वक्खाणं। झाणमेव णिव्वाणहेदू। झाणेणं होदि चरमसाहणा। झाण-सिद्धीए खु सयल-बहि-साहणा। सारीरिग-साहणा-पबला होदु एवं णो झाण-साहणा, पुण सा कायकिलेस-तवपज्जंतं सीमिदा, सा केवलं देह-समो णवरि मूलोत्तर-गुण-पालणं चित्तस्स एयग्गट्ठं कीरदे। चित्त-चवलग-णिमित्तादो झाण-साहगं अवसप्पेज्जा। चित्त-संति-दायग-दव्वखेत्तकालभावाणं आसएज्जा। जेसिं सहवासदो विसयभोग-कसायभावा जग्गेंति, इंदिएसुं

आत्मशक्ति का संग्रह करो

हे विज्ञात्मन्! आत्म-जागरण का उपाय सम्यक् ध्यान-साधना है। जितने महामनीषी/ज्ञानी/सत्-पुरुष हुए हैं, वे सब ध्यान-साधना करके सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। आत्म-शक्ति अनंत है। ध्यान से आत्मशक्ति का संग्रह होता है, ध्यान से ही स्वयं से स्वयं का मिलन होता है। जैनाचार्यों ने ध्यान की प्रधानता से ही साधना का वर्णन किया है। ध्यान ही निर्वाण का हेतु है। अंतिम-साधना ध्यान से हुआ करती है। जितनी बाह्य साधना है, वह सब ध्यान की सिद्धि के लिए की जाती है। शारीरिक-साधना प्रबल हो और ध्यान-साधना शून्य, तो वह मात्र काय-क्लेश तप तक ही सीमित हो जाएगी, वह मात्र शरीर का श्रम होगा क्योंकि मूलोत्तर गुणों का पालन चित्त की एकाग्रता के लिए किया जाता है। ध्यान-साधक के लिए उन निमित्तों से पूर्ण दूर रहना चाहिए जो चित्त को चंचल बनानेवाले हैं। ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ही आश्रय लेना चाहिए जो चित्त को शांत करनेवाले हों। उन व्यक्तियों से संपर्क समाप्त कर देना चाहिए जिनके सहवास से विषय-भोग व कषाय-भाव जागृत होते हों, इंद्रियों में उत्तेजना उत्पन्न होती हो,

उत्तेयणा जाएदि, सयंतो विगारा जग्गेंति, तादु संपक्कं णिट्ठवेज्जा। अभक्खं अणुवसेवणिज्जं भक्खे वि, एरिसं भोज्ज-सामग्गिं पि णवि भुंजेज्जा। तेसिं दिस्समाण-पदत्थाणं पि मा पस्स, जेहिं कामुगत्तं जादेज्जा। मा पस्स इत्थि-पुरिस-णउंसग-पसूणं च मणोहर-अंगाणि। गुत्तकिरिया-चिंतणं इत्थि-मेत्त-चिंतणं च करेदि जीवस्स बंभसरूवघादं, पुणो संपक्को दंसणं च सीलविणासं कारेज्जा। कहं करेदि झाणं कुसीलसेवी? जेणं चित्त-सुद्धी विप्पणस्सेदि, तं वयणं ण दु सुणेहि णेव करेहि। वुड्ढपुरिस-संगदीए साहगस्स बंभचेर-पालणं णिद्दोसं होदि। जुवगेहिं सह सीलपालणं असंभवं। जुवा-जुवदि-देहादो जा गंध-उज्जा पवहेदि सा सील-रुक्ख-साहाओ पहावित्ता तं णासेदि। झाणी-साहगं णियदिट्ठिं णिए अहवा भूमीए कुज्जा। अहिग-णयणेहिं णयणाणि णवि मेलेहि। साहणासिद्धिं साहणा-विणासं च

सोते हुए विकार जागृत होते हों। ऐसी भोज्य-सामग्री का भी सेवन न करें, चाहे वह भक्ष्य भी क्यों न हो। अभक्ष्य सेवन तो करना ही नहीं। उन दृश्यमान पदार्थों को भी नहीं देखो जो कामुकता को जन्म देते हों। स्त्री-पुरुष, नपुंसक व पशुओं के मनोहर अंगों पर दृष्टिपात नहीं करो। गुप्त क्रिया का चिंतवन व स्त्री मात्र का चिंतवन व्यक्ति के ब्रह्म स्वरूप का घात कर देता है, फिर दर्शन व संपर्क तो शील का नाश ही करा देगा। कुशील-सेवी ध्यान कैसे कर सकता है ? वह बात न सुनो, न करो जिससे चित्त की शुद्धि समाप्त होती हो। साधक को वृद्ध पुरुषों के साथ रहने से ब्रह्मचर्य का पालन निर्दोष होता है। युवाओं के साथ रहकर शील का पालन असंभव है। युवा-युवतयों के शरीर से वह ऊर्जा/गंध प्रवहमान रहती है तो शीलरूपी वृक्ष की शाखाओं को प्रभावित कर उसे नष्ट कर देती है। ध्यान करनेवाले साधक को अपनी दृष्टि निज की ओर भूमिगत रखना चाहिए। अधिक किसी की आँखों से आँखें न मिलाए। आँखें ही साधना की सिद्धि करा देती हैं, आँखें ही साधना का नाश करा देती हैं। आँखों में छिपे हैं सभी रागरंग, वीतरागता के ढ़ंग। ध्याता के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य,

कारेंति लोयणाणि। सयल-रागरंगा वीदराग-पद्धदी वा लोयणेसुं लुक्केंति। मित्ति-पमोद-कारुण्ण-मज्झत्थ-पालणं झादस्स आवस्सगं। इंदिय-मण-दासत्तविरहिदो हु झादा। जस्स झाणस्स चित्तस्स एयग्गत्तं झेयं पंचपरमगुरु णियप्पा व तस्स झाणफलं संवर-णिज्जरा-मोक्खा। इदि आदविगासट्ठं करेहि सम्म-झाण-साहणं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

माध्यस्थ-भाव का पालन करना अनिवार्य ही है। ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल ये चार बातें जानना आवश्यक है। ध्याता वही हो सकता हैं जो इंद्रिय व मन की दासता से रहित हो, अर्थात् जिसने इंद्रिय व मन को वश में कर लिया हो। जिसके ध्यान/चित्त की एकाग्रता है, ध्येय पंच-परमेष्ठी व स्वात्मा है, उसके ध्यान का फल संवर, निर्जरा व मोक्ष है। इस प्रकार सम्यक् ध्यान की साधना कर, आत्मविश्वास हेतु।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भारदीय-सक्किदीए विघादगा अणप्पविगास-सिक्खा

विण्णप्पा! वट्टमाणे जावदु बुद्धि-विगासो होदि, तावदु आदविगास-पदणं होदि। बुद्धि-विगासं विणा णो आदविगासो, इदं सच्चं। केवलं बुद्धि-विगासो आदविगास-कारणं णत्थि। संपडी जीवो बुद्धिविगास-फड्डारदो एवं उद्देस्सो भोदिगत्त-विलासित्त-पुत्ती। बुद्धि-विगास-विहूणो णो लहेदि तावदियं भोदिगत्तं विलासित्तं च। वट्टमाण-सिक्खा वि एरिसा। केवलं वट्टमाण-पज्जाय-विसए वक्खाणं होदि। अणाचारे अणीदीए वि सुही-जीवणं उद्देस्सो। परमट्ठ-आदविगास-सुण्णसिक्खा भारदीय-सक्किदि-विघादगा। किं इमा कुसिक्खा आगामी-सुहं दिज्जा? वट्टमाणे दिस्समाणो धम्म-धम्मिगं पडि मादु-

आत्मविकास-रहित शिक्षा भारतीय-संस्कृति के लिए विघातक

हे विज्ञात्मन्! आत्मविकास वर्तमान में उतना ही पतन की ओर जा रहा है जितना ज्यादा बुद्धि का विकास होते दिखाई दे रहा है। बुद्धि-विकास के बिना आत्मविकास नहीं हो सकेगा, यही भी सत्य है। परंतु मात्र बुद्धि-विकास आत्म-विकास का कारण नहीं है। वर्तमान में व्यक्ति बुद्धि-विकास की स्पर्द्धा में संलग्न है। उद्देश्य है भौतिकता और विलासिता की पूर्ति; क्योंकि बुद्धि-विकासहीन व्यक्ति उतनी विलासिता व भौतिकता को हासिल नहीं कर पाता। वर्तमान की शिक्षा भी ऐसी ही दी जा रही है। मात्र वर्तमान पर्याय (जीवन) को चलाने की बात बताई जा रही है। चाहे अनाचार हो या अत्याचार, पर सुखी-जीवन जीना उद्देश्य है। परमार्थ-आत्मविकास-शून्य शिक्षा भारतीय संस्कृति की विघातक है। यह कुशिक्षा आगामी सुख क्या प्रदान करेगी, यह बात दूर की है। वर्तमान में ही

पिदु-परिवारं पडि कहं ववहारो? बुभुक्खा-वड्ढग-बुद्धिविगाससिक्खा गदिमाणा। णो उदर-बुभुक्खा, सा दु थोवा। उदर-पूरणट्ठं विउलकज्जं णो करेदि, पेडिगा-पूरणट्ठं विउलकज्जं करेदि। माणुसो हि माणुस-घादगो होदि। माण-सम्माण-पदपदिट्ठा-लोएसणा-बुभुक्खादो असंतदो संतपज्जंतं दुही। ताए समण-उज्जमे पडिक्खणं णस्सेदि। आदविगास-उद्देस्सदो णिज्जंत-जीवो बुद्धिविगास-चरिचासुं सग-जीवणं णासेदि, इदं विचिंतणिज्जं। भो णाणी! बुद्धिविगास-उद्देस्सो आदविगासं कुज्जा, इमत्तो णो भव-हाणी।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

देखा जा रहा है कि धर्म-धर्मात्माओं के प्रति आदर/विनय; माता-पिता, परिवार के प्रति कैसा व्यवहार है ? भूख बढ़ाने वाली बुद्धि-विकास की शिक्षा चल रही है। पेट की भूख नहीं, वह तो बहुत-थोड़ी होती है। पेट भरने के लिए बहुत कुछ नहीं करना पड़ता है, परंतु पेटी भरने के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है। मनुष्य ही मनुष्य का घातक बन रहा है। मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, लोकेषणा की भूख से असंत से लेकर संत तक त्रस्त हैं। उसी के शमन प्रयास में प्रति-पल व्यतीत हो रहा है। आत्मविकास के उद्देश्य से निकलनेवाला जीव बुद्धि-विकास की चर्चाओं में अपना जीवन व्यतीत करने में लग जाये, यह बात विचारणीय है। भो ज्ञानी! बुद्धि-विकास का उद्देश्य आत्मविकास ही रखना, इससे भव-हानि नहीं होगी।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अपत्त-कुपत्त-आराहणा देदि कुफलं

विण्णप्पा! जहा बीयं भूमि-अणुरूवं होदि फलवंतं। उव्वरा भूमीए ठिदबीयं उप्पादेदि वरं सस्सं, मज्झम-भूमीए मज्झम-सस्सं एवं ऊसर-भूमीए ठिदं वरबीयं च सस्सं णवि उप्पादेदि। जहा णिमित्ताणि तहेव उवादाणं परिणमेदि। जोग्ग-उवादाणो वि हीण-णिमित्तेणं फलं हीणं होदि। दुब्बल-जणग-जणणीणं संताणो वि दुब्बलो, इदं पच्चक्खे दिस्समाणं। जीए भूमीए उत्तम-उव्वरग-अभावो, णं बीयं वरं खिवेज्जा, तं सस्सं णो होदि विसेसं। तहेव भो अप्पा! उत्तमपत्त-लाहे वि जदि जीवस्स भावा असुहा, पुण फलं पि असुहं। तत्थ पत्तो किचणं पि णो करिस्सदि। अवरदिट्ठीए उत्तम-पत्त-आराहणादो उत्तमफल-लाहो, मज्झमपत्त-आराहणादो मज्झम-फल-लाहो एवं जहण्णपत्त-आराहणादो जहण्ण-फल-लाहो। एत्थ जीवदव्वं अप्पणो सुद्ध-परिणदी, भूदल-पत्तो य। करेहि उत्तमपत्त-आराहणं। अपत्त-कुपत्त-आराहणं देदि कुफलं। भो णाणघण-अप्पा! जत्थ घोरदुक्खसमूहो अहोणिसं विसप्पेदि, जत्थ किंचिवि संती णत्थि; एरिसं णरगणिगोद-कारणभूदं असुहकज्जं तुमं झत्ति चत्तेहि। एदाणि असुह-किच्चाणि वट्टमाणे महुर-अणुहवं कारेंति, किण्णु णूणं होंति किंपाग-फलमिव। 'भोगा समीचीणा, भव-रोग-वड्ढगा, लोगस्स वेरी वा', इदं वयणं पडिक्खणं गाएज्जा। पुण्ण-चरिचा-वत्ता-किरियं च किच्चा पुण्णं संचएहि, पुण्णरूवं दिस्सं पस्स। इमेसिं विवरीदं मा कुण किंपि कज्जं। तुव अप्पा अज्जपज्जंतं भवण्णवे असुहकम्मेहिं हिंडेदि। जदि अहुणा वि णो जग्गेहि पुण पुरदो कल्लाण-संभावणा णत्थि। चेयण्ण! णियम्हि करेहि करुणं, करेहि असुह-भाव-विसज्जणं च।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

अपात्र/कुपात्र की आराधना कुफल को प्रदान करती है

हे विज्ञात्मन्! जैसे एक ही बीज भूमि के अनुसार फलवत् होता है। उर्वरा भूमि में पड़ा बीज श्रेष्ठ फसल को पैदा करता है, मध्यम-भूमि में मध्यम फसल को और ऊसर भूमि में डाला गया श्रेष्ठ बीज भी धान्य को पैदा नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे निमित्त होते हैं, वैसा ही उपादान भी परिणमन करता है। उपादान में योग्यता होने पर भी निमित्त की हीनता से वह हीन-फल-वाला होता है। प्रत्यक्ष ही दिख जाता है कि कमजोर/दुर्बल माता-पिता की संतान भी दुर्बल होती है। जिस भूमि में उत्तम खाद का प्रयोग न किया गया हो, पर बीज उत्तम डाला गया हो, वह फसल उतनी विशेष नहीं होती। इसी प्रकार, भो आत्मन्! उत्तम पात्र की प्राप्ति होने पर भी यदि जीव के भाव अशुभ रहे तो फल अशुभ ही होगा। वहाँ पात्र कुछ नहीं कर सकेगा। दूसरी दृष्टि से, उत्तम पात्र की आराधना से उत्तम फल, मध्यम की आराधना से मध्यम फल और जघन्य की आराधना से जघन्य फल मिला करता है। यहाँ जीवद्रव्य आत्मा की शुद्ध परिणति है, भूमि पात्र है। उत्तम पात्रों की आराधना कर। अपात्र/कुपात्र की आराधना कुफल को ही प्रदान करेगी। भो ज्ञानघन आत्मन्! घनघोर दुःखों का समूह जहाँ अहर्निश व्याप्त रहता है, क्षण मात्र भी शांति की श्वास नहीं जहाँ, ऐसे नरक/निगोद के कारण भूत अशुभ कार्य तू तत्क्षण छोड़ दे। ये अशुभ कृत्य यहाँ पर वर्तमान में स्वादिष्ट अनुभव अवश्य कराते हैं, पर वास्तव में किंपाक-फलवत् ही हैं। 'भोग बुरे, भव-रोग बढ़ावें, बैरी हैं जग जी के' इस पंक्ति को प्रतिक्षण गुनगुना लिया कर। पुण्य-चर्चा/वार्ता, पुण्य-क्रिया करके पुण्य संग्रहित कर, पुण्यरूप ही दृश्य देख। इनके विपरीत कोई कार्य मत कर। ध्यान रख, तेरी भगवान् आत्मा इस भवार्णव में अभी तक अशुभ कर्मों के कारण ही भटकी है। यदि अभी भी नहीं चेता तो आगे पार होने की कोई संभावना नहीं दिखती। चेत चैतन्य! कर ले निज पर जरा-सी-करुणा, अशुभ भावों का विसर्जन कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

परगुण-गायगो सज्जणो

विण्णप्पा! साहुत्तं पुव्विं होदव्वं सज्जणत्तं। साहु-पुरिस-उवासणा तदेव सत्थगा जदा सज्जणत्तं जम्मेदि। सज्जणदा-अभावे उत्तमसाहणा वि णो होदि कित्ति-भायणं। सज्जणस्स अप्पसाहणा वि जस-सिहरे ठवेदि। दुज्जणत्तेणं दुज्जणस्स सयलधम्मा होंति गउणा। सज्जणो णिद्धणो होदूणं पि धणिगो। दुज्जणो धणिगो वि णिद्धण-समो। जस्स गहे णो साहु-पवेसो तस्स धणिग-पज्जायो विहा। दुज्जण-संपत्ती सीह-मुहत्थ-मणिमुत्ता-सरिसा। कोहिद-सप्पमुहे अंगुलिदाणं वरं, पज्जलिद-अग्गि-पवेसो वरो, कालकूडविस-सेवणं वरं, णं णाणीसुं विवत्तिदाणं, दुज्जणत्त-ववहारो, दुट्ठसंगदी वा अवरा। सहजत्तं सरलत्तं सज्जणत्तं च कित्ति-जणणी। अवीसासो

सज्जन वह जो दूसरों का गुणगान करे

हे विज्ञात्मन्! साधु बनने के पूर्व सज्जन बनना अनिवार्य है। साधु-पुरुष की उपासना तभी सार्थक होती है जब सज्जनता का जन्म होता है। जिसके पास सज्जनता नहीं है, वह कितनी भी श्रेष्ठ साधना क्यों न करता हो, कीर्ति का भोजन नहीं कर पाता है। सज्जन पुरुष की अल्प-साधना यश के शिखर पर रख देती है। दुर्जन के सभी धर्म गौण हो जाते हैं एक दुर्जनता के कारण। सज्जन नर निर्धन होकर भी धनी है। दुर्जन धनी भी निर्धन-तुल्य है। जिसके घर साधु न आयें, वह धनी किस काम का? दुर्जन की संपत्ति सिंह के मुख में रखे मणि-मोतियों के तुल्य है। क्रोधित हुए सर्प के मुख में अंगुली देना श्रेष्ठ है, प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर जाना अच्छा है, कालकूट विष खा लेना उत्तम है, परंतु ज्ञानी जीवों पर विपत्तियों का ढाना, दुर्जनता का व्यवहार करना व दुष्टों की संगति करना उत्तम नहीं है। सहजता, सरलता, सज्जनता ही कीर्ति की जननी है; दुर्जनता, अविश्वास अपयश की माता है। जो व्यक्ति दुर्जनता से यश,

दुज्जणत्तं च अवजस-जणणी। जे इच्छेंति दुज्जणत्तेणं जस-कित्ति-संपत्तीओ अण्णा णियभत्तो करेज्जा; ते अग्गिकुंडे कमलं, बंझा-इत्थि-पुत्तस्स उवहारे आगास-पुप्फदाणं च इच्छेंति। दुज्जणत्ते केई वि उत्तमा गुणा णो फुड्डेंति। सज्जण-पुरिसस्स अहिणाणं सदो होदि। सप्पुरिस-चारित्तं णिद्दोसं होदि, सुसीलं हि तेसिं पाणो। पाणत्तो अहिग-रक्खा ते णिय-पदिण्णाए करेंति। कदावि अवर-दोसा णवि उब्भावेंति। सज्जणो जीवत्थ-थोव-गुणाणं पि अहोणिसं पसादेंति, इदं तस्स लहुत्तं पहुत्तं च। जो करेदि अवर-गुण-कित्तणं, सो सव्वसेट्ठ-सज्जणो। सज्जणा अवर-वेहवं दट्ठूणं संतोसं धारेंति, ईसं णवि करेंति। ते अवर-दुक्खाणि दट्ठूणं खुब्भेंति, सुहं दट्ठूणं उल्लसेंति। णिएणं कदावि णिय-पसंसं णो करेंति, सग-पसंसं सुणित्ता जीहेंति विणीदभावं च

कीर्ति, संपत्ति चाहते हैं, दूसरों को अपना बनाना चाहते हैं, वे अग्निकुण्ड में कमल खिलाना चाहते हैं, बांझ स्त्री के पुत्र के लिए भेट में आकाश-पुष्पों को देना चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि दुर्जनता में कोई भी उत्तम गुण प्रकट नहीं हुआ करते। सज्जन पुरुष की पहचान करना नहीं पड़ती, स्वतः हो जाया करती है। सत्पुरुषों का चारित्र निर्दोष होता है, सत्शील ही उनका प्राण हुआ करता है। प्राणों से ज्यादा रक्षा वे अपने प्रण की किया करते हैं। कभी भी दूसरे के दोषों को प्रकट नहीं करते। सज्जन पुरुष किसी व्यक्ति के अन्दर अल्प गुण भी हो तो उनकी रात-दिन प्रशंसा किया करते हैं; उसकी सबसे बड़ी लघुता या प्रभुता कहें, जो व्यक्ति दूसरे के गुणों का कीर्तन करता है, वह सर्वश्रेष्ठ सज्जन है। सज्जन पुरुष दूसरे का वैभव देखकर ईर्ष्या नहीं करते, अपितु संतोष को धारण करते हैं। वे दूसरों के दुःखों को देखकर दुःखी होते हैं, सुख को देखकर खुश होते हैं। निज के द्वारा कभी भी स्वयं की प्रशंसा नहीं करते, स्व प्रशंसा सुनकर प्रमुदित नहीं अपितु लज्जा को प्राप्त होते हैं, विनीत-भाव को प्राप्त होते हैं। विषमताओं-उपसर्गों के आने पर

भजेंति किंदु णवि पसीदेंति। विसमदा-उवसग्गेसुं च सील-णायणीदि-णियधम्मचागं च णो करेंति। विवत्तीओ धिज्जेणं गेज्झेंति। जोग्ग-आचरण-सकत्तव्व-उवेक्खं च णवि करेंति। अण्णेणं कडुववहारे वि महुर-उत्तरं देंति। सज्जण-सहावो होदि गुणण्णेसी ण दु छिद्दण्णेसी। इमत्तो विवरीदा दुज्जणा। भो चेयण्ण! सज्जणत्तेणं करेहि अप्प-जीवण-सिगारिदं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

अपने शील का, न्यायनीति का, निज-धर्म का परित्याग नहीं करते हैं। संकटों को धैर्य के साथ स्वीकारते हैं। योग्य आचरण व स्व-कर्त्तव्य की कभी उपेक्षा नहीं करते हैं। पर के द्वारा कटु व्यवहार करने पर भी मधुर उत्तर ही देते हैं। सज्जनों का स्वभाव छिद्रान्वेषी नहीं, गुणान्वेषी हुआ करता है। दुर्जन इससे पूर्ण विपरीत होते हैं। भो चैतन्य! सज्जनता से अपने जीवन को शृंगारित रखना।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णस्सरट्ठं मा कुण अणस्सर-विघादं

विण्णप्पा! पासाणं विभंजेदूणं सीयलणीर-पगासण-सामत्थं माणुसम्हि, किंदु अच्छेरं तुज्झम्हि विज्जमाणो णियप्पदेवो मोह-पासाणादो अच्छादिदो, तं किमु णो उग्घाडेसि? रे मूढ! केवचिरं पिंजरम्हि मीलेज्जा? सीहो पिंजरम्हि वसेदि, पुण पिंजरं अभिट्ठं णो गेण्हेदि। पडिक्खणं पिंजरदो णिग्गमण-उज्जमं करेदि। कदावि पिंजरस्स सक्कार-सिंगारं च णो करेदि। अण्णो मोही-जीवो जम्हि पिंजरम्हि पिहिदो, तादो णिग्गमण-चिंतणं णो करेदि, अपित्त पिंजरस्स सक्कार-सिंगारं च करेदि, तं मण्णेदि णिय-णिवास-ट्ठाणं च। किंचिवि असम्माण-दिट्ठीदो दंसणे कोहग्गीदो संदुड्ढेदि। भो णाणी! किं तुमं णो जाणेसि जस्स सम्माणो तं जडं, तेणं जडेणं

नश्वर के लिए अनश्वर का विघात मत कर

हे विज्ञात्मन्! पाषाण को भेद कर शीतल नीर प्रकट करने का सामर्थ्य मनुष्य के अन्दर है, परंतु आश्चर्य है कि तेरे अन्दर विराजमान स्वात्मप्रभु मोह के पाषाण से ढँके हुए हैं उन्हें क्यों नहीं प्रकट करता ? रे मूढ़! पिंजड़े में कब तक फँसा रहेगा ? एक सिंह पिजड़े के अन्दर रहता है, पर पिंजड़े को अपना अभीष्ट नहीं स्वीकारता। प्रतिक्षण पिंजड़े से बाहर निकलने का पुरुषार्थ करता है। कभी भी पिंजड़े का शृंगार-सत्कार नहीं करता है। परंतु यह मोही प्राणी कितना अज्ञ बन रहा है कि जिस पिंजड़े में बंधा है उस पिंजड़े से निकलने का विचार तो पृथक् है, परंतु उल्टा पिंजड़े का शृंगार-सत्कार ही कर रहा है, उसे निज निवास-स्थान मान बैठा है। यदि किसी ने जरा असम्मान की दृष्टि से देख लिया तो वहीं क्रोधानल से झुलसने लगता है। परंतु भो ज्ञानी! तुझे क्या भान नहीं है कि जिसका सम्मान होना था, वह जड़ था उस जड़ के पीछे तू चैतन्य आत्मधर्म 'क्षमा' का हनन कर रहा है। जिसका सम्मान तुझे जगत्-पूज्य बनाता है, वह क्षमा-धर्म है।

तुमं चेयण्ण-आदधम्म-खमाए विद्धंसेसि। खमाधम्मस्स सम्माणं तुमं करेसि विस्सपुज्जो। किच्चा कोहं तुमं किदो खमा-अणादरं। णो केवलं खमा-अविणयं जिणदेव-अणादरं चावि किदो। भो भव्वप्पा! मा कुणेहि कोहादि-कसायं, इणमो जाण भवभमण-कारणं। तुमं जिणवरस्स आणं णो गेज्झेसि, कोहं करेसि, एवमेव जिणदेवस्स अविणयो। जदा तुमं सम्माण-बुभुक्खा पीडेज्जा, तेणं कोहो जादेज्जा, तदा किंचि समयस्स णेत्तं मीलिय अत्थिं सुमरेज्जा। जेणं तुमं कसायं कुणेसि तस्स होदि भस्सं। इमेणं रागेणं कुणेसि आद-विघादं च। भो णाणी! इमं अण्णाण-अवत्थं चत्तिय जाणेहि सद-सरूवं, कुणेहि असच्चजीवण-सेली-विसज्जणं च।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

क्रोध करके तूने क्षमा-धर्म का अनादर किया है। क्षमा का अविनय ही नहीं, जिनदेव की अवज्ञा भी की है। भो भव्यात्मन्! तू क्रोधादि कषाय मत कर, यह संसार भव-भ्रमण का कारण है, ऐसा समझ। परंतु तू जिनवर देव की आज्ञा स्वीकार नहीं कर रहा है, क्रोध कर रहा है, यही तो जिनदेव का अविनय है। जब तुझे सम्मान की भूख सताने लगे, उसके पीछे क्रोध भड़कने लगे, उस समय एक मिनिट के लिए नेत्र बन्द कर अपनी अर्थी/चिता का स्मरण कर लेना। जिसके पीछे तू कषाय कर रहा है उसकी राख बन गई। इस राख के पीछे भगवान्-आत्मा का विघात कर रहा है। भो ज्ञानी! इस अज्ञान-दशा को त्यागकर सत्-स्वरूप को समझ, असत्य जीवन जीने की शैली का विसर्जन कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

वंछा-सप्पिणिं दूरदो मुंच

विण्णप्पा! कोमलं कमलवणं जाला संदुट्ठेदि। आदसरोवरे विगसिदाणि संजमचारित्त-कमलाणि वंछं संदुट्ठेदि। जीवस्स आकंखाओ सच्चं असच्चरूवे पस्सेंति। आकंखाओ संजमं करेंति समलं। आकंखाओ बंभणासं कारेंति। अबंभसिहरे खंजं पि आरूढेदि। अण्णाणत्त-पढमसोवाण-आकंखाओ धम्मजड-विणासं कारेंति। णीदि-दया-पुप्फलदाओ णासेदुं आकंखाओ मदुम्मत्त-कुंजरो। मज्जादा-तडं णासेदुं आकंखाओ वज्जवादो। सुहमण-हंसं मारेदुं आकंखाओ धणु-वाणं च। आकंखा-सरिदाए विउल-संत-कुंजरा वि पवहीअ, पुणो किं सामण्ण-तुच्छजीव-वक्खाणं? भो णाणी! वंछा-सप्पिणिं दूरदो मुंच।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

आकांक्षारूपी नागिन को दूर से ही छोड़

हे विज्ञात्मन्! कोमल कमल-वन को जलानेवाली ज्वाला हुआ करती है। आत्म-सरोवर में खिले संयम-चारित्ररूपी कमला को जलाने वाली ज्वाला है आकांक्षा। व्यक्ति की आकांक्षाएँ सत्य का असत्य के रूप में देखती है। आकांक्षाएँ संयम को समल बना देती हैं। आकांक्षाएँ ब्रह्म का नाश करा देती हैं। अब्रह्म के शिखर पर लंगड़े को भी चढ़ा देती है। अज्ञानता की प्रथम सीढ़ी की आकांक्षाएँ धर्मरूपी जड़ को नष्ट करा देती है। आकांक्षाएँ नीति, दया की पुष्पलताओं को क्षत-विक्षत करने के लिए मदोन्मत्त कुञ्जर हैं। ये आकांक्षाएँ मर्यादारूपी तट को नष्ट करने के लिए वज्रपात हैं। ये आकांक्षाएँ शुभ मनरूपी हंस को मारने के लिए धनुष-बाण हैं। आकांक्षाओं की सरिता में बड़े-बड़े सन्तरूपी हाथी भी बह गए, फिर सामान्य तुच्छ प्राणियों की क्या बात है ? भो ज्ञानी! आकांक्षारूपी नागिन को तू दूर से ही छोड़ दे।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अप्पत्थी झत्ति मुयदु दुट्ठसंगदिं

विण्णप्पा! गुणीजण-संग-णिवासदो अणेग-गुणा सयमेव फुड्डेंति। गुणवंत-संसग्गेणं सग्गुण-वड्ढी, णिद्दोस-सील-संजम-पालणं, मणस्स चंचल-वित्ति-णिरोहो, दुट्ठचिंतण-अभावो, कुभासण-कुकम्मादो रक्खणं च होदि। गुणवंता होंति सायरमिव गंभीरा, आगासमिव णिल्लेवा हंसवित्ति-वंता य। परणिंदाए आणंदं णो मण्णेंति, परालोयणाए मूगा होंति, अधम्मायदण-गमणस्स पंगू होंति, कुविचार-करणट्ठं मंदबुद्धी होंति, कुमग्ग-गमणट्ठं अंधसमा होंति। परणारीए सग्गुणी णउंसगा होंति। इच्चादि-गुणाणं सामी सग्गुणी होंति। तं जहा पवयणसारे-

तम्हा सम्मं गुणादो, समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं, इच्छदि जदि दुक्ख-परिमोक्खं।।

आत्मार्थी शीघ्र त्यागे दुष्टों की संगति

हे विज्ञात्मन्! गुणीजनों के संग निवास से अनेक गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। गुणवानों के संसर्ग से सद्गुणों में वृद्धि होती है। शील, संयम का पालन निर्दोष होता है। मन की चंचल-वृत्ति का निरोध होता है। कुभाषण, कुकर्म से रक्षा होती है। दुष्ट चिन्तवन नहीं होता है। गुणवान् व्यक्ति सागर-जैसे गंभीर, आकाश-जैसे निर्लेप, हंसवृत्तिवाले होते हैं। पर-निन्दा में आनन्द नहीं लेते, पर-आलोचना के लिए मूक होते हैं, अधर्मायतन पर जाने के लिए पंगु होते हैं, कुविचार करने के लिए मंदबुद्धि होते हैं, कुमार्ग पर चलने के लिए अन्ध-तुल्य होते हैं। पर-नारी के लिए सद्गुणी व्यक्ति नपुंसक होता है। इत्यादि गुणों का स्वामी जीव सद्गुणी हुआ करता है। कुन्दकुन्दस्वामी ने 'प्रवचनसार' में गुणी की संगति करने के लिए बहुत सुन्दर प्रेरणा दी है। उन्होंने कहा है कि-'इस कारण से अर्थात् आग के संबंध से जल की तरह मुनि भी लौकिक की कुसंगति से असंयमी हो जाता है। इसलिए कुसंगति को त्यागकर उत्तम-मुनि यदि दुःख से मुक्त

जहा सीयलगहे सीयलजलट्ठावणादो सीयलगुणरक्खा होदि, तं सलिलं होदि अदिसीयलं, तहेव गुणाहिग-पुरिस-संगदीए गुणा वड्ढेंति। तम्हा सुसंगो जोग्गो। जो दुब्बुद्धी गुणी-संगदिं मोत्तूणं करेदि हिदभावणं, सो इच्छेदि दयं विणा धम्मं, णायमग्ग-चुदादो जसं, पमादी होदूणं धणं, पडिहारहिदादो कव्वरयणं, णेत्तविहूणो होदूणं दप्पण-दंसणं च। किं एदाणि सव्वाणि संभवाणि? जदि णेव, पुणो सग्गुणी-संगदिं विणा कहं होदि मोक्खमग्गी? कहं दुज्जणसंगदि-फलं होदि, इदं आइरिया दिव्व-दिट्ठंतेहिं पण्णत्तं। णिग्गुण-संगदी महिमाकमलं णासेदुं वाउसमा कुबुद्धि-अग्गिं पज्जलेदुं कट्ठसमा। दुट्ठजण-हीण-चरित्तवंत-संगदी णिस्सेस-विणास-कारणं। तम्हा सज्जणा कालकूड-विसमिव दुट्ठसंगदिं दूरदो मुंचेज्जा।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

होना चाहते हैं तो गुणों में अपने समान अथवा गुणों में अपने से अधिक की संगति में निवास करें, अन्य की संगति में नहीं।'

जैसे शीतल घर के कोने में शीतल जल के रखने से शीतल गुण की रक्षा होती है, वह जल अतिशीतल हो जाता है, उसी तरह गुणाधिक पुरुष की संगति से गुण बढ़ जाते हैं। इसलिए सत्संग करना योग्य है। जो दुर्बुद्धि-जीव गुणी-पुरुषों की संगति छोड़कर कल्याण की भावना करता है, वह दया के बिना धर्म चाहता है, न्याय-मार्ग से च्युत होकर यश चाहता है, प्रमादी बनकर धन चाहता है, प्रतिभा से रहित होकर काव्य रचना चाहता है, नेत्रविहीन होकर दर्पण देखना चाहता है। क्या ये सब बातें संभव है? यदि नहीं, तो फिर सद्गुणी की संगति के बिना मोक्षमार्गी कैसे बन सकता है? दुर्जनों की संगति का परिणाम कैसा होता है, इसे आचार्य भगवन्तों ने बहुत ही सुन्दर दृष्टान्तों के द्वारा समझाया है। निर्गुणी की संगति महिमा रूपी कमल को नष्ट करने के लिए वायुतुल्य है, कुबुद्धि-रूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए लकड़ी के समान है। कहने का तात्पर्य यह है कि दुष्टजनों और हीन-चारित्रवान की संगति संपूर्ण विनाश का ही कारण है, इसलिए सज्जन पुरुषों को कालकूट विष के समान दुष्टों की संगति दूर से ही छोड़ देना चाहिए।।

कम्मलुंचणट्ठं केसलुंचणं

विण्णप्पा! दियंबरसमण-चरिया वट्टमाणे लोह वि तावदिया पुज्जत्तं पत्ता जावदिया भूदे। जेणी-वित्तिं सुणिदूणं जणसामण्णा अंगुलिं मुहे चंपेंति। अहो! अज्ज वि एरिसे काले जत्थ जीवो अण्ण-कीडो, तत्थ पुरिसा जिणदेव-मग्गे संचरेंति। तदा वि अच्छेरं होदि, जदा केसलोच-किरिया-दिस्सं दीसेदि। तिणमिव सुंदरकेसा उप्पाडित्तु खिव्वदे, इदं देहं पडि णिम्ममत्तस्स उक्किट्ठ-दिट्ठंतं। केसलोच-सरिस-साहणा-उवरंतं पि जदि साहगचित्ते विसय-लिच्छाओ खादि-पूया-भावणा होदू, पुण होदि विउल-अच्छेरं। कुंदकुंददेवस्स वाणी मिदीए आगच्छेदि। पुव्वं हत्थ-पाय-मण-वयण-काय-मुंडणं, पच्छा सिर-मुंडणं होदव्वं। सिरमुंडणं सुगमं, मेत्तं सिरमुंडणाओ

कर्मलुंचन के लिए होता है केशलुंचन

हे विज्ञात्मन्! दिगंबर साधु की चर्या वर्तमान में भी लोक में उतनी ही पूज्यता को प्राप्त है जितनी भूत में थी। जैनी-वृत्ति को सुनकर जन सामान्य अंगुली मुँह में दबाते हैं। ओह! आज भी ऐसे काल में जहाँ जीव अन्न का कीड़ा बना हुआ है, वहाँ जिनदेव के मार्ग पर चल रहे हैं पुरुष। तब और भी आश्चर्य का विषय बनता है, जब केशलोच की क्रिया का दृश्य सामने आता है। घास की भांति सुन्दर केशों को उखाड़कर फेंक दिया जाता है, वह शरीर के प्रति निर्मोह दशा का उत्कृष्ट उदाहरण है। केशलोच-जैसी साधना के उपरांत भी यदि साधक के चित्त में विषयों की लालसाओं व ख्याति, पूजा की भावना हो तो बहुत बड़ा आश्चर्य होता है। कुन्दकुन्द देव की वाणी याद आती है कि सर्वप्रथम हाथ, पैर, मन, वचन, काय का मुंडन होना चाहिए, तदुपरांत सिर का मुंडन। सिर-मुंडन तो बहुत सरल है, लेकिन

कज्जसिद्धी णत्थि। केसलुंचणं कम्मलुंचणट्ठं होदि, ण दु पूया-पदिट्ठाए।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

मात्र सिर-मुंडन से कार्य सिद्ध नहीं होगा। केशलुंचन कर्मलुंचन करने के लिए होता है, पूजा प्रतिष्ठा के लिए नहीं।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सप्पुरिस-आभरणाणि अलोगिगाणि

विण्णप्पा! सप्पुरिसस्स आभरणाणि होंति अलोगिगाणि संसारस्स मोहिद-जीवा बहि-आभरण-सोहाए अप्पसोहं मण्णेंति एवं संतपुरिसा बहि-आभरणाणि भारो मण्णेंति। णिरत्थग-परिग्गहं कट्ठकारं मण्णेंति। सग-हत्थादो दाणं, मत्थगादो गुरु-पाएसुं णमोयारो य तेसिं हत्थ-सिर-आभरणाणि। सच्चभासणं मुह-आभरणं, कण्णेहिं गुरुवयणं समयसवणं च कण्ण-आभरणं। पदादो तित्थ-वंदणा पाद-आभरणाणि। हिदयदो पवित्त-णिम्मल-चिंतणं, पंचपरमेट्ठी-आराहणा य हिदय-आभरणं। इमेहिं आभारणेहिं भूसिद-महापुरिसा आडंबर-विहूणा होदूणं पि सुंदरा संलक्खेंति, लोए पुज्जत्तं लाहेंति। भो चेयण्ण! इमेहिं आभरणेहिं कुणेहि अप्पं भूसिदं, तदेव होज्जा मुत्ति-पहिगो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

सत्पुरुषों के आभूषण अलौकिक हुआ करते हैं

हे विज्ञात्मन्! सत्पुरुषों के आभूषण अनोखे हुआ करता हैं। संसार के मोही-प्राणी बाह्य आभूषणों की शोभा से अपने आप की शोभा मानते हैं, पर संत-पुरुष बाह्य आभूषणों को भार मानते हैं। व्यर्थ के परिग्रह को कष्टकारक मानते हैं। अपने हाथों से दान देना, मस्तक से गुरु चरणों में नमस्कार करना, ये ही उनके हाथ और सिर के आभूषण हैं। सत्य बोलना मुख का आभूषण है तथा कर्णों से गुरु-वाणी/शास्त्र-श्रवण करना एक कर्ण-आभूषण है। पैरों से तीर्थ-वंदना करना पैरों के आभूषण हैं। हृदय से निर्मल/पवित्र चिन्तवन करना, पंचपरमेष्ठी की आराधना करना हृदय का आभूषण है। इस आभूषणों से भूषित महापुरुष आडंबर-विहीन होकर भी सुन्दर लगते हैं, लोक में पूज्यता को प्राप्त करते हैं। भो चैतन्य! तू इन्हीं आभूषणों से अपने आपको भूषित कर, तभी मुक्ति का पथिक बन सकेगा।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

संत-संजदस्स मुट्ठीए मोक्खो

विण्णप्पा! तुमं दुल्लहं माणवजम्मं पत्तो पुव्वभवाणं पुण्ण-कम्म-उवजीविगादो। कियत्तो उज्जोगो पुव्विं किदो, जेणं तुमं णरदेहं लहिदूणं उत्तमकुल-धम्म-देस-चरित्ताणि य भजेज्जा। पुणो वि इमेसिं मुल्लं णो किदो दु जो अमज्जिद-पत्तं परिक्किदट्ठं रयणाणं भस्सं करेदि, जारं ववणट्ठं चंदण-उज्जाणं णासिय भूमिं करिसेदि, सो हु वज्जमुक्खो तुमं जाण। एदाणि सव्वाणि महामुक्खाणं कज्जाणि। इदि कज्जकारं मुक्खो णत्थि, महामुक्खो एव जाणेहि। जो भोगाणं दुग्गंधिद-अवत्था रूव-णालीए माणव-पज्जायरूव-रयण-णिक्खेवणं करेदि, तं किं भासेज्जा? रे चेयण्ण! सो दु महामुक्खो एव। इदं असरीरी-कारमाणं पज्जायं मा विद्धंस। असरीरी-

संत/संयमी जीव की मुट्ठी में है मोक्ष

हे विज्ञात्मन्! तूने दुर्लभ मानव-जन्म को पूर्व-भवों के पुण्य-कर्म की कमाई से प्राप्त किया है। कितना पुरुषार्थ किया होगा जो कि श्रेष्ठ नर-देह को प्राप्त कर, उत्तम कुल, उत्तम धर्म, उत्तम देश, उत्तम चारित्र अर्थात् संपूर्ण श्रेष्ठतायें तुझे प्राप्त हुई हैं। फिर भी इनकी कीमत नहीं की तो ध्यान रख, वही वज्र-मूर्ख कहा जाएगा जो झूठे बरतन साफ करने के लिए रत्नों की राख बनाता है, ज्वार बोने के लिए चंदन के उद्यान को नष्ट कर भूमि जोतता है, खीर बनाने के लिए गाय के सींग से दूध निकालना है। ये सब महामूर्खों के कार्य हैं। इस प्रकार के कार्य करनेवाले को तू मूर्ख ही नहीं, महामूर्ख समझ। पर उसे क्या कहा जाएगा जो भागों की दुर्गन्धित अवस्था (जिसका नाम लेने से लज्जा आती है) रूप ऐसी नाली में मानव-पर्याय-रूप रत्न का निक्षेपण कर रहा हो। रे चैतन्य! वह तो महा-महामूर्ख ही है। न करो नष्ट इस अशरीरी बनानेवाली पर्याय को। एक मात्र अशरीरी बनानेवाली कोई पर्याय है तो वह नर-पर्याय ही है। अन्य

कारमाणो पज्जायो णर-पज्जायो एव। अण्ण-पज्जाएसुं णो संजमजोगो। णारगिणो संजमदंसणं पि णत्थि, तत्थ कहं संजमवयणं? तिरियं महा-अण्णाणेणं संजमभावा णो जायंति। विरला पुण्णवंता तिरिया हु अणुव्वदाणि धारेंति, पुण महव्वदाणि णवि गेज्झेंति। माणुसे वि सवर-जवण-भील-पहुदीसुं दिक्खा-अजोग्ग-कुले जादंतु ता वि महव्वदाणि णवि गेज्झेंति, वरागा घोरहिंसादि-कम्मं किच्चा दुग्गदिं भजेंति। दिक्खा-धारग-कुलेसुं जादूणं पि सव्वस्स भावा णो होंति विसुद्धा। जो संजम-भावजुदो संजद-जीवणं जीवेदि, तस्स मुट्ठीए मोक्खो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

पर्याय में संयम का योग ही नहीं। नारकी को संयम के दर्शन भी नहीं होते; वहाँ संयम की बात कहाँ ? तिर्यंच को महाअज्ञानता के कारण संयम के भाव उत्पन्न नहीं होते। कोई विरले पुण्यशाली तिर्यंच ही अणुव्रतों को धारण कर सकते हैं, पर महाव्रतों को स्वीकार नहीं कर सकते। मनुष्य में भी शवर, यवन, भील इत्यादि दीक्षा के अयोग्य कुल में उत्पन्न हो गए तो भी महाव्रतों को स्वीकार नहीं कर पाते, बेचारे घोर हिंसादि कर्म करके दुर्गति को प्राप्त होते हैं। दीक्षा-धारक कुलों में उत्पन्न होकर भी सभी के परिणाम विशुद्ध नहीं होते। जो संयम-परिणामों से युक्त होकर संयमी-जीवन व्यतीत करता है, उसकी मुट्ठी में मोक्ष है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सच्च-सिंहासणं उवरिं होदि

विण्णप्पा! असच्च-मेहा सच्चादिच्चं कदावि णो छादेंति। कियत्ता घणा मेहा आगासे होंतु, अदु आदिच्चो णो दीसेज्जा; एरिसा पदीदी वि होदि पुण मेहेसुं दिव्व-पयासपुंज-जोदिमय-आदिच्चं आवरण-सत्ती कत्तो। सच्चधम्मो सगम्हि महादिणगरो, जो कदावि असच्च-मेहेसुं णो लुक्केज्जा। असच्च-आसणं णियमेण पच्चुत्तरेदि। सच्चसिंहासणं आगासे हि वसेदि। माया-असच्च-परिणदी चिरं णो होदि। किट्टिम-पुप्फाणं किट्टिम-सुगंधा केवचिरं होदि? खणमेत्ते विप्पणस्सेदि। संसारे किंचणं जीवा माया-भत्तिं करेंति। बहिदो भत्ती दीसेदि, अब्भिंतरे ईसाजुदो होदि। ते बुज्झेंति वयं वक्कवित्तिं कोवि णो जाणेदि, पुण णाणी झात्ति जाणेदि। जहा उत्तम-

सत्य का सिंहासन ऊपर ही रहता है

हे विज्ञात्मन्! असत्य के बादल सत्य के सूर्य को कभी भी ढँक नहीं सकते। कितने ही घने बादल आकाश में हों, लगता है कि अब सूर्य दिखेगा ही नहीं, परंतु मेघों की ताकत कहाँ जो दिव्य प्रकाश-पुंज ज्योतिर्मय सूर्य को प्रकट न होने दें। सत्य धर्म अपने आप में महा दिनकर है, जो कि असत्य के मेघों में कभी छुपकर नहीं रहा। असत्य का आसन एक दिन नीचे आता ही है। सत्य का सिंहासन आकाश में ही रहता है। मायाचारी, असत्य परिणति बहुत समय तक नहीं टिकती। कृत्रिम पुष्पों की कृत्रिम सुगन्ध कितने समय की होती है ? कुछ ही क्षणों में समाप्त हो जाती है। संसार में कुछ जीव ऐसे होते हैं जो माया-भक्ति करते हैं। बाहर से भक्ति दिखती है, अंतरंग ईर्ष्या से युक्त होता है। वे समझते हैं कि शायद हमारी वक्रवृत्ति कोई समझ नहीं पा रहा, पर ज्ञानी तत्क्षण समझ लेता है। जैसे कि श्रेष्ठ वैद्य के सामने रोगी की कुपथ्य सेवन वृत्ति छुप नहीं पाती, उसी प्रकर साधु-पुरुषों के सामने छली-कपटी व्यक्ति की वृत्ति नहीं छिप पाती है। वे व्यक्ति के चेहरे

वेज्जस्स सपक्खिं रोगिणो कुपत्थसेवण-वित्ती णवि गुहेदि, तहेव साधु-पुरिसाणं सपक्खिं धुत्त-खल-जीवस्स वित्ती णवि गुहेदि। ते जीवस्स मुहं अज्झेंति एवं तस्स अंतोकरणे पवेसिय हिदय-कुडिलत्तं जाणेंति। जो महीण-कंठदो रुवंतो चंपेदि, तं जाणेहि पवंच-पडिकिदी। तादो कुणेहि णियरक्खणं, सो कदावि पवंच-जाले खिव्विदूणं तुवं णासं करेदि। खलस्स हिदए सव्वदोसा विज्जंते। बंस-गुत्थी सीमिदा खल-हिदय-गुत्थी असीमिदा, तेसिं गणणं दुक्करं कज्जं। सयल-हिदयस्स इमत्तो पुहुत्तं आवस्सगं। कुवल-कदली-संगो जुगवं असंभवो। तं अप्पाणं पडि धारेहि सब्भावं, तेसिं वक्कवित्ती गलेज्जा व फुड्डेज्जा अज्जवधम्मं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

को पढ़ लेते हैं और उसके अंतकरण में प्रवेश कर हृदय की गांठ को जान लेते हैं। ध्यान रख, जो व्यक्ति पतले गले से अश्रुपात करते हुए चर्चा करे, समझ लें कि वह कपट का पुतला है। उस व्यक्ति से अपनी रक्षा करो, नहीं मालूम वह कब कपट-जाल में फँसाकर तेरा नाश कर दे। कपटी व्यक्ति के हृदय में सर्वदोष विराजमान रहते हैं। बांस की गाठों की तो सीमा होती है, पर छली के हृदय की गांठें असीम हुआ करती हैं, उनकी गणना करना बहुत कठिन कार्य है। सरल-हृदय-जीव के लिए इन आत्माओं से पूर्ण पृथक् रहने की आवश्यकता है, क्यों कि बेर-केर का संग एक साथ संभव नहीं है। परंतु उन आत्माओं के प्रति सद्भाव रखो कि उनकी वक्रवृत्ति समाप्त हो चुकी है और आर्जव-धर्म प्रकट हुआ है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

साहु-असाहु-णाणं वाणीए

विण्णप्पा! सद्दसत्तिं आइरिय-अमिदचंदसूरी सद्दबंभो भणिदो। परमबंभ-सिद्धीए सद्दबंभसिद्धी परमावस्सगा। सद्देहिं जीवो लहेदि बंभं। एगो सद्दो अमिदकज्जं करेदि, एगो विसस्स। विसं विरेयमाणं मंतं पि सद्दो त्थि। अवसद्दो वि सद्दो, मिट्ठवयणं पि सद्दो, णं सयल-पहावो भिण्णो-भिण्णो। सद्दादो होंति जुद्धं च। पढमो जीवो वागजुद्धं आरंभेदि। रणभेरी-संखणादे जोद्ध-भुजाओ पप्फुरेंति। रणभेरिं सुणंता हत्थि-अस्सा वि वीरस्स-परिपूरिदा होंति एवं गज्जेंति हिणहिणेंति। सद्द-सत्ति-पहावदो तिव्वकामुगो पेयसिं सद्दजालदो सग-वसम्हि करेदि। किण्ह-भुजंगो वि कंडोलम्हि सद्दसत्तीदो बज्झेदि। तित्थेस-परमप्पस्स दिव्व-देसणा जदि णो होसी

वाणी से साधु असाधु की पहचान

हे विज्ञात्मन्! शब्द-शक्ति को आचार्य भगवन्त अमृतचंद्र सूरि ने शब्द-ब्रह्म कहा है। परम-ब्रह्म की सिद्धि के लिए शब्द-ब्रह्म को सिद्ध करना परम आवश्यक है। जीव शब्दों से ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। एक शब्द अमृत का कार्य करता है, एक शब्द जहर का। विष को दूर करनेवाला मंत्र भी तो शब्द ही है। गाली भी शब्द है, मिष्ठ वचन भी शब्द है, परंतु सभी का प्रभाव भिन्न-भिन्न है। शब्दों से युद्ध तैयार हो जाते हैं। सर्वप्रथम व्यक्ति वाक् युद्ध प्रारंभ करता है। रणभेरी का शंखनाद हुआ कि योद्धाओं की भुजायें फड़कने लगती हैं। रणभेरी सुनते ही हाथी-घोड़े तक वीर-रस से भर जाते हैं और चिंघाडने लगते हैं, हिनहिनाने लगते हैं। यह शब्द-शक्ति का ही प्रभाव है कि एक तीव्र कामुक प्रेयषी को शब्द-जाल से ही अपने वश में कर पाता है। काला नाग सपेरे की टोकरी में शब्द-शक्ति से वंद हो जाता है। तीर्थेश परमात्मा की दिव्य-देशना न हुई होती तो क्या आज तक मोक्षमार्ग स्थित रह सकता था ? अहो! कितना बड़ा आश्चर्य है ? पुद्गल की पर्याय है

पुण किं अज्जपज्जंतं मोक्खमग्गो थिरो होसी? अहो! कियत्तं विउलं अच्छेरं? सद्दो पोग्गल-पज्जायो, ण दु आगास-धम्मो। जेणं संसार-संसिद्धिमग्गो वा अविरामेणं गदिमाणो। दोण्हं मग्गाणं सद्दो णिमित्तभूद-कत्ता। णीदिकारा भणिदो-'सद्दा विचिंतिय भासेदव्वा'। मुमुक्खु-जीवा हिद-मिद-धम्मजसवड्ढग-सद्दा भासेदव्वा। अहिदकरा वायालदा-उप्पादगा अधम्म-अवजस-कारगा सद्दा पसंग-उवट्ठिदम्हि वि णवि भासेदव्वा। जीवस्स वाणीए साहुत्त-असाहुत्त-परिक्खा होदि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

शब्द, आकाश का धर्म नहीं। शब्द पुद्गल की पर्याय है, जिसके माध्यम से संसार-मार्ग व मोक्षमार्ग दोनों ही अविराम रूप से चल रहे हैं। दोनों मार्गों के लिए शब्द निमित्तभूत कर्ता बना हुआ है। नीतिकारों ने कहा है कि शब्दों को संभालकर बोलना चाहिए। हितकारी, सीमित तथा धर्म व यश की वृद्धि करनेवाले शब्द ही मुमुक्षु जीवों को बोलना चाहिए। अहितकर, वाचालता के उत्पादक, अधर्म तथा अपयश कारक शब्दों का प्रयोग प्रसंग के उपस्थित होने पर पर भी नहीं करना चाहिए। व्यक्ति की वाणी से साधुता/असाधुता की परीक्षा हुआ करती है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णिम्मलभाव-धारगो धम्मिगो

विण्णप्पा! जेहिं कारणेहिं होदु आद-विसुद्धि-वड्ढी ताणि गेज्झ। जेहिं णिमित्तेहिं कसायपरिणदि-वड्ढी, तादो णिवज्ज। भव-वड्ढि- मूलकारणाणि मिच्छत्त-कसाया। जावदिया जीवा भवत्तो तरीअ, ते सव्वे सम्मत्तेणं तरीअ। भवे दुल्लहं वत्थुं मंदकसायो, भद्दपरिणामो, सम्मत्त-परिणदी य। कसाएसुं मंदत्तं विणा भवभमणं अविरामं। णो सयं कुण कसायं, णेव हुज्जा अण्ण-कसायणिमित्तं। अवर-परिणामाणं कालुस्से जो होदि कारणं, तं होदि तिव्व-कम्मासवो। जीववहे जो दोसो, तादो विउल-दोसो वह-भावणाए जाण। अवरस्स णिम्मल-हिदयस्स विसुद्धि-वहगो हिंसगो एव। हिंसगो कदावि णो होदि धम्मिगो। तम्हा कुण सपर-परिणामा णिम्मला।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

निर्मल परिणामों का धारी ही धर्मात्मा है

हे विज्ञात्मन्! आत्म-निर्मलता की वृद्धि जिन कारणों से हो, उन्हें तू स्वीकार कर। कषाय-परिणति में वृद्धि जिन निमित्तों से होती है, उनसे तू बचकर रह। संसार-वृद्धि का मूल कारण मिथ्यात्व व कषाय है। आज तक जितने भी जीव भव से तिरे, वे सब सम्यक्त्व से ही तिरे। ध्यान रख, संसार में दुर्लभ वस्तु यदि है तो मन्द कषाय, भद्र परिणाम, सम्यक्त्व-परिणति। कषायों में मन्दता आये बिना भव-भ्रमण विराम नहीं ले सकता। न स्वयं कषाय करना और न ही अन्यों की कषाय में निमित्त बनना। दूसरे के परिणामों की कलुषता में जो कारण बनता है उस जीव को तीव्र कर्मों का आस्रव होता है। देख, प्राणी-वध करने में जो दोष लगता है उससे ज्यादा दोष वध की भावना में समझना। दूसरे जीव के निर्मल हृदय की निर्मलता का वध जो करता है वह जीव हिंसक ही है। हिंसक जीव कभी धर्मात्मा नहीं हो सकता। इसलिए ध्यान रख, स्व-पर के परिणामों की निर्मलता रख।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जाण सग-समयं

विण्णप्पा! समयो सग-गदीए पवाहमाणो, सो णो करेदि अण्ण-समयस्स पदिक्खं। जं किंचिवि होदि, तं समयम्हि होदि। पत्तेग-समयम्हि होदि दव्वपरियट्टणं। इमेसुं दव्वेसुं जीवो वि एगदव्वं, सो वि सग-सहाव-विहावम्हि परिणमेदि। णंतसिद्धाणं परियट्टणं सहावरूवं। संसारत्थाणं परियट्टणं विहावरूवं। सहावे सुहं, विहावे दुहं। जे जीवा किदा सम्म-उज्जमं, ते सहावं पत्ते। जे विसयभोग-जालाए अप्प-पुण्णं दज्झेदि, ते अज्ज विहावे हिंडेंति। समयं जाणित्ता वि समयम्हि णवि संचरीअ, तम्हा ते सयं समयं णवि पत्ते। भो चेयण्ण! जाणेहि सग-समयं, अहुणा तुव पुण्णोदयो। अस्स उदयादो सिद्धोदय-लाहो होदु, करेहि एरिसं उज्जोगं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

निज-समय को समझ

हे विज्ञात्मन्! समय अपनी गति से प्रवाहमान है, वह किसी के समय का इंतजार नहीं करता। जो कुछ घटित हो रहा है, वह समय पर ही हो रहा है। प्रत्येक समय में द्रव्य का परिणमन चल रहा है। इन द्रव्यों में जीव भी एक द्रव्य है, जो कि अपने स्वभाव-विभाव में परिणमन कर रहा है। अनन्त सिद्धों का परिणमन स्वभाव रूप है। संसारी जीवों का परिणमन विभाव रूप है। स्वभाव में सुख है, विभाव में दुःख। जिन जीवों में सम्यक् पुरुषार्थ किया, वे स्वभाव को प्राप्त हो गये; जिन्होंने विषय भोगों की ज्वाला में अपने पुण्य को जलाया है वे आज विभाव में भटक रहे हैं। समय को जानकर भी समय पर नहीं चल सके, यही कारण है कि वे स्वयं समय को प्राप्त नहीं हो सके। भो चैतन्य! निज समय को समझ, अभी तेरा पुण्योदय चल रहा है इसके उदय से सिद्धोदय की प्राप्ति हो, ऐसा पुरुषार्थ कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णियदो कुण णियमित्तिं

विण्णप्पा! संतोसं मित्तिभावणं च कुणेहि सगजीवण-पदिण्णा। णिस्सत्थ-णिच्छलभावणादो णिस्सेस-जीवं पडि पेम्म-वच्छल्ल-सब्भावो, सम्मग्ग-गमणं, कुमग्गादो रक्खणं च सम्मं मित्ती। विसय-भोगम्हि सयं लीणत्तं एवं अण्णं पेरणादाणं मित्ती णत्थि अमित्ती एव। मित्तं सग-इट्ठं पदणमग्गाम्हि णवि णेदि, णेव एरिसं भावणं च करेदि। सम्मग्गं पडि पडिक्खणं समुदीरेदि, सहचर-भावणं णिब्भरेदि। कडुदा-कालुस्सादो विरमेदि, अण्ण-विसए विवरीद-चिंतणं णो करेदि, 'लोयस्स सयल-जीवा सुही होंतु', इमं भावणं भावेदि। जो लोयस्स जीवणं सुह-वंछं करेदि, सो कहं बंधु-पडिवेसिणो दुक्खाइं पस्सेदि तहा कहं णियं दुक्खमग्गे जुंजेदि। जो सगं कामभोगं पडि णेदि, सो अहुणा अप्पमित्तं पि णत्थि। भो चेयण्ण! णियदो कुणेहि णियमित्तिं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

निज से निज की मित्रता कर

हे विज्ञात्मन्! संतोष, मैत्री की भावना को अपने जीवन का प्रण बना ले। निःस्वार्थ, निश्छल भावना से युक्त होकर प्राणी मात्र के प्रति प्रेम वात्सल्य रखना, सद्मार्ग पर चलाना, कुमार्ग से बचना, यही सच्ची मैत्री है। विषय-भोग में स्वयं लीन होना और दूसरे को प्रेरित करना मित्रता नहीं, शत्रुता है। जो मित्र हेाता है, वह अपने सखा को कभी पतन के मार्ग पर नहीं ले जाता, न ऐसी भावना ही करता है। सद्मार्ग की ओर प्रतिक्षण अग्रसर करता है, भाईचारे की भावना भरता है। कटुता/कालुष्यपने से दूर रहता है, किसी के बारे में विपरीत चिन्तवन नहीं करता, 'सुखी रहें सब जीव जगत् के' यह भावना भता है। जगत् के जीवों के प्रति सुख की कामना जो करता है, वह भाई, पड़ोसी के दुःखों को कैसे देख सकता है तथा निज को दुःख मार्ग पर कैसे लगा सकता है ? जो व्यक्ति अपने आपको काम-भोग की ओर ले जा रहा है, वह अभी निज का भी मित्र नहीं है। भो चैतन्य! निज से निज की मित्रता कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

बंभवेदणट्ठं जिणमुद्दागहणं

विण्णप्पा! लोए दुविहं जीवं दिस्समाणं। पढमा जेसिं पूया-सम्माणं च होदि। पूया-सम्माण-कारगा सगं पुण्णवंता मण्णेंति। मे अहोभग्गं अम्ह पत्तो एरिसो महापुरिस-दंसण-पूयण-सोहग्गं च। पुज्जाणं पूया-अवसरो पुण्णवंतं पडिवज्जेदि, णेव अपुण्णजीवं। तुमं किंचि विचिंत, जस्स अच्चगा इयत्ता पुण्णवंता पुण सो पुज्जो कियत्तो पुण्णवंतो? सो दु पुण्णमुत्ती एव? तस्स जीवस्स कियत्ताणं भवाणं धम्मसाहणाफलं होहिदि? पढमं सामण्णपुण्णवंत-चरिचं कुज्जा। रट्ठणेदारस्स कंठे माला-णिक्खेवगा सगं उत्तमा मण्णेंति, सो खलु पुव्विं किंपि सुकिच्चं किदो जेणं अज्ज पूयं भजेदि। विदीय-पुण्णं सोहम्मस्स, जो लहेदि देवेहिं पूयणं। मणुवेसुं णरिंदसामी-माणवरयण-चक्कवट्टी-पुण्णं। एदाणि सव्वाणि अब्भुदय-

ब्रह्म-वेदन के लिए जिनमुद्रा धारण की जाती है

हे विज्ञात्मन्! इस लोक में दो प्रकार के व्यक्ति देखने को मिल रहे हैं। एक वे हैं जिनकी पूजा की जा रही है, सम्मान हो रहा है। पूजा सम्मान करनेवाले अपने आपको पुण्यवान् मानते हैं। अहोभाग्य है मेरा जो मुझे ऐसे महापुरुष के दर्शन, पूजन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सत्य है, पूज्यों की पूजा करने का अवसर पुण्यवान् को ही मिलता है, अभागे जीव को नहीं। लेकिन एक बात को तो स्मरण कर तू कि जिसकी पूजा करनेवाले इतने पुण्यवान् हैं, तो फिर वह पूज्य कितना पुण्यशाली होगा ? वह तो पुण्य की मूर्ति ही है। कितने भवों की धर्म-साधना का फल होगा उस जीव का ? सर्वप्रथम सामान्य पुण्यशाली की ही चर्चा करो। एक राष्ट्रनेता जिसके गले में मालाएँ डालनेवाले अपने आपको श्रेष्ठ मानते हैं, उस जीव ने पूर्व में अवश्य कोई सुकृत्य किया होगा, जिससे आज पूजा को प्राप्त हुआ है। दूसरे प्रकार का पुण्य सौधर्म इन्द्र का है जो कि देवों द्वारा पूजा को प्राप्त करता है।

जणग-पुण्णफलाणि। तिदीय-पुण्णफलं अब्भुदं। जस्स तणे सुत्तं पि णत्थि, आकिंचण्णवेस-संजुद-दियंबरसमणपुण्णं, जस्स पाएसुं णर-तिरिय-चक्की-सुरिंद-असुरिंदा वि णमेंति, जो धरणी-देवो य।

विसुद्धसायर! तुमं पुव्विं किं तवस्सं किदा, जेणं अज्ज तुमं अरिह-वेसं भजेदि। इदं वट्टमाण-तवस्सा-फलं णत्थि। इदं पुव्वकिद-साहणाफलं, जेणं तुमं तेलुक्क-वंदणिज्जं जिणमुद्दं धारेसि। इमं मा लज्जाव, इमाए कुणेहि णद्दोस-उवओगं।मेत्तं बंभसरूव-वेदणट्ठं जिणमुद्दा.गहणं। इमाए मुद्दाए अण्ण-इंदियकसाय-पुट्ठिकारग-परिणदि- वेदणं णवि कीरेदि। जदि जीवा जिणमुद्दं धारित्तु ताए दुरुवओगं किदो दु सो णिगोद- पत्तो। जावदु उच्चदादु जीव-पदणं तावदु दिग्घ-आघादं भजेदि। जस्स मग्गस्स लाहट्ठं देवा वि

मनुष्यों में मानव-रत्न चक्रवर्ती का पुण्य है जो कि राजाओं के स्वामी हैं। ये सब अभ्युदय-जनक पुण्यफल हैं। लेकिन तीसरे प्रकार का पुण्यफल अनोखा है। जिसके पास एक धागा भी न हो तन पर, आकिंचन्य वेष से युक्त एक दिगंबर साधु का प्रबल पुण्य, जिसके चरणों में नर, तिर्यंच, चक्री, सुरेन्द्र, असुरेन्द्र सभी नत होते हैं, जो धरती के देवता कहलाते हैं।

हे विशुद्धसागर! तूने पूर्व में ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जो तू आज अर्हत्-वेष को प्राप्त हुआ है। ये वर्तमान की तपस्या का फल तो है नहीं। ये तो पूर्व की साधना का ही फल है, जो त्रैलोक्य-वन्दनीय जिनमुद्रा को तूने धारण किया है, परंतु तू ध्यान रख, इसे लजाना मत, निर्दोष उपयोग करना इसका। मात्र ब्रह्म-स्वरूप के वेदन के लिए ही जिनमुद्रा धारण की जाती है। इस मुद्रा में अन्य इन्द्रियों, कषायों की पुष्टिकारक परिणति का वेदन नहीं किया जाता। यदि किसी जीव ने जिनमुद्रा को धारण करके उसका दुरुपयोग किया, तो वह निगोद का अधिकारी बनता है, क्योंकि जिनकी ऊँचाई से जीवन का पतन होता है, उतनी ही लम्बी चोट (सजा) को प्राप्त होता है। ध्यान रख, जिस मार्ग की प्राप्ति के लिए देव भी तरसते हैं, उस मार्ग को तूने प्राप्त किया है। आवश्यक है अब तेरे लिए

गणयंति, तं मग्गं तुमं लहेसि। तुज्झ ताए गरिमा-ठायिच्चं आवस्सगं। चदुत्थपुण्णं देवाहिदेव-अरहंत-तित्थयरस्स, जस्स पाद-पउमेसुं गणहर-सरिसा तेसट्ठि-इड्ढि-संपण्ण-मुणीसा णमस्सेंति। जो सय-इंदेहिं वंदणिज्जो, किंचि कालम्हि सिववणिदा-सामी होहिदि। इदं सव्वं पुण्णफलं, विसुद्धि-फलं, णिक्काम-णिक्कंखिद-भावकिदं रदणत्तय-साहणा-फलं च।

बीआ ते जे णिच्चं अवमाणं, जत्थ तत्थ वेदणं च भजेंति। कोवि पेम्मेणं णो बोल्लेदि, उत्तम-कज्जेसुं पि अवजस-लाहो। इमे जीवा पुव्वकिद-किच्चस्स विवागं अज्ज भुंजेंति। जदि जसं इच्छेसि दु कुणेहि पंचपरमगुरु-आराहणं। विणा पंचपरमगुरु-भत्तिं, गुणिजणस्स गुणगाणं विणा णो जसलाहो। भो चेयण्ण! संसारे णो कोवि करेदि अवमाणं, णेव सम्माणं; अप्प-पुण्ण-पावाणि उहय कम्म-कारणाणि। जदि सच्च-साहणा-

उसकी गरिमा बनाकर रखना। चौथा पुण्य है देवाधिदेव अरहंतदेव तीर्थंकर भगवान् का जिनके चरण-कमलों में गणधर भगवन् जैसे त्रेसठ-ऋद्धि-संपन्न मुनीश्वर नमन करते हैं, शत् इन्द्रों से वन्दीय हैं, कुछ ही काल में शिववनिता के कान्त/स्वामी बननेवाले हैं। ये सब पुण्य का, पवित्रता का फल है। तात्पर्य निष्काम, निःकांक्षित भाव से की गई रत्नत्रय-साधना का फल है।

दूसरे वे जीव हैं जो नित्य ही अपमान को प्राप्त हो रहे हैं, दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं, कोई प्रेम से बोलता भी नहीं है, अच्छा भी कार्य करें तो भी अपयश ही हाथ लगता है। इन जीवों ने पूर्व में ऐसा कृत्य किया था, जिसका विपाक आज भाग रहे हैं। यदि यश ही चाहिए तो पंच-परमगुरु की आराधना करो। बिना पंच-परमगुरु की भक्ति किये, बिना गुणीजनों का गुणगान किये यश को प्राप्त नहीं किया जा सकता। भो चैतन्य! सत्य तो यह है कि संसार में न कोई किसी का अपमान करता है, न सम्मान; स्वयं का पुण्य-पाप ही उभयकर्म का कारण है। साधक का कभी अपमान होता ही नहीं, यदि सत्य साधना में लीन है तो। जिसके चित्त में रागादिक

रदो दु साहगस्स कदावि णो अवमाणो। जस्स चित्ते रागादिगरूव-परियट्टणं, तस्सेव अवमाणगा। जस्स चित्ते रागादिगरूव-परियट्टणं णत्थि, तस्स णो अवमाणो जदि अवमाणादो रक्खणं इच्छेसि दु कुणेहि रागद्दोसच्चागं।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

रूपपरिणमन होता है, उसी के अपमानादिक होते हैं। जिसके चित्त में रागादिक रूप परिणमन नहीं होता, उसका अपमान नहीं होता। यदि अपमान से बचना चाहता है तो राग-द्वेष का त्याग कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अहंगलणं विणा सगमेलणं असंभवं

विण्णप्पा! णरगवासो वरो सदुट्ठ-सहवासो अवरो, एसो भणिदो णीदिकारो। पडिक्खणं दुज्जणो लोयणेसुं कंकडव्व पीडेदि। जहा णेत्ते रयकण-पवेसे बहु-कट्ठं होदि, पडिक्खणं पीडेदि तहेव दुज्जण-संगदी। अप्प-कज्जसिद्धीए दुज्जणस्स पीदी गलेदि। जदि तं जाणेदु अमुगं मइत्तो कज्जं अत्थि पुण आरंभेदि अमित्तिं। सत्थसिद्धीए भिच्चाणं भिच्चो होदि। छिद्दण्णेसित्तं दुज्जण-लक्खणं। जे दोसा अण्णेसुं आरोवेदि, तेणं सगं णिद्दोसं घोसेज्जा। बुद्धिमंता जाणेंति भूदत्थत्तं। जदि पुण्णोदयादो दुट्ठपयडिजीवो संजम-मग्गे आगच्छेदि तस्स सहावो तत्थ वि करेदि कज्जं। चागीसुं पि

अहं के गलन बिना स्व से मिलन संभव नहीं

हे विज्ञात्मन्! नीतिकारों ने कहा है–नरकवास अच्छा है, परंतु दुष्ट के साथ सहवास अच्छा नहीं है। दुर्जन व्यक्ति प्रतिपल आँखों में कंकड़ के समान चुभता है। जैसे, किसी व्यक्ति के नेत्र में कोई बालू आदि का कण प्रवेश कर जावे, तो फिर कितना कष्टप्रद होता है, प्रतिक्षण दर्द करता है; उसी प्रकार दुर्जन की संगति होती है। स्वयं का कार्य सिद्ध हुआ कि दुर्जन की प्रीति समाप्त हुई। यदि उसे मालूम चल जाये कि अमुक व्यक्ति को मेरे से कार्य है, तुरंत शत्रुता प्रारंभ। स्वार्थसिद्धि के लिए भृत्यों का भी भृत्य बनने को तैयार रहता है। पर छिद्रान्वेषी होना दुर्जन की पहचान है। जिन दोषों को दूसरों पर लगाता है, उनसे स्वयं को निर्दोष घोषित करना चाहता है। परंतु समझदार सब समझते हैं कि सत्यता कितनी है? यदि किसी पुण्योदय से दुष्ट-प्रकृति का व्यक्ति संयम-मार्ग पर भी आ जाये, तब भी देखा जाता है कि उसका स्वभाव अपना कार्य वहाँ भी करता है। त्यागियों में भी भेद खड़ा कर देता, संयमियों की साधना में भी अर्गला बन जाता है। प्रभु से ऐसी प्रार्थना करता हूँ कि ऐसे जीवों को सद्बुद्धि की प्राप्ति हो, व्यर्थ में

भेदं उवणमेदि, संजदाणं साहणाए वि अग्गला होदि। पहूदो पत्थणा, एरिसा जीवा सुबुद्धिं भजेंतु, विहा कम्मबंधं णो भजेंतु। दुज्जणस्स भुजंगस्स य विसेसरूवेणं एगत्तं। दोण्णि वे जीहवंता होंति एवं करेंति पिट्ठ-भक्खणं। भुजंगो बिलं, दुज्जणो साहु-पुरिस-दोसा य पस्सेदि। भुजंगो दोहिं जीहेहिं दंसेदि, दुज्जणो उहय-वयणेहिं दंसेदि, सो होदि मायाजुत्तो। भुजंगो पुट्ठदो भक्खेदि, दुज्जणो पुट्ठदो आलोएदि। किं तं कम्मोदय-विचारं णत्थि? सव्वे विसरेदि। कहं होमु सेट्ठो जेट्ठो हं, इमा अहंभावणा आददव्वस्स भूदत्थसरूव-गमणे अवरोहा। अहंगलणं विणा असंभवं सग-मेलणं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

कर्म-बन्ध को प्राप्त न हों। दुर्जन पुरुष की और सर्प की विशेष-रूप से समानता है। दोनों दो जिह्वावाले होते हैं और पीठ-पीछे भक्षण करते हैं। तात्पर्य यह कि सर्प बिल को देखता है, दुर्जन साधु-पुरुषों के दोषों को देखता है। सर्प दो जिह्वा से पकड़कर डसता है, दुर्जन दो प्रकार की बातों से काटता है, अर्थात् मायाचार से युक्त होता है। सर्प पीछे भक्षण करता है, दुर्जन पीछे आलोचना करता है। क्या उसे कर्मोदय का ध्यान नहीं है? सब कुछ भूल जाता है। मैं श्रेष्ठ, ज्येष्ठ कैसे बनूँ, ये अहं की भावना आत्म-द्रव्य के सत्य-स्वरूप की ओर नहीं जाने देती। अहं के गलन बिना निज का मिलन संभव नहीं है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

लोएसणाए जियमाणो अभूदत्थ-साहगो

विण्णप्पा! परदव्व-परियट्टणे मा हुव णिमित्तं। अण्णस्स सरूव-परियट्टणं तुमं णो करेसि, अयं भिण्ण-विसयो। अमुगं उच्चिणेज्जा हं, वड्ढेज्जा, सिवमग्गी करेज्जा, एरिसा कत्ताबुद्धी तुव भममेत्तं। जदि तस्स उवादाणो णिम्मलो दु तुमं णियमेण णिमित्तं हवेसि। सग-उवादाण-जोग्गत्तं विणा गुरु-तित्थयरा वि किंचिवि णो करेंति। दियंबरवेस-पिच्छी-कुंडिगा-सत्थाणि बहिणिमित्ताणि, सिवमग्गी-चिण्हाणि इमेहिं दियंबरसमण-अहिणाणं; पुणो इमाणि उवयरणाणि गहण-मेत्तेणं मोक्खमग्गी होज्जा; एसो णत्थि। जदि इमेहिं मोक्खमग्गी होंति पुणो आगमविहिद-अब्भिंतरसंजम-चरिया विहा होहिदि। विणा अब्भिंतर-साहणाए बहिरंग-

लोकेषणा में जीनेवाला सच्चा साधक नहीं हो सकता

हे विज्ञात्मन्! तू पर-द्रव्य के परिणमन में निमित्त न बन। वह भिन्न विषय है कि तू किसी का स्वरूप-परिणमन नहीं कर सकता। यदि तेरी ऐसी कर्ता-बुद्धि हो कि मैं अमुक व्यक्ति को ठीक कर दूँगा, सुधर दूँगा, मोक्षमार्गी बना दूँगा, तो तेरा भ्रम मात्र है। हाँ, यदि उसका उपादान निर्मल होगा तो तू निमित्त अवश्य बन सकता है। बिना स्व उपादान की योग्यता के गुरु क्या, तीर्थंकर भी कुछ नहीं कर सकते। दिगंबर वेष, पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र ये सब बाह्य निमित्त तो अवश्य हैं, मोक्षमार्गी के चिह्न हैं, इनके माध्यम से दिगंबर साधु की पहचान होती है, परंतु ध्यान रखना इन उपकरणों को स्वीकार कर लेने मात्र से मोक्षमार्गी बन जाये, ऐसा मत समझना। यदि इतने मात्र से मोक्षमार्गी बनते होते तो फिर अंतरंग-संयम-चर्या आगम में जो कही है, वह व्यर्थ हो जायेगी। बिना अंतरंग साधना के बहिरंग उपकरण आत्मा का उपकार करनेवाले नहीं हैं।

उवयरणाणि णो करेंति आद-उवयारं। आदसाहणा-रहिद-सयलसाहणा बालुगादो तेल्ल-णिक्कासणमिव। अब्भिंतरे णिम्मलत्तं आवस्सगं। जस्स चित्तं ईसा-डाह-मच्छरिय-समिद्धं, तस्स किरिया-कंडं पाखंडं, सो स-परं वंचेदि। लोएसणा-घणेसणा-भोएसणासुं च जिवमाणे कदावि णो होदि सम्म-साहगो। जो णिम्मल-चरित्तवंतं दट्ठूणं कडु-सद्दा भासेदि, चरित्तवंतं णिवाडेदि, किं सो होदि सच्चसावगो सच्चसाहगो वा? समयो णवि भासेज्जा। पडिपलं होदि सच्चस्स सम्माणो, सिढिलायारस्स अवमाणो वा। अहिमाण-रिवू णो करेदि सच्चस्स सम्माणं। भो चेयण्ण! माणं चत्तेहि, कुणेहि चेयण्ण-रामस्स सम्माणं च।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

आत्मसाधना-रहित सारी साधना बालू से तेल निकालने तुल्य हैं। अन्तरंग में निर्मलता लाने की आवश्यकता है। जिसका अन्तःकरण ईर्ष्या, दाह, मात्सर्य से पूर्ण है, उसका क्रियाकाण्ड कोरा ढोंग है, स्वपर को छल रहा है। लोकेषणा, धनेषणा, भोगेषणा में जीनेवाला कभी भी सच्चा साधक नहीं हो सकता। जो निर्मल चारित्रवान् को देखकर कटु शब्दों का उपयोग करता हो, चारित्रवान् को नीचा दिखाता हो, उस व्यक्ति को क्या सत्य श्रावक व साधक कहा जा सकता है? आगम तो नहीं कह सकेगा। सत्य का प्रतिक्षण सम्मान होता है, शिथिलाचार का अपमान। सत्य का जो सम्मान नहीं करने देता है, वह प्रबल शत्रु है अभिमान। भो चैतन्य! तज मान को, कर ले सम्मान चैतन्य-राम का।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जिद-उवसग्ग-परीसहो होदि वड्ढमाणो

विण्णप्पा! तवणादो जाएदि हेम-दित्ती। सुवण्णो जावदु तवदे अणले, तम्हि जायदि तावदु दिव्वत्तं सच्छत्तं च। जो सुवण्णो णो तवेदि, सो णवि देप्पदि। मणुव-जीवणं सुवण्णादिसद-सरिसं। जदि सुवण्णो अणले सगं समप्पेदि, घण-आघादं सोहग्गं गेण्हेदि, पुण सो आभरणं होदूणं मणुव-सिरे विज्जदे। एवमेव अवत्था जीवस्स। जो उवसग्गं वरदाणं मण्णेदि, सो होदि वड्ढमाणो एवं जो डरेदि सो होदि कंसो मरीची य। जावदु हरिसत्तं साहगं सगसाहणा-पसंसा-सवणम्हि होदि, तादो अहिग-हरिसत्तं अण्णकिद-णिंदा-सवणम्हि होज्जा। संसारे पसंसा-सोदारा सहस्सा। एरिसे णर-पुंगवा विरला, जे सग-णिंदा-सवणे पर-पसंसा-सवणे य हरिसेंति। खीण-

उपसर्ग/परीषहजयी वर्द्धमान बनता है

हे विज्ञात्मन्! स्वर्ण में चमक तपने पर आती है। सोना अग्नि में जितना तपाया जाता है, उतनी सुन्दरता, स्वच्छता आती है उसके अन्दर। जो स्वर्ण तपने से रह जाता है, वह चमकने से भी रह जाता है। मानव-जीवन एक स्वर्ण-पाषाण के तुल्य है, यदि वह अग्नि में अपने आपको समर्पित कर देता है, घन की चोट को अपना सौभाग्य स्वीकार कर लेता है, तो वह आभूषण बनकर मनुष्य के माथे पर विराजता है। वही अवस्था जीव की भी है। जो व्यक्ति उपसर्ग को वरदान मानकर स्वीकारता है, वह वर्द्धमान बन जाता है और जो घबरा जाता है, वह कंस व मरीचि बन जाता है। साधक को जितनी खुशी स्वयं की साधना की प्रशंसा सुनने में होती है उससे कहीं ज्यादा खुशी दूसरे के द्वारा की गई अपनी निन्दा को सुनने में होनी चाहिए। संसार में प्रशंसा सुननेवाले करोड़ों हैं। ऐसे नर-पुंगव विरले हैं, जो अपनी निन्दा सुनने में व पर-प्रशंसा सुनने में खुश होते हैं। ध्यान रख, क्षीण-पुण्यवान् की निन्दा सामान्यजन करते हैं, परंतु विशेष पुण्यवान् की निंदा ईर्ष्यालु वरिष्ठ-जन करते हैं। गुणवान् की यह विशेष पहचान समझो

पुण्णवंत-णिंदं सामण्ण-जणा करेंति, विसेस-पुण्णवंत-णिंदं ईसालु-वरिट्ठजणा करेंति। वड्ढमाण-समए गुणवंतस्स इदं विसेस-अहिणाणं णेयं। सामण्ण णाणिस्स सेट्ठ-णाणी सामण्ण-साहगस्स विसेस-साहगो करेदि पसंसं तु सो मण्णेदि णिय-अवमाणो। सो विचिंतए-तस्स पसंसाए मे महच्चं पहज्जा। कदा तुव महच्चं आसि, जेणं तुमं करेसि दप्पं? हीणो अप्पण्हू विचिंतए-अमुग-विसेसस्स णिंदाए जीवा अम्ह अच्चेस्संति। पुणरवि बुद्धिमंता बुज्झेंति णिंदणिज्जो, णिंदणिज्जो णत्थि, णिंदगो एव णिंदणिज्जो। सगपसंसं उच्चगोदं च इच्छेसि दु उज्जल-सरद पुण्णिमा-हिमंसु-समं णिम्मल-संजमं संपालेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

आज के समय में। क्योंकि सामान्य विद्वान् की श्रेष्ठ विद्वान्, सामान्य साधक की विशेष साधक प्रशंसा कर देगा तो वह अपना अपमान समझता है। सोचता है कि मैं उसकी प्रशंसा कर दूँगा तो मेरा महत्त्व कम हो जाएगा। अरे भाई! तेरा महत्त्व था ही कब, जो तू अहंकार कर रहा है ? हीन अल्पज्ञ सोचता है कि मैं अमुक विशेष की निन्दा करूँगा तो लोग हमें पूजने लगेंगे। परंतु ध्यान रख, बुद्धिजीवी समझ ही लेते हैं कि निन्दनीय, निन्दनीय नहीं है, निन्दा करनेवाला ही निन्दनीय है। स्व-प्रशंसा और उच्च-गौत्र को चाहता है तो उज्ज्वल शरद-पूर्णिमा के चंद्र-तुल्य निर्मल संयम का पालन कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

वासणा-जालादो णिवज्ज

विण्णप्पा! पमेयकमल-मत्तंडसमए पहाचंदसामिणा ईसरवादी-दंसणस्स कत्तत्त-विसए चारु दिट्ठंतं पण्णत्तं-परमप्पा बालव्व कोडं णो करेदि, सो होदि गंभीरो। एवं पि-'खनित्वा पुनः समीकरणमिति न्यायात्।' इमं णायं अवर-अवेक्खाए गहणादो अज्झप्पे पवेसेदि, तदा तत्थ अत्थो वि परियट्टेदि। भूमिं खणित्ता ताए मट्टिगं पुणो गत्ते पूरणं किं णाणित्तं? णाणी मोत्तूणं पुणो णवि गेज्झेदि। भो चेयण्ण! जदा इच्छीअ गत्त-समीयरणं हि, किमत्थं किदं खणणं? जे भोगा णूणं चागो होदि, ते खलु पडिमुंचेज्जा, णो सगिच्छाए दु बला वुड्ढावत्था णिच्छोडेज्जा, पुणो किमत्थं सग-वंचणं किच्चा णिरत्थ-उवहासं कारेसि? कुल्ला-मोदगं धोसि, किं तुमं इमं भुजेस्ससि? जीवा हसिस्संति तदा तुमं मुंचिस्ससि? णेव। लोग-उवहासस्स पुरदो मुंच।

वासना की ज्वाला से बचो

हे विज्ञात्मन्! महान् तार्किक आचार्य प्रभाचन्द्रस्वामी ने ग्रन्थराज 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में ईश्वरवादी दर्शन के कर्तापन की बात को लेकर बहुत ही सुन्दर बात कही है-जो परमात्मा होता है, वह बच्चों-जैसे खेल नहीं करता, गंभीरता से युक्त होता है। उन्होंने यह भी कहा कि-'जमीन में गढ्ढा खोदकर पुनः उसको भरने के समान अज्ञानी जीव की दशा होती है।' इस न्याय को दूसरी अपेक्षा से जब हम ग्रहण करते हैं तब यह सूत्र अध्यात्म में प्रवेश कर जाता है, तब वहाँ अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है। भूमि को खनन करके उसकी मिट्टी को पुनः गर्त में भरना क्या ज्ञानीपना है? ज्ञानी छोड़कर पुनः स्वीकारता नहीं है। भो चैतन्य! जब गर्त का समीकरण ही करना था, तो उसे खनन क्यों किया? अरे भाई! जिन भोगों को छोड़ना ही है, वे छोड़ना ही पड़ेंगे स्वेच्छा से नहीं तो बलात् वृद्धावस्था छुड़वा देगी, तो फिर क्यों अपनी वंचना कर व्यर्थ की हँसी करा रहा है? नाली के मोदक को धो रहा है, क्या तू इसे खाएगा? लोग हँसेंगे तब तू छोड़ेगा? नहीं, भैया!

भोग-दुग्गंधमय-कुल्ला जो णिट्ठाणं, जत्थ पडिपलं पंचिंदिय-सम्मुच्छणजीवा जायंति विवज्जेंति य, जत्थ अपवित्त-पदत्थ-गत्तो, जस्स णाम-उच्चारणे वि लज्जा जायदि, जं दंसणं णो अहिरुयंति, जं मलबीयट्ठाणं च; तत्थ मूढा रमित्ता सगं धण्णं मण्णेंति। ताणं कुकईणं धिगत्थु, जे अण्णाणी-जीवाणं भोगलित्तट्ठं मंसपिंडं इत्थि-थणट्ठाणं सुवण्ण-कलस-उवमं मलसावदारं दिव्व सरोवर-उवमं च दिज्जा। णारी-जंघाठाणं विस-सरिदा। जहा विस-कलिद-सरिदाए अवगाहगो कदावि णो तरेदि, मरेदि एव। तहेव जो अण्णाणी ममत्तभाववसा वासणा-वेदणं असहणेणं भोग्गाए सह रमणे जलकीडं मण्णेदि, सो भोग-सरिदादो णवि णिज्जेदि तहा संजमपाणं णासित्ता दुग्गदि-जत्ती होदि।

जग-हँसी न हो पाये इसके पहले ही छोड़ दे। भोगों की दुर्गन्धमय नाली वह योनिस्थान है, जहाँ प्रतिक्षण पंचेन्द्रिय सम्मुर्छन जीव (मनुष्य) उत्पन्न हो रहे हैं, मरण को प्राप्त होते हैं, अपवित्र पदार्थों का जहाँ गर्त होता है, जिसका नाम लेने में भी लज्जा आती है, जिसे देखना पसंद नहीं करते और जो मल का बीजस्थान है; वहाँ मूढ़ अज्ञानी रमणकर अपने आपको धन्य समझते हैं। धिक्कार हो उन कुकवियों को, जिन्होंने भोले प्राणियों को भोगों में फँसाने हेतु माँस के पिण्ड स्त्रियों के स्तन-स्थान को स्वर्ण-कलश की उपमा दी है और मलस्राव-द्वार को सुन्दर सरोवर की। वह विष-सरिता है नारी का जंघा-स्थान। जैसे विष-मिश्रित नदी में जो व्यक्ति अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, वह कभी पार नहीं हो पाता अर्थात् उस आपदा से निकलकर नहीं आ पाता, मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार जो अज्ञानी प्राणी ममत्व-भाववश वासना की पीड़ा को सहन न करने के कारण भोग्या के साथ रमण में जलक्रीडा मानता है, वह भोग सरिता से नहीं निकल पाता; संयम-प्राण को नष्टकर दुर्गति का यात्री बनता है।

अप्पा! तुमं वासणाजालादो णिवज्ज, इमाए विसाल-मणीसिणो संदुट्ठीअ, पवित्त-चारित्त-भवणं पि संदुट्ठीअ तहा उहयलोयम्हि णिंदा-भायणा हवीअ। तम्हा वासणा-जालादो णिवज्जिदूणं संजमपाण-रक्खणं कुण।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

हे आत्मन्! तू इस वासना की ज्वाला से बचकर रहना, इसमें बड़े-बड़े संत/मनीषी झुलस गए, पवित्र चारित्ररूपी भवन को खाक कर बैठे तथा उभय लोक में निंदा के पात्र बन गये। इसलिए ध्यान रख, वासना की ज्वाला से दूर रहकर, संयम-प्राण की रक्षा कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

दव्वं पडि रागो पावकारणं, णेव दव्वं

विण्णप्पा! जीव-भावा भववुड्ढि-हेदवो। भवहाणि-हेदवो वि जीव-भावा। सग-परिणदी कारेदि भववुड्ढिं भवहाणिं च। परपदत्थाणि जाणेहि णिमित्तं, उवादाणो दु तुव णिय-परिणदी। अच्छेर! परिणाम-परिणदीए पुप्फडाल-समणं बारहवरिसस्स दिक्खा-उवरंतं पि अंतोकरणे विज्जमाणा इत्थी पडिक्खणं दीसीअ। कियत्तो रागो पर-पदत्थं पडि। इत्थी णो उप्पीडीअ, इत्थिं पडि राग-परिणदी उप्पीडीअ। किं तणुयं पडि भोग्गरूव-भावा होंति? णेव। तं पडि दिट्ठी णिम्मला। इत्थिं दट्ठूणं णवि जायदि रागो, रागदिट्ठीए दंसणादो इत्थीए जायदि रागो। इत्थी कामवासणं णवि उप्पादेदि, कामवासणा इत्थीए रागं जादावेदि। वासणाकारणं वेदकम्मं, णेव इत्थी। णोकम्म-

पाप का कारण पदार्थ नहीं, पदार्थ के प्रति राग है

हे विज्ञात्मन्! भव-वृद्धि के हेतु जीव के भाव ही हैं। भव-हानि के हेतु भी जीव के भाव हैं। ये स्व-परिणति भव-हानि भी करा देती है, भव-वृद्धि भी। पर-पदार्थों को तू निमित्त समझ, उपादान तो तेरी स्व-परिणति है। अहो! आश्चर्य है परिणामों की परिणति पर। बारह वर्ष व्यतीत हो गए थे पुष्पडाल मुनिराज को दीक्षा धारण किए, परंतु अंतःकरण में विराजमान स्त्री प्रतिक्षण दृष्टिगोचर हो रही थी। कितना राग था पर-पदार्थ के प्रति। नारी परेशान नहीं किए हुए थी, नारी के प्रति राग-परिणति परेशान किए थी। बेटी हो तो क्या भोग्यारूप भाव होते हैं? नहीं, क्योंकि इनके प्रति दृष्टि निर्मल है। स्त्री को देखकर राग उत्पन्न नहीं होता, अपितु राग-दृष्टि से देखने से स्त्री में राग उत्पन्न होता है। ध्यान रख, स्त्री कामवासना उत्पन्न नहीं करती, कामवासना स्त्री में राग उत्पन्न कराती है। वासना का कारण वेद-कर्म है, न कि स्त्री। वेदकर्म-वृद्धि का

अदिभोगपरिणदि-गरिट्ठभोयण-भोगभावणा-विलासदिट्ठीओ य वेदकम्म-वुट्ठिकारणाणि। जावं रागदिट्ठी, तावं पुप्फडालं काणी-इत्थी उप्पीडीअ, हिदए खणं पि णो णियाणुहवे दिट्ठी। जदा वीदरागी-महासमण-वारिसेणो सग-णिम्मल-तिक्खण-बुद्धीए संपडिबोहीअ, तस्स बत्तीस-सुंदरीओ देवंगणासम-महिसीओ दट्ठूणं पुप्फडालो उदासो हवीअ वा णस्सीअ रागपरिणदी। भासीअ-एत्तो सहसा गच्छेज्जा। मे रागपरिणदिं धिगत्थु, काणी-इत्थि-मिदी उप्पीडीअ। धण्णा ते महासमणा, जे बत्तीस-सुंदरीओ मोत्तूणं भावसंजमरदा। इदं विचिंतिय सो समणो बारहवरिस-उवरंतं णिय-संजम-रदो होसी। तुव अणंतभवा गलीअ, पुणरवि णो संपडिबोहेसि। करेहि लक्खं अप्पम्हि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

कारण नोकर्म, अतिभोगपरिणति, गरिष्ठ भोजन, भोग-भावना एवं विलास-दृष्टि है। जब तक राग-दृष्टि थी, तब तक पुष्पडाल को कानी स्त्री सताती रही, हृदय में एक क्षण भी निजानुभवन पर दृष्टि नहीं जा सकी। जब वीतरागी महाश्रमण वारिषेण महाराज ने अपनी निर्मल तीक्ष्ण बुद्धि से प्रतिबोध दिया, उनकी बत्तीस सुंदरियों, राजदुलारियों, देवांगनाओं-तुल्य रानियों को देखकर पुष्पडाल को उदासी छा गई, राग-परिणति नष्ट हुई। कहने लगे कि अब यहाँ से शीघ्र गमन करें। धिक्कार हो मेरी राग परिणति को, एक कानी की याद सताती रही। धन्य है उन्हें, जो 32 सुंदरियों को छोड़कर भाव-संयम में लीन हैं। ऐसा विचार कर वे मुनिराज कम-से-कम बारह वर्ष के उपरांत तो निज-संयम में लीन हो गए। तेरे तो अनंत भव निकल गए, फिर भी प्रतिबोध को प्राप्त नहीं हो रहा। अरे भाई! निज पर लक्ष्यपात तो कर जरा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णिय-चेइयालए भज णियचेयण्ण-पहुं

विण्णप्पा! इट्ठिगा-सुहा-णिम्मिद-चेइयालयस्स णवि होदि पूयणं, चेइयालए विज्जमाण-चेइय-पूयणं होदि। चेइए चेयण्ण-पहुणो पाण-पदिट्ठं कीरदे, तदो चइयं पुज्जं। तुज्झ चेइयं णूणं तुव अप्पा। चेइयालयो देहं। भो णाणी! भज णियचेयण्ण-पहुं णिय-चेइयालए।

जहा सिद्धालए णाणावरणादि-अट्ठ-दुट्ठ-कम्ममल-रहिदा सिद्ध-परमप्पा, अप्प-अणंत-सुहरदा, लोए णिवसंता वि लोयदो पुहं, सग-चदुट्ठए पदिट्ठिदा; तहेव तुव इह देहे परमबंभसरूव-णियपरमप्पदव्वं भगवं विज्जदे। देहत्थो होदूणं पि देहदो भिण्णो। फास-रस-गंध-वण्णा पोग्गल-धम्मा। देहं पोग्गलमयं। एदे सयलधम्मा देहम्हि होंति। इमत्तो

निज-चैत्यालय में निज-चैतन्य-प्रभु की उपासना कर

हे विज्ञात्मन्!ध्यान रख, ईंट-चूने से बने चैत्यालय की पूजा नहीं की जाती, चैत्यालय में विराजमान चैत्य की पूजा होती है। चैत्य में चैतन्य-प्रभु की प्राण-प्रतिष्ठा की गई है, इसलिए वह पूज्य हो गया है। तेरा चैत्य निश्चय से तेरी आत्मा है। चैत्यालय देह है। भो ज्ञानी! निज-चैत्यालय में निज-चैतन्य-प्रभु की उपासना कर।

ज्ञानावरणादि अष्ट-कर्म-मल से रहित जैसे सिद्धालय में सिद्ध परमात्मा विराजते हैं, अपने अनंत-सुख में लीन, लोक में रहकर भी लोक से पृथक्, स्व-चतुष्टय में प्रतिष्ठित हैं, उसी प्रकार इस तेरी देह में परमब्रह्म-स्वरूप निजपरमात्मद्रव्य भगवान् विराजते हैं। देह में स्थित होकर भी देह से भिन्न हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये पुद्गल के धर्म हैं। देह पुद्गलमय है। ये संपूर्ण धर्म देह में हो रहे हैं। आत्मदेव तो इन सबसे भिन्न,

भिण्णो णादा-दिट्ठारूवो। ववहारेणं सयलदव्वाणि णाणदंसणं च अस्स सरूवं। णिच्छएणं णियं जाणेदि पस्सेदि वा। एरिसो तुव अणुवम-अखंड-चेयण्ण-पहू, तस्सेव सरणं अहिगच्छेहि ।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है। व्यवहार से संपूर्ण द्रव्यों को जानना-देखना स्वभाव है इसका। निश्चय से तो निज को ही जानता-देखता है। ऐसा अनुपम-अखण्ड चैतन्य-प्रभु तेरा है, उसी की शरण प्राप्त कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भोगत्तो रक्खणं जोइ-पुरिस-उज्जोगो

विण्णप्पा! धण्णा जे जीवा, जे वीदरागी-णिग्गंथ-भावलिंगी-समणाणं पाद-वंदणं करेंति; तेसिं जीवाणं पुण्णस्स बलिहारी। जेसिं गहे समणाणं चरणागमणं, तेसिं पबल-पुण्णोदयो। सो अक्खय-पुण्ण-करंडो जो अंतोकरण-परित्तादो तेसिं करकमलेसुं सुद्धं णिद्दोसं पिंडं देदि। भो णाणी! जेसिं चरण-वंदगो दाण-दायगो इयत्तो पुण्णवंतो जीवो, पुण ते समणा कियत्ता पुण्णवंता? तं जहा अमिदगदि-सामिणा भणिदं-

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितं,
विज्ञायेत्यशुभं निहंतु-मनसो ये पोषयंते तपः।
जायंते समसंयमैक निहधयते दुर्लभा योगिनो,
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते।।

भोगों से बचना योगी पुरुषों का पुरुषार्थ है

हे विज्ञात्मन्! वे जीव धन्य हैं जो वीतरागी निर्ग्रंथ भावलिंगी श्रमणों की चरण-वंदना करते हैं, उन जीवों के पुण्य की बलिहारी हो। प्रबल पुण्योदय समझो उनका, जिनके गृह में उनके चरण पड़े। वह व्यक्ति अक्षय पुण्य का भंडार है, जिसने अंतःकरण से पवित्र होकर उनके कर-कमलों में शुद्ध/निर्दोष पिण्ड को दिया है। भो ज्ञानी! जिनकी चरण-वंदना करनेवाला व दान देनेवाला इतना पुण्यवान् जीव है, फिर वे मुनीश्वर कितने पुण्यवान् होंगे? आचार्य अमितगति स्वामी ने 'बृहद् सामायिक पाठ' में कहा है कि-''पूर्व में बंधा हुआ अशुभ कर्म दुःख पैदा करता है, जबकि शुभ कर्म सुख पैदा करता है। ऐसा जानकर जो इस अशुभ को नाश करने के भाव से तप करते हैं और समता तथा संयमरूप हो जाते हैं, ऐसे योगी भी दुर्लभ हैं। परंतु जो पुण्य व पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों के नाश में लवलीन हैं, उन योगियों की तो बात ही क्या कहनी है।''

एत्थ णिग्गंथमुद्दाय महिमादंसणं। इह भोदिगजुगे भोगादो भोग-भावणादो रक्खणं दुग्गमं, इदं संकेदं। पुरिसम्हि अज्ज इयत्ता सत्ती णत्थि, जेणं से कसायवेगं अवरोहेदु। सो कामादि-कसायवेगम्हि झत्ति अप्प-पदणं करेदि। अज्ज ते जीव विरला जे भोगा णवि भुंजेज्जा, अपित्त भोगा पुण्णरूवेणं पडिमुंचेदु। ते सिविणे वि भोग-भावणं णवि उप्पादेंति, चित्ते णवकोडीओ सुद्ध-संजमाचरणं पालेंति एवं सरूवाचरणं पडि रदा अग्गसरा वा। ते समणा धण्णा कोडिसो धण्णा। भगवं! एरिसा समणा वयं तियाल-वंदणं गेण्हेज्जा। णंतहुत्तं णमोत्थु णमोत्थु णमोत्थु।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

यहाँ पर आचार्य महाराज ने निर्ग्रंथ मुद्रा की महिमा को बताया है। ये संकेत दिया है कि इस भौतिक युग में भोगों से तथा भोगों की भावनाओं से बचकर रह पाना बहुत कठिन है। आज पुरुष के अंतरंग में इतनी शक्ति नहीं है, जो कषाय के वेग को रोक सके। वह कामादि कषाय के वेग में शीघ्र ही अपना पतन कर बैठता है। आज के जीव विरले हैं, जिन्होंने भोगों को भोगा हीन नहीं है, अपितु भोगों को पूर्णरूपेण छोड़ दिया हो। वे स्वप्न में भी भोग-भावना को जन्म नहीं देते, अपने मन में नवकोटि से शुद्ध संयमाचरण का पालन करते हैं तथा स्वरूपाचरण की ओर अग्रसर तथा लीन हैं। उन मुनीश्वरों को धन्य हो, कोटिशः धन्य हो। हे भगवन्! ऐसे मुनीश्वर हमारी त्रिकाली वंदना को स्वीकार करें। अनंत बार नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु!

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सग-लक्खं किच्चा जीवेहि

विण्णप्पा! संजम-मग्गे किमत्थं तुमं परिगमेसि? किं तुव सदुद्देस्सो? किं तुमं लक्खं विणा परिगमेसि? लक्ख-णिक्खित्त-कज्जं कारगो मूढ-सिरोमणी। कोवि पुच्छीअ-अज्ज कत्थ किमत्थं च गच्छेसि? सो भासिदो-कत्थ वि णत्थि, किंपि कज्जं णत्थि। मंदबुद्धीए वि सीमा होदि। तुमं सग-लक्खं किच्चा जीवेहि। हे जोगी! लक्खं परमट्ठभूदं किच्चा जीवेहि। लोग-आडंबरं दट्ठूणं साहु-पुरिसचित्तं पि होदि चंचलं। हे जोगी! जदि इच्छेसि परलोग-णिम्मलत्तं तु किमत्थं इच्छेसि खादि-पूया-लाह-सक्कारादिं च? एदे सव्वे तुव रिवुणो। णिच्छयणएणं खलु णियप्पदव्वं तुव अत्थि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

अपना स्व-लक्ष्य बनाकर जीना सीखो

हे विज्ञात्मन्! तू संयम-मार्ग पर क्यों चल रहा है? तेरा सत् उद्देश्य क्या है? क्या तू बिना लक्ष्य के ही चल रहा है? लक्ष्य-विहीन कार्य करने वाला मूर्ख-शिरोमणि हुआ करता है। कोई व्यक्ति कहीं जा रहा था। किसी ने पूछ लिया-आप कहाँ जा रहे हैं और क्यों जा रहे हैं? उसने कहा-कहीं नहीं, कोई काम नहीं है। अरे भैया! मंदबुद्धि की भी सीमा हुआ करती है। तू अपना स्व लक्ष्य बनाकर जीना सीख। हे योगी! लक्ष्य को परमार्थभूत बनाकर जीना सीखो। लोक का आडम्बर देखकर साधु-पुरुषों का भी मन चंचल हो उठता है। हे योगी! तू यदि परलोक निर्मल करना चाहता है तो ख्याति, पूजा, लाभ, सत्कार आदि क्यों चाहता है? ये सब तेरे शत्रु हैं। निश्चय से निज आत्म-द्रव्य ही तेरा है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सद-संजमवेदणे अक्ख-विसया णवि अहिरुयंति

विण्णप्पा! धण्णा ते जीवा, जे देह-अक्ख-भोगत्तो णियपरिणदिं विओजिज्जा। ते मुत्तिं मुट्ठीए मड्डेंति। णूणं सुतवेणं कज्जसमयसार-लाहो। वेरग्ग-भाविद-मुमुक्खू पस्सेदि परदव्वाणि जिण्ण-तिणमिव। सो अणासत्त-जोगी मेत्तं आदरमणी-रत्तो। सो णिप्पुह-रिसी रदणत्तय-धम्मं हि इच्छेदि। सो आदरस-भोगी-संजदो मेत्तं अज्झप्प-रसं भुंजेदि, णेव अण्णरसं। जो एगहुत्तं णियसरूव-पाणं करेदि, सो पुणो अवर-पाणं पडि अणासत्तो। लवण-समुद्द-खारणीरं तावं अण्णो पिबेदि, जावं खीरसायरस्स दुद्धमय-पय-पाणं णो करेदि। तावं मूढा कुदिट्ठि-देवाराहणं करेंति, जावं सम्म-वीदरागी-देवाहिदेवं णो जाणेंति। जो एगहुत्तं लहेदि जिणवर-सरणं

सत्-संयम का वेदन होने पर इंद्रियों के विषय भी रुचिकर नहीं लगते

हे विज्ञात्मन्! वे जीव धन्य हैं, जिन्होंने शरीर, इंद्रिय और भोगों से निज परिणति को पृथक् कर लिया है। उन जीवों ने मुक्ति को अपनी मुट्ठी में दबा लिया है। सम्यक् तप से ही कार्य-समयसार की प्राप्ति हो सकती है। वैराग्य से भीगा मुमुक्षु पर-द्रव्यों को जीर्ण तृणवत् देखता है। वह अनासक्त योगी मात्र एक आत्मरमणी से ही राग रखता है। वह निस्पृह ऋषि रत्नत्रय-धर्म में ही अपनी चाह रखता है। वह आत्मरस-भोगी (वर्णी) संयमी मात्र अध्यात्म-रस का ही भोग करता है, अन्य का नहीं; क्योंकि जिस जीव ने एक बार निज स्वरूप का पान कर लिया है, वह पुनः अन्य पान की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता। सत्य है, लवण-समुद्र का क्षार-पानी तभी तक अज्ञ-प्राणी पी सकता है, जब तक क्षीरसागर के दुग्धमय पय का

पुणो तस्स अवर-सरणं विप्पणस्सेदि। तहेव जो एगहुत्तं सु-संजमस्स आणंदं वेदेदि, पुणो तस्स सुलहअम-इंदियभोगा अरुइकरा। जीए णारीए जुगल-थणं रागिणो कलस-उवमं देंति, ते हु वीदरागी होदूणं मंसपिंडं भासिय मुंचेंति एवं ताणि णवि पस्सेंति। इमा वेरग्ग-महिमा। तम्हा ते जीवा धण्णा भणिदा। ते जीवा धिगत्थु, जे संजम-णिहिं लहिदूणं अणादरं किदा अहवा मुंचिदा। वमण-सेवणं वरं चत्तवत्थु-सेवणं वरं णत्थि। विसुद्धसायर! पाण-कंठगदे सिविणे वि चारित्त-पदण-चिंतणं मा कुणेहि अण्णहा होहिसि णिगोद-पत्तो। संलक्ख आदधम्मं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

पान नहीं किया हो। मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना तभी तक मूढ़-प्राणी करते हैं, जब तक सच्चे वीतरागी देवाधिदेव को नहीं जान पाते। जो एक बार जिनदेव की शरण में पहुँच जाता है फिर उसे अन्य की शरण समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार जिसने एक बार सत्-संयम के आनंद का वेदन कर लिया हो, फिर उसको सुलभ-से-सुलभ इंद्रिय-भोग रुचिकर नहीं लगते। जिस नारी के स्तन-युगल को रागी कलशों की उपमा देते हैं, वे ही विरागी होकर माँस के पिण्ड कहकर छोड़ ही नहीं देते अपितु उनकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। यह विराग की महिमा है। इसलिए उन जीवों को धन्य कहा है। परंतु वे जीव धिक्कारने के ही योग्य हैं जिन्होंने संयम-निधि को पाकर भी आदर नहीं किया अथवा छोड़ दिया। वमन का सेवन श्रेष्ठ है, परंतु एक बार त्यागी वस्तु का सेवन अच्छा नहीं है। प्राण कंठगत भी क्यों न हों, हे विशुद्धसागर! स्वप्न में भी चारित्रपतन के विचार नहीं लाना, नहीं तो निगोद का पात्र बनेगा। ध्यान रख, आत्म-द्रव्य को लख।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

पर-उण्णयणेणं किमु णासेसि णियतच्चणेत्तं

विण्णप्पा! आइरिय-माघणंदी-सामी झाणसुत्ताणि-समए दिव्वसुत्ताणि करुणाए लेहेदि। तेसुं सुत्तेसुं किंचणं विचिंतेहि, किं तुव रूवं अत्थि, किं णत्थि? जावं णो तच्चसरूव-णाणं, तावं णो तच्चे सम्मसद्धाणं पि। तं जहा 'तस्य भावस्तत्त्वम्'। कस्स भावो? पदत्थस्स। तच्चं वत्थुसहावो। छद्दव्वाणं जो णिय-णिय-भावो, सो चेव तेसिं सहावो। किं तुव सहावो? एवंविह-पण्हं सगेणं कुणेहि। तुमं सगस्स उत्तरं, सगत्तो भजेज्जा। परभावेसुं णियभाव-मण्णत्तेणं तुमं तुव णियतच्चवेदणं अज्जपज्जंतं णो होसी। जदि तुमं णियभावं एगवारं पि जाणेसि, तु तुमं तच्च-णिण्णए विलंबो णो होदि। पढमो तुज्झ तच्चणिण्णयो आवस्सगो। सग-पर-णाणे परपदत्थादो अवसरणे

पर-सुधार के बहाने निज-तत्त्व की आँख क्यों नष्ट कर रहा है?

हे विज्ञात्मन्! आचार्य भगवंत माघनंदी स्वामी ने अपने महान् ग्रंथ 'ध्यान-सूत्राणि' में बहुत सुंदर सूत्र हम सभी पर करुणा-बुद्धि से लिखे हैं। तू जरा उन सूत्रों पर चिंतवन तो कर, तेरा रूप क्या है, क्या नहीं है ? जब तक तत्त्व-स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, तब तक तत्त्व पर सत्-श्रद्धान भी नहीं बनता। तत्त्व का स्वरूप पूज्यपादस्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रंथ में लिखा है 'तस्य भावस्तत्त्वम्' अर्थात् उसका भाव तत्त्व कहलाता है। किसका भाव ? पदार्थ का। वस्तु का जो स्वभाव है, वह तत्त्व कहलाता है। षट्द्रव्यों को जो निज-निज भाव है, वही उनका स्वभाव है। तेरा स्वभाव क्या है ? इस प्रकार का तू प्रश्न स्वयं से कर। तुझे स्वयं का उत्तर, स्वयं से प्राप्त हो जाएगा। पर-भावों से निज-भाव की मान्यता ने तुझे तेरे निज तत्त्व का

णो होदि बिलंबो। मूढो परचिंतणे समयं णासेदि। जस्स लद्धीए मणुय-पज्जाए जादो, तं तच्चणिण्णयं णवि पस्सेदि। वदीजीवणं पि गेण्हिदो, तत्थ वि अण्ण-चरियं सुवड्ढणे रदो, णिय-चरियाए णो चिंतणं। किमु होसी वदी? किं मेत्तं परणिंदाए अप्प-पसंसाए अण्ण-दोस-सुसोहणट्ठं च?

बंधु! पढमं संवड्ढेहि णिय-दोसं। तुमं किमु पर-संसोहण-कत्ता अप्पं मण्णेसि? रे मूढ! तुमं णिमित्तं तु, उवादाणो जीवस्स सगस्स एवं। धम्मदव्व-सरिसं हुव उदासीण-णिमित्तं, णेव पेरग-णिमित्तं, एसो जिणोवएसो। किमत्थं पर-संसोहणेणं णियतच्च-णेत्तं णासेसि? जावदु जीवो पर-परिणदीए गच्छेदि, तावदु हि दुक्खस्स तिव्ववेयणं करेदि। सगं जगकत्ता-मण्णत्तं अहवा अण्णं जगकत्ता-मण्णत्तं उहय-अवत्था

आज तक वेदन नहीं होने दिया। यदि तू निज भाव को एक बार भी समझ लेता, तो तुझे तत्त्व-निर्णय में देर न लगती। सर्वप्रथम तुझे तत्त्व-निर्णय करने की आवश्यकता है। आपा-पर का भान हो जाए जो फिर पर-पदार्थों से हटने पर देर नहीं लगेगी। अज्ञ प्राणी पर-चिंतवन में समय नष्ट कर रहा है। जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य-पर्याय प्राप्त हुई भी उस तत्त्व-निर्णय की ओर तो दृष्टिपात ही नहीं कर रहा। माना कि व्रती-जीवन भी स्वीकार किया, तो वहाँ भी अन्य की चर्या सुधारने में लग गया, निज-चर्या पर ध्यान ही नहीं रखा। क्यों व्रती बना था ? क्या मात्र परनिंदा, स्व-प्रशंसा के लिए, अन्य की मात्र भूल सुधारने के लिए ?

अरे भैया! तेरी सर्वप्रथम जो प्रबल भूल है, उसे तू क्यों नहीं सुधार रहा ? क्यां तू पर-का सुधारकर्ता अपने को बनाकर बैठ गया है ? क्या तू पर के उपादान को बदल सकता है ? अरे मूढ़! तू निमित्त तो बन सकता है, परंतु उपादान जीव का स्वयं का ही होता है। जिनदेव ने उपदेश दिया था कि धर्म-द्रव्य के समान उदासीन निमित्त बन, प्रेरक निमित्त नहीं। तू क्यों पर-सुधार के पीछे निज-तत्त्व की आँख को नष्ट कर रहा है। जो जीव

आदधम्मस्स विवरीदा। तुव सग-भावो वीदराग-भावो। तं जहा सुत्ते-'रागद्वेषमोह-रहितोऽहम्'। रागद्दोस-महाणीए तुमं भवसायरे णिवुड्डेसि। सयलकम्म-राया मोहो। मोहो जो भासेदि, सो होदि। भो चेयण्ण! णाण-सरेणं मोहरायं तुमं णस्सिय, कुण संजम-दुग्ग-रक्खणं। सयं तुमं णो चक्केसो, वस-चक्केसो एव।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

जितना पर-परिणति में जाता है, उतना ही दुःख का तीव्र वेदन करता है। जगत्कर्ता स्वयं को बना बैठना अथवा दूसरे को मान बैठना, उभय अवस्था आत्मधर्म के विपरीत है। तेरा स्व-भाव वीतराग-भाव है। आचार्य भगवन् वही तो अपने सूत्र में कह रहे हैं-'रागद्वेषमोहरहितोऽहम्'। राग-द्वेष की मथानी से तू संसार में गोते खा रहा है। मोह तो संपूर्ण कर्मों का सम्राट् ही है। यह जो कहता है, वही होता है। भो चैतन्य! ज्ञानरूपी बाण से मोह-रजा को तू नष्ट कर, संयम-दुर्ग की रक्षा कर। तू स्वयं चक्रेश ही नहीं, वृष-चक्रेश है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

कुण सम्म-उज्जमं, तुमं तुव पहुं भजेज्जो

विण्णप्पा! चेयण्णं धुव-अखंड-चिदरूवं च तुव सरूवं। तुमं हि पंचपरमगुरू, तुमं हि तित्थेस-पहु। तुज्झम्हि सव्वसत्तिमाण-अवत्था विज्जमाणा। जं वड्ढमाणो पस्सीअ, तं परम-सत्तं तुमं पि पस्स। जदि बाल-वड्ढमाणो णियसत्तं सत्ता णो मण्णीअ, दु सो वड्ढमाण-भगवं पि चरम-तित्थेस-पदं णवि पत्तो। सीह-पज्जाए णियसत्ताए पगासगा णिमित्तभूदा वे समणा हिंडंतं भगवंतं जग्गीअ उग्घाडीअ। अब्भिंतर-णिमित्तं तस्स अप्पस्स उवादाण-जोग्गत्तं। बहिरंग-णिमित्ताणि समण-जुगला। ते उवदिस्सीअ-भो भावी-भगवं! भावी-चरमतित्थेस! अहिंसा-णादग! तुमं किं किच्चं करेसि? किंचि पस्स अप्प-भावी-सरूवं, तम्हि विचिंतेहि, किं णिरीहमिग-हिंसा तुव कम्मं? तुमं तु मिगराया। राया रक्खेदि ण दु

सम्यक् पुरुषार्थ कर, तेरा प्रभु तुझे प्राप्त हो जावेगा

हे विज्ञात्मन्! तेरा स्वरूप चैतन्य, ध्रुव, अखण्ड, चिद्रूप है। तू ही पंच-परमगुरु है, तू ही तीर्थेश प्रभु है। तेरे अंदर सर्वशक्तिमान अवस्था विराजमान है। तू जरा उस परम सत्ता परम दृष्टिपात तो कर, जिस पर दृष्टि वर्द्धमान ने डाली थी। यदि बाल वर्द्धमान निज-सत्ता को सत्ता नहीं समझते तो वे वर्द्धमान भगवान् भी अंतिम तीर्थेश पद को प्राप्त नहीं होते। देख, सिंह की पर्याय में निज सत्ता का भान करानेवाले निमित्तभूत वीतरागी दो श्रमणराज थे, जिन्होंने भूले-भटके भगवान् को जगा दिया, प्रकट करा दिया। अंतरंग निमित्त तो उस आत्मा के उपादान की योग्यता थी। बहिरंग निमित्त मुनि-युगल थे। मात्र इतना ही उपदेश दिया था कि भो भावी भगवान्! अंतिम तीर्थंकर बननेवाले, अहिंसा का नाद करनेवाले तू ये कौन-सा कृत्य करने जा रहा है ? जरा अपने भावी स्वरूप को तो देख, उस

भक्खेदि। धरणी देव-वीदराग-समणाणं वीदराग-पुण्ण-वयणं सोच्छिय मिगराया कंदीअ। णिय-भगवंत-मिदी जादीअ, णिय-किच्चे सय-सय-अस्सू खिरीअ। हा! हा! किं किदो हं? किं हं पि होहिमि भगवं? वीदराग-समण-वयणं किं कदा होदि असच्चं? जं जिणवरो भणिदं, तमेव एदे भासेंति। कदावि जिणा अण्णहा णो भासेंति, इदं दिढ-सद्धाणं मिगरायं हवीअ।

णियपहु-पगडीकरण-किरिया आरंभीअ। अणुव्वदाणि गेज्झीअ। भो चेयण्ण! मिगराया मिगं हिंसीअ, समणा उवएसं सोच्छिय तस्स अणादि-काल-दोसो संवड्ढीअ, सो हवीअ भगवं-महावीरो। धिगत्थु तुव, कियत्तादो भवादो कियत्ताणं जीवाणं दव्वभाव-पाण-विओगं करेसि? कियत्तं गुरूवएसं तुमं सुणीअ, पुणरवि अज्जपज्जंतं अप्पदोसं णवि संवड्ढेसि।

पर विचार कर, क्या यह तेरा कर्म है निरीह मृग पर वार करना ? तुझे तो मृगराज कहा जाता है। राजा तो रक्षा करता है, भक्षण नहीं। धरती के देवता, वीतरागी मुनिराजों की वीतरागपूर्ण वाणी सुनकर मृगराज के नयन सजल हो उठे। निज के भगवान् की याद सताने लगी, निज के कृत्य पर सौ-सौ आँसू आँखों से टपकने लगे। हाय! हाय! ये मैंने क्या किया ? क्या मैं भी भगवान् बनूँगा ? उसे वीतरागी संतों की वाणी क्या कभी असत्य हो सकती है ? ये तो वही कहते हैं जो जिनदेव ने कहा है। जिनदेव कभी अन्यथा पोषण नहीं करते, ऐसा दृढ़ श्रद्धान मृगराज को हो गया।

निज प्रभु को प्रकट करने की क्रिया प्रारंभ हो गई। अणुव्रतों को स्वीकार किया। भो चैतन्य! मृगराज ने एक मृग पर वार किया था, दो मुनराजों के उपदेश को सुनकर उसकी अनादि काल की भूल सुधर गई, वे भगवान् महावीर स्वामी बन गए। परंतु धिक्कार है तुझे, कितने भवों से कितने प्राणियों के द्रव्य व भाव प्राणों का वियोग तूने कराया है ? कितने गुरुओं के उपदेश तूने श्रवण किए, फिर भी आज तक तू अपनी भूल नहीं सुधार पा रहा है। निज भूल को स्वीकार कर। निज निंदा, आलोचना,

णियदोसं गेज्झेहि। कुणेहि णियणिंदं आलोयणं पडिक्कमणं पच्चक्खाणं च। कुणेहि पायच्छित्तं अहुण समयो, अण्णहा पुणो भवसायरे णिबुड्डेज्जा। तम्हा भो मणीसी! तुमं अज्ज वि संभल। भविस्सं तुमं णो जाणेसि। कुणेहि सम्म-उज्जमं तुव पहुं तुमं भजेज्जा।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान कर। प्रायश्चित्त कर ले, अभी भी समय है, अन्यथा, पुनः भवसागर में गोते लगाने पड़ेंगे। फिर तू पश्चात्ताप की ज्वाला में जलेगा, कुछ भी हाथ नहीं आएगा। इसलिए, भो मनीषी! तू आज भी संभल जा। भविष्य को तू नहीं जानता। सम्यक् पुरुषार्थ कर, तेरा प्रभु तुझे प्राप्त हो जाएगा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

आदणाणं जीवणसारो

विण्णप्पा! जीवणसारो आदणाणं। अंतरेण आदणाणं तव-जव-चारित्ताणि पुण्णासव-कारणाणि, ण दु संवर-णिज्जरा-कारणाणि। भो चेयण्ण! गणहर-भगवंतो णाण-महिमं भणिदं। णाणिस्स सम्म-चरिया होदि मोक्खदायिणी। कुदिट्ठि-अण्णाणिस्स किरिया-चरिया संसार-वड्ढणी होदि। मिच्छत्त-अवत्थाए अज्जिदं पावासवं कम्मबंधं च सण्णाण-दंसण-चरित्तेहिं जीवो णासेदि, णाणेणं जाणिदूणं पि संजमे सम्मत्ते जो अज्जेदि दोसं सो करेदि कम्म-वज्जलेवं। पुणो तं कम्मबंधादो परमप्पा वि णो रक्खेदि। तम्हा जदि णियप्प-सिद्धि-वंछा दु तुमं णियभावा पवित्तिदूणं सम्म- साहणाए रज्जेहि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

आत्मज्ञान जीवन का सार

हे विज्ञात्मन्! आत्मज्ञान जीवन का सार है। बिना आत्मज्ञान के चारित्र, तप, जप सब पुण्यास्रव के मात्र कारण हैं; संवर निर्जरा के नहीं। भो चैतन्य! ज्ञान की महिमा गणधर भगवंत ने कही है। ज्ञानी जीव की सम्यक् चर्या मोक्षदायिनी हुआ करती है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की क्रिया-चर्या सब संसारवर्द्धनी हुआ करती है। परंतु ध्यान रख, मिथ्यात्व/अज्ञानदशा में जीव ने जो पापस्रव तथा कर्मबंध किया था, उसे तो वह सत्ज्ञान, दर्शन, चारित्र के माध्यम से नष्ट कर लेता है, लेकिन ज्ञान से जानकर भी संयम में, सम्यक्त्व में जो दोष उपार्जन करता है वह कर्मों का वज्रलेप करता है, उसे फिर कर्मबंध से परमात्मा भी नहीं बचा सकता। इसलिए तू निज भावों को निर्मल कर सम्यक् साधना में रत हो जा, स्वात्म-सिद्धि की वाँछा है तो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

सोह-परग-णाणं आवस्सगं

विण्णप्पा! आगमणाण-लद्धी आवस्सगा। आगमणाणं विणा समण-सक्किदि-संरक्खणं सवड्ढणं च असंभवं। अज्ज तक्कजुगो। विणा तक्केणं तक्कवादिं णवि उवसमदे। जिणदंसणं आगम-पमाणं तक्क-पमाणं च पडिवज्जेदि। अज्ज णगण्णं दंसण-समय-अज्झयणं। धम्मसमय-अज्झयणं वावार-खादि-दिट्ठीदो होदि। किं गहण-अज्झयणं णवि देदि खादिं? पूया-पाढ-पवयण-करणं च जो णाणी जाणेदि, तं उत्तम-पंडिदो भासदे। विरला-जीवा होदि गंभीर-सिद्धंतागम-अज्झप्प-णाणं। तदणुरूवो उज्जोगो णत्थि। साहु-वग्गे वि इह विसए सुण्णत्तं दीसेदि। इमेसिं लक्खं विउल-भिण्णं होदि, जइवि इमेहिं समण-सक्किदि-पूयणं होदि। साहिच्च-पक्खं

शोधपरक ज्ञान की आवश्यकता है

हे विज्ञात्मन्! आगम-ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। बिना आगम-ज्ञान के श्रमण-संस्कृति का संरक्षण-संवर्द्धन संभव नहीं है। आज तर्क का युग है। बिना तर्क के तर्कवादी को शांत नहीं किया जा सकता। जैन-दर्शन आगम-प्रमाण व तर्क-प्रमाण दोनों को स्वीकारता है। दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन आज नगण्य हो गया है। धर्मशास्त्रों का अध्ययन व्यापार-दृष्टि से व ख्याति की दृष्टि से हो गया है। पर क्या गहन अध्ययन ख्याति नहीं दिलाएगा? पूजा-पाठ, प्रवचन करना जो विद्वान् जानता है, उसे श्रेष्ठ पंडित कहा जा रहा है। गहनतम सिद्धांत, आगम, अध्यात्म का ज्ञान विरले जीवों को है। पुरुषार्थ तदनुकूल नहीं चल रहा है। साधुवर्ग में भी इस विषय में शून्यता दृष्टिगोचर हो रही है। इनका लक्ष्य बहुत भिन्नता की ओर जा रहा है, जबकि इनके नाम से ही श्रमण-संस्कृति पूजी जाती है। साहित्य-पक्ष दृढ़ करने का पूर्ण अधिकार तो द्वितीय वर्ग को ही है। सामान्य लेखन, कविता कोई मायने नहीं रखती। शोधपरक ज्ञान की

दिढकरणस्स पुण्णाहिगारो विदीय-वग्गं एव अत्थि। कविया-सामण्ण-लेहणं च अविसेसं। सोह-परग-णाणं आवस्सगं। णिम्माण-कज्जे अहवा णिय-संकलिद-पुत्थग-पगासणे अहिग-लक्खं अत्थि। भरहसायरो किदो उत्तम-कज्जं। सो पंचहत्तरि-गंथाणं पगासण-कज्जं कारेदि, तेसुं अहिगदो आगम-गंथा। इदं कज्जं अणुकरणीयं। पंथवाद-संपदायवाद-वत्तिवाद-रहिदादो णिम्माण-कज्जं पि होदु। सग-पदिट्ठा-बुभुक्खिद-तहाकहिदेहिं समण-सक्किदि-दसा दीसेदि। दियंबरमग्ग-पगासणं आवस्सगं। सयल-वग्गवंतेसुं एगदिट्ठिं ठविदूणं होदु समण-सक्किदि-विगासो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

आवश्यकता है। निर्माण-कार्य पर अधिक लक्ष्य जा रहा है या फिर निजी संकलित पुस्तकों के प्रकाशन में। भरतसागर जी महाराज ने श्रेष्ठ कार्य किया। उन्होंने 75 ग्रंथों का प्रकाशन-कार्य कराया है, उनमें अधिकांशतः आगम-ग्रंथ हैं। यह कार्य अनुकरणीय रहा है। निर्माण-कार्य भी हो, परंतु पंथवाद, सम्प्रदायवाद, व्यक्तिवाद से रहित हो। स्व-प्रतिष्ठा के भूखे तथाकथित व्यक्तियों के द्वारा श्रमण-संस्कृति का हाल देखा जा रहा है। दिगम्बर-मार्ग को प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। सभी वर्ग वाले लोगों पर एक दृष्टि रखकर श्रमण-संस्कृति का विकास हो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

चित्तस्स णिम्मलत्तेणं होदि समयस्स गूढरहस्स-णाणं

विण्णप्पा! जाणेहि वत्थु-वुवट्ठं। आगमो गूढ-अत्थ-परिपुण्णो। जो जाणेदि आगम-विवक्खं सम्म-रूवे, सो लहेदि सद-सरूवं दुक्करं कज्जं। जह जह जीवस्स परिणामा णिम्मला, तह तह खवोवसमे वड्ढी वि होदि। णाण-वड्ढीए दिव्व-मज्झमा परिणाम-विसुद्धी संजम-वित्ती वा। कुंदकुंददेवो विदीय-सुदक्खंदे लेहिदो एवं परावर-आइरिया वि पढम-विदीय-सुदक्खंधे लेहिदा, तं तेसिं परिणामविसुद्धि-णाणगरिमाए पडिफलं। ता कियत्तं अगाध-णाणं होज्जा? ते जे गंथा सल्लिहीअ, खावोवसम-हीणत्तेणं पमाद-वित्तीए ये जेसिं महा-गंथाणं अज्झयणं पि सामण्णजणा णो करेंति। वयं गंथा पुण्णरूवेणं णवि जाणेमो, एसो सव्वहा णत्थि। तहेव पुरिसत्थो

अंतःकरण की निर्मलता से ही आगम के गूढ़ रहस्यों को समझा जा सकता है

हे विज्ञात्मन्! तू वस्तु-व्यवस्था समझ। आगम गूढ़-अर्थों से पूर्ण है। जिसने आगम-विवक्षा को सही रूप में समझ लिया, वह सत्-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। कठिन कार्य है। जैसे-जैसे जीव के निर्मल परिणाम होते जाते हैं, वैसे-वैसे क्षयोपशम में भी वृद्धि होती है। ज्ञान-वृद्धि का सुंदर माध्यम परिणाम-विशुद्धि, संयम-वृत्ति होती है। भगवान् कुंदकुंददेव ने जो द्वितीय श्रुतस्कंध पर अपनी लेखनी चलाई है तथा पूर्व, अपर अन्य आचार्य-भगवतों ने प्रथम-द्वितीय श्रुतस्कंध पर लेखनी चलाई है वह उनकी ज्ञान-गरिमा एवं परिणामों की विशुद्धता की ही देन है। उन्हें कितना अगाध ज्ञान होगा ? जिन ग्रंथों का उन्होंने सृजन किया, सामान्यजन उन महान् ग्रंथों का अध्ययन भी नहीं कर पा रहे हैं; क्षयोपशम की कमी तथा

वि णवि कुणेमु। मए दिट्ठीए वर-अज्झेदा-णाणीभावट्ठं च सयल-वियप्प-रहिदादो एगंतवासी होदूणं अदि-अहिग-समयो सत्थ-सज्झाए दिज्जा, विहूण-झुणिजंत-मंच-माला-रसिगदादो। तदा कोवि णो आगमेज्जा, णवरि वीदराग-परमागमे अवगाहणट्ठं णाण-मुत्ती होदूणं चिट्ठेदि। तम्हा भो मुमुक्खु! कुणेहि गहणअम-सुदब्भासं। दद्धयाले मण-वसीकरणस्स मूलमंतं सुदब्भासो। मण-मक्कडं उवसमेदुं चदु-अणुओगा दोहेहि, तुमं केवली-आणंदं णवि लहेहिसि, किंदु केवलिणो आणंद-अणुभूदि-सद्धादो पूरेहिसि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

प्रमादवृत्ति के कारण। ऐसा भी सर्वथा नहीं है कि हम ग्रंथों को पूर्ण समझ ही नहीं सकते। अरे भैया! पुरुषार्थ भी हम नहीं कर पा रहे वैसा। मेरी सोच है कि एक श्रेष्ठ अध्येता, ज्ञानी बनने के लिए संपूर्ण विकल्पों से रहित होकर एकांतवासी होकर अधिक से अधिक समय शास्त्र-स्वाध्याय में ही लगाया जाए, माइक-मंच-माला की रसिकता से रहित होकर। उस समय कोई आने की शक्ति नहीं रख पाएगा, क्योंकि वीतराग परमागम में अवगाहन करने ज्ञान की मूर्ति बनकर बैठा है। इसलिए, भो मुमुक्षु! तू गहनतम श्रुत-अभ्यास कर। कलिकाल में मन को वश में करने का मूलमंत्र है श्रुताभ्यास। मन-मर्कट को शांत रखना है तो चारों अनुयोगों का दोहन करना प्रारंभ कर, तू केवली के आनंद को तो नहीं पाएगा परंतु केवली के आनंद की अनुभूति और श्रद्धा से भर जाएगा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

पहुत्त-जणणी साहुत्तं

विण्णप्पा! पडिक्खणं साहुत्त-गवेसणे रदो साहु-पुरिसो। जत्तो साहुत्त-गवेसण-अभावो, तत्तो साहुत्तं पि विरमाणेदि। साहुत्तं पडि आदरभावो जागरणं च साहु-जीवणे आवस्सगं। विउल-साहु-वेसधारी पाडुब्भवेंति, णं साहु-पुरिसा एगो वे होंति। साहु-पुरिसा वत्तिस्स वत्तित्त-मेत्त-आदरं णवि करेंति, अपित्त गुणादरं सम्मत्त-णाण-चारित्त-आदरं च करेंति। पडिक्खणं अप्पजागरण-झाणं करेंति। जेहिं पच्चएसिं साहुत्ते णूणत्त-संभावणा होदु, विवेगी-साहू तादो तादो पच्चयादो रक्खेदि। अब्भिंतर-विसुद्धि-घादगा दव्वखेत्तकालभावा वि हेया। ते बहिदो कियत्ता वि लाह-दायगा होंतु, परमट्ठभूद-आदहिदेसी-मुमुक्खुं सीहमुह-पवेसोव्व ते दूरदो आमुंचेज्जा।

साधुता भगवत्ता की जननी है

हे विज्ञात्मन्! साधु-पुरुष वही है, जो प्रतिक्षण साधुता की खोज में लीन रहे। जहाँ से साधुता की खोज चली जाती है, वहाँ से साधुता भी पलायन करना प्रारंभ कर देती है। साधुता के प्रति आदरभाव और साधुता के प्रति जागरण साधु-जीवन में अनिवार्य है। बहुत साधु-वेषधारी जन्म लेते हैं, परंतु साधु-पुरुष कोई-कोई ही होते हैं। साधु-पुरुष व्यक्ति के व्यक्तित्व मात्र का आदर नहीं करते, वे तो गुणों का आदर करते हैं; चारित्र, सम्यक्त्व और ज्ञान का आदर करते हैं। प्रतिक्षण स्व-जागृति का ध्यान रखते हैं। जिन प्रत्ययों से साधुता में कमी की संभावना हो, विवेकी साधु उन-उन प्रत्ययों से बचकर रहता है। ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव हेय हैं जो अंतरंग की विशुद्धता के घातक हैं। वे चाहे कितने भी बाह्य में लाभकारी क्यों न हो, परंतु परमार्थभूत आत्महितैषी मुमुक्षु-जीव को सिंह-मुख में प्रवेश की भाँति उनको दूर से ही त्याग देना चाहिए। जीवन में साधुता की रक्षा करना बहुत कठिन कार्य है। जिस ज्ञानी साधु-पुरुष ने अपनी साधु-

जीवणे साहुत्त-रक्खणं विउल-दुक्करं कज्जं। जो णाणी-साहु-पुरिसो करेदि अप्प-साहु-सज्जणत्त-रक्खणं, सो करेदि सग-जीवणे पहुत्त-रक्खणं णवरि साहुत्तं पहुत्त-जणणी एव। साहुत्त-लाहेणं विणा किं पहुत्त-लाहो संभवो? णेव साहु-पुरिसा परमेसर-अवत्थं भजेंति, असाहु-पुरिसा कदावि णो भजेंति पहुत्तं। जावदिया अज्जपज्जंतं सिद्धा होसी, होहिंति अहवा होंति, ते सव्वे परम-सामाइग-साहु-पुरिसा। ते जीवा होंति भगवंता, जे णिम्मल-साहुत्तं उग्घाडेंति। भो चेयण्ण-णाणघण-अप्पा! तुमं अप्प-णिम्मल-साहुत्तं पुण्ण-सुरक्खिदं किच्चा, पहुत्तस्स अग्गिम-पहे संचरेहि, मा कुणेहि वियप्पं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

सज्जनता की रक्षा कर ली है, उसने अपने जीवन में भगवत्ता की रक्षा कर ली है क्योंकि भगवत्ता की जननी साधुता ही तो है। बिना साधुता प्राप्त किए क्या कोई भगवत्ता को प्राप्त हो सका है ? नहीं। अरे भैया! साधु-पुरुष ही परमेश्वर-अवस्था को प्राप्त हुए हैं, असाधु कभी भी भगवत्ता को प्राप्त नहीं होते हैं। जितने आज तक सिद्ध हुए हैं, होंगे तथा हो रहे हैं, वे सब परम-सामायिक साधु-पुरुष थे। पहले निर्मल साधुता को प्रकट कर, वे ही जीव भगवान् बने हैं। भो चैतन्य ज्ञानघन आत्मन्! तू अपनी निर्मल साधुता को पूर्ण सुरक्षित कर भगवत्ता के अग्रिम पथ पर चलता-चल, कोई विकल्प मत कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

भोग-भट्ठीए णंतभव-गदा

विण्णप्पा! तुमं टंकुक्किण्ण-जाणगो परम-पारिणामिग-भावजुत्तो सत्तिरूव-परमप्पा। णियसहावं मा विसरेहि। णंतगुणरासी तुव धम्मो। कामभोग-विलासिदासुहं सद-सुहं णत्थि। इदं आउलत्त-उप्पादगं, दुक्ख-उप्पादगं, णिब्बल-णिग्गुणी-कारगं, भोगस्स पुव्विं पच्छा चिंता-तवणे तावगं, साहु-पुरिसेहिं णिंदणीयं, वहिचार-दुराचार-कारमाणं, अवीसास-जणगं, कित्ति-पडागा-विणासगं, कुल-कलंकिद-कारं, णाण-विवेकरिवू, सग्गुणि-उवमाणगं, सज्जण-गोट्ठीदो विओजमाणं, जहण्ण-ठाणं भावमाणं, णीच-गदि-दायगं, णीच-पुरिस-सेवा-कारमाणं च। सयल-अणत्थ-कारणभूदं विलासिदा-सुहं णाणी-विवेगी-साहुपुरिसेहिं हेयं भणिदं। तं

भोगों की भट्ठी में अनंत भव व्यतीत हो चुके हैं

हे विज्ञात्मन्! तू टंकोत्कीर्ण-ज्ञायक-स्वभावी, परम-पारिणामिक-भाव से युक्त, शक्तिरूप परमात्मा है। निज स्वभाव को भूल नहीं जाना। अनंत गुणों की राशि तेरा धर्म है। काम-भोग-विलासिता का सुख सत्-सुख नहीं है। यह तो आकुलता का उत्पादक है, दुःख उत्पन्न करनेवाला है, निर्बल/निर्गुणी बनानेवाला है, भोगने के पूर्व व पश्चात् चिंता की तपन में तपानेवाला है, साधु पुरुषों द्वारा निंदनीय है, व्यभिचार, दुराचार करानेवाला है, अविश्वास का जनक है, कीर्ति की पताका को नष्ट करने वाला है, कुल को कलंकित करनेवाला है, ज्ञान/विवेक का शत्रु है, सद्गुणियों की अवहेलना करानेवाला है, सज्जनों की गोष्ठी से दूर करने वाला है, जघन्य-स्थान पर दृष्टिपात करानेवाला है, निम्न गति दिलाने वाला है, नीच पुरुषों की सेवा करानेवाला है। अर्थात् संपूर्ण अनर्थों का कारण जो है, ऐसा विलासिता का सुख ज्ञानी/विवेकी/साधु-पुरुषों द्वारा हेय

मुमुक्खु-जीवा झत्ति मुंचेज्जा। इमस्स विवरीदं पुण्ण-पुरिस-सेव्वमाणं अप्पणो सगत्तो उब्भासिद-परमाणंदमयं चेयण्ण-सुहं, जं णिग्गंथ-वीदराग-जोइणो लहेज्जा। जेणं मुत्ति-वणिदावरणं अक्ख-दमणं परम-आदखादि-लाहो य होदि। जं दट्ठूणं भोइणो हत्थ-मुगलिदा करेंति। अप्प-दोसेणं मत्थगं चरणेसुं णवेंति। पडिक्खणं एरिसं सुहं लाह-उज्जमं सच्च-साहग-कज्जं। भो चेयण्ण! भोग-अंगारकुंडम्हि णंतभव-गदा। एगभवं णियप्प-भोगेसुं णिओअ, तुमं लहेहिसि सिद्धप्प-सुद्धप्पपदं च।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

कहा गया है। उसे मुमुक्षु जीवों को शीघ्र त्याग देना चाहिए। इसके विपरीत पुण्य-पुरुषों द्वारा सेव्यमान आत्मा का स्व से उद्भाषित परमानंदमयी चैतन्य-सुख है, जो किसी निर्ग्रंथ वीतरागी योगियों द्वारा प्राप्त किया जाता है। जिसके माध्यम से मुक्ति-वनिता का वरण होता है, इंद्रियों का दमन होता है। जो परम आत्मख्याति को प्रदान करता है। भोगी जिसे देखकर हाथ जोड़ लेते हैं। अपनी कमी के कारण माथा चरणों में टेक देते हैं। ऐसे सुख को पाने का प्रयास प्रतिक्षण करते रहना सत्य-साधक का कार्य है। भो चैतन्य! अनंत-भव व्यतीत हो चुके हैं भोगों की भट्टी में। एक भव तो निजात्म-भोगों में लगा दे। तू सिद्धात्म-शुद्धात्मपद को प्राप्त कर लेगा।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

दढ-आदबलं करेदि जीवं महंतं

विण्णप्पा! संकप्पसत्ती सेट्ठअम-सत्ती। जावदिया महापुरिसा जादा, जायंति अहव जादिस्संति, ते सव्वे संकप्प-सत्तिबलेणं एव। अज्जपज्जंतं जेसिं जेसिं जीव-पदणं, तस्स मुक्खकारणं संकप्प-सत्ति- हीणत्तं खु णेयं। दिढसंकप्पो करेदि जीवं महंतं। आद-संकप्पेणं हि होदि आदविगास-उत्थाणं च। संकप्पहीणत्तं करेदि जीवं हीणं। संकप्पहीणत्तं अणादर-भीरुत्त-जणगं। जस्स सग-चारित्तं अदिढं, सो अण्णस्स णवि करेदि चारित्त-दिढत्त-वक्खाणं। अप्प-चारित्तिग-हीणत्तं जीवपदणस्स मुक्ख-कारणं। णियप्पाणुसासण-रित्तो कदावि अण्णम्हि सासणं णो करेदि। आदसासगं भजेदि वीस-सासग-सोहग्गं। आदसासण-सिक्खणं आवस्सगं पत्तेग-मोक्खत्थिणो धम्मोवएसग-भावो सहजो, आदसासगत्तं दुक्करं

दृढ़ इच्छाशक्ति ही व्यक्ति को महान् बनाती है

हे विज्ञात्मन्! संकल्प-शक्ति सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। जितने महापुरुष हुए हैं अथवा हो रहे हैं या होंगे, वे सब संकल्प-शक्ति से ही हुए हैं। आज तक जिन-जिन जीवों का पतन हुआ है, उसका मुख्य कारण संकल्प-शक्ति की हीनता ही समझो। दृढ़-संकल्प ही व्यक्ति को महान् बनाता है। आत्म-विकास एवं आत्मोत्थान निज संकल्प से ही होता है। संकल्पहीनता व्यक्ति को हीन बना देती है। अपमान, भीरुत्व की जनक है संकल्पहीनता। जिसका स्वयं का चारित्र दृढ़ नहीं होता है, वह व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए चारित्र-दृढ़ता की बात नहीं कह पाता। स्वयं की चारित्रिक-हीनता व्यक्ति के पतन का मुख्य कारण है। वह व्यक्ति कभी भी किसी पर शासन नहीं कर सकता जो स्वात्मानुशासन से रिक्त है। आत्मशासन करनेवाले व्यक्ति को विश्वशासक बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। आत्मशासन सिखाने की आवश्यकता है। प्रत्येक मुमुक्षु जीव के लिए 'धर्मोपदेशक' बनना सहज है, किंतु आत्मशासक बनना कठिन कार्य है। संत/मनीषियों

कज्जं। मणीसिणो संकप्पसत्तीए आदाणुसासण-पहावेणं च महा-साहिच्च-सिजणं किदा। चित्त-चारित्त- णिम्मलत्तं विणा सद्द-बंभ-सिद्धी असंभवा। सत्थ-सज्झाएणं समं सुसत्थ- सिजणं विउल-महा-साहणा-तवस्सा य। चित्त-एयग्गदाए दिव्व-उवायो लेहणं। भो चेयण्ण! जो एगवारं पि संकप्प-भंजण-णिण्णयं करेदि, सो जीवणे जीवण-णासस्स विउल-णिण्णयं करेदि। सो णिय-अमुल्ल-कित्तिमाण-जीवणेणं सह छलं किदो। लहु-णियमस्स भंजण-विचारं मा कुणेहि। जं एगवारं संजम-चागब्भासो, तस्स संजमे दिढत्तं बहु-दुक्करं कज्जं। पव्वदादो जलधारा लहुरूवे पवाहेदि, सा सणियं-सणियं मिट्टिगं तक्खेदि, पुरदो विउल-खंदगरूवं धारेदि। तहेव लहु-दोसं पि विउलं मण्ण। जो लहु-दोसम्हि संभलेदि, सो होदि महंतो।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

ने महान् साहित्य का सृजन किया, वह सब संकल्पशक्ति, आत्मानुशासन का ही प्रभाव रहा है। बिना चित्त व चारित्र की निर्मलता के शब्दब्रह्म की सिद्धि संभव नहीं है। शास्त्र-स्वाध्याय के साथ सद्शास्त्र का सृजन बहुत महान् साधना है, तपस्या है। मन को एकाग्र करने का सुंदर उपाय लेखन कार्य है। भो चैतन्य! जिस व्यक्ति ने एक बार भी संकल्प तोड़ने का निर्णय ले लिया है, उस व्यक्ति ने अपने जीवन में बहुत बड़ा निर्णय लिया है जीवन के नाश का। वह अपने अमूल्य कीर्तिमान जीवन के साथ छल कर बैठा। ध्यान रखें, छोटे-से-छोटे नियम को तोड़ने का भी कभी विचार नहीं कर बैठना। एक बार जिसने संयम छोड़ने की आदत डाल ली, उसका संयम में दृढ़ रहना बहुत कठिन कार्य हो जाएगा। देखो, पर्वत से पानी की धार छोटे रूप में प्रवाहित होती है, वह धीरे-धीरे मिट्टी को काटती है, वही आगे चलकर बहुत बड़ी खाई का रूप धारण कर लेती है। उसी प्रकार समझो, छोटी-सी गलती को बड़ी मानकर चलो। जो छोटी गलती पर संभल जाता है, वह महान् बन जाता है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

णिय-परिणदिं मा विसर

विण्णप्पा! जाणेहि णियपरमतच्चं। पर-परिणदीए णवि विसरेहि णियतच्चं। भवे कोवि रिवू मित्तं च णत्थि। जेणं जस्स सत्थ-सिद्धी, सो तस्स मित्तं, जदि णो सत्थ-सिद्धी दु सो हु रिवू होदि। णो कोवि अण्णस्स गेज्झेदि णेव अण्णं देदि, पुण मूढो किमत्थं मित्तामित्त-भावं भजेदि? लाहालाह-मित्तामित्त-सब्भावो अहिणव-किरिया णत्थि। एदे जाणेहि एगविह-संसार-सहावो। जदि एदे सव्वे णवि हुज्जा पुण कहं संसारो?

तम्हा विण्णा इमेहिं सामण्ण-वयणेहिं णियसहावं णो विसरेंति। पडिऊल-ठिदीसुं पि णियसरूवदिट्ठिं करेंति। बंधु! किंचि विचिंत। सुदिट्ठी पुव्वबद्ध-आउकम्मोदयादो णारगी होदि। तत्थ भूमि-फासजण्ण दुक्ख-

निज परिणति को मत भूल

हे विज्ञात्मन्! तू निज परम-तत्त्व को पहचान। पर की परिणति में निज तत्त्व को नहीं भूल जाना। संसार में कोई भी जीव किसी का शत्रु या मित्र नहीं है। स्वार्थसिद्धि जिसकी जिसके द्वारा होती है वह उसका मित्र है, स्वार्थसिद्धि यदि नहीं होती तो वही शत्रु बन जाता है। न कोई किसी का लेता है, न देता है, फिर क्यों शत्रु-मित्र भाव को प्राप्त होता है अज्ञ जीव? लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र इन सबका होना कोई नई क्रिया नहीं। ये संसार का एक प्रकार का स्वभाव ही समझ। यदि ये सब नहीं होंगे तो फिर संसार ही कैसा?

इसलिए विज्ञ प्राणी इन सामान्य बातों से निज-स्वभाव-दशा को नहीं भूलते। प्रतिकूल घड़ियों में भी निज स्वरूप की दृष्टि बनाए रखते हैं। अरे भाई! जरा विचार तो कर। सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व में बंधे आयु-कर्म के उदय से नरक में नारकी होता है। वहाँ के भूमि-स्पर्शजन्य परस्पर दुःख इत्यादि अवस्थाओं के समय भी वह अपनी आत्मश्रद्धा को नहीं भूलता है।

परोप्परदुक्ख-पहुदि-अवत्थासमए वि सो आद-सद्धाणं णवि विसरेदि। आगमे णारग-जीवस्स किदिकम्म-वण्णणं। सो किदिकम्म-पुव्वगं असंखगुणसेणी-कम्मणिज्जरं पि करेदि। ताडण-कट्टणं चावि करेदि, एदाणि सव्वाणि चारित्तमोहणीय-कम्मकज्जं। किं मिच्छत्तं अभावजण्ण-विसुद्धिजुद-आदसुद्धि-णारगीदो वि सो हीणो, जो सामण्ण-उवसग्ग-परीसहेसुं देवसमयगुरु-आददेवं च विसरेदु? एसो णत्थि। जहा एगा मादु कूवादो जलजुद-घडं सिरे धारेदि, मग्गे अण्ण-सहीहिं उत्थिय भमिय घटादो हत्थं च णियत्तिदूणं चरियाओ वि करेदि, पुणरवि घडो णवि पडिक्खलेदि। किं कारणं? अब्भिंतरदिट्ठी घडम्हि तदो घडो णवि पडिक्खलेदि। एवं होदि साहग-दिट्ठी। विसमदासुं पि सो-तच्चसद्धाणं आद-रुइं च णिरंतरं

आगम में उल्लेख है कि नारकी जीव के कृतिकर्म होते हैं। कृतिकर्मपूर्वक असंख्यात्-गुणश्रेणी कर्म-निर्जरा भी करता है, मार-काट भी करता है, ये सब चारित्र-मोहनीय कर्म का कार्य है। परंतु मिथ्यात्व के अभावजन्य निर्मलता लिए आत्मशुद्धि नारकी से भी क्या वह गया बीता है, जो कि सामान्य उपसर्ग/परीषहों में जिनदेव, जिनवाणी, वीतरागी भाव-लिंगी गुरु तथा आत्मदेव को भूल जाए ? नहीं, ऐसा नहीं। देख, क्या मालूम नहीं कि एक माँ कुँए से जल भरकर घट को अपने सिर पर रख लेती है, रास्ते में अन्य-अन्य माताओं, बहिनों से खड़े होकर या चलते-चलते घट से हाथ हटाकर चर्चाएँ भी कर लेती है, परंतु घट नहीं गिरता। क्यों ? क्या कारण है ? कुछ नहीं, अंतरंग दृष्टि घट पर है, इसलिए घट नहीं गिरता। इसी प्रकार साधक की दृष्टि होती है। विषमताओं के होने पर भी वह तत्त्व-श्रद्धान, आत्म-रूचि अविरल निर्मल बनाए रखता है; क्योंकि वह जानता है कि कर्म शाश्वत नहीं हैं, वैनाशिक हैं, सुख-दुःख पुद्गलरूप विकारी-भाव पुद्गल की अवस्था है। परम-तत्त्व पर लक्ष्य रख। आचार्य भगवंत शिवकोटि स्वामी

णिम्मलं च कुणेदि। सो जाणेदि कम्माणि अणिच्चभूदाणि, सुह-दुक्खाइं पोग्गलरूव-विगारीभावो य पोग्गल-अवत्था। परमतच्चे लक्खं धारेहि। तं जहा रयणमालाए वि-

चिदानंदं परं ज्योतिः, केवलज्ञान-लक्षणम्।
आत्मानं सर्वदा ध्यायेदेतत्तत्त्वोत्तमं-नृणाम्।।
भो चेयण्ण! कुणेहि तस्स लाहस्स सम्मं उज्जमं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

ने 'रत्नमाला' ग्रंथ में मनुष्यों के उत्तम तत्त्व की चर्चा करते हुए लिखा है कि-

''चिदानंद की उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान-लक्षणवाले आत्मा को हमेशा ध्याना चाहिए। यही मनुष्यों का उत्तम सार-तत्त्व है।'' भो चैतन्य! तू उसी की प्राप्ति का सम्यक् पुरुषार्थ कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

पर-ममत्तेणं बज्झेदि जीवो

विण्णप्पा! आदा ममत्तभावरित्तो णिम्ममत्त-सहावी। ममत्तं बंध-कारणं, णिम्ममत्तं णिज्जरा-कारणं। जावदिया जीवा अज्जपज्जंतं कम्मबंधं पत्ता, ते सव्वे ममत्त-भावेणं एव। दसाणण-सरिसो बलवंतो णारी-ममत्ते णिब्बलो होसी। सच्चंधर-राया णारी-ममत्ते कट्ठंगारेणं णासिदो। संसारे जीवो वट्टमाणे रागेणं बज्झेदि तहा सिद्धंत-भासाए कम्म-बंधेणं बज्झेदि। एक्केक्क-इंदिय-विसएणं जीवा कम्मबंधं पत्ते तहा वट्टमाणे णिय-पाणा णासेंति। हत्थी फासिंदिय-विसएणं, मच्छो रसणिंदिय-विसएणं, भमरो घाणिंदिय-ममत्तेणं, पयंगो लोयणिंदिय-विसएणं, भुजंगो कण्णिंदिय-विसएणं च अप्प-पाणा णासेदि। एक्केक्क इंदियविसय-

पर से ममत्व के कारण ही जीव बंधता है

हे विज्ञात्मन्! आत्मा ममत्व-भाव से रहित, निर्ममत्व-स्वभावी है। ममत्व-भाव बंध का हेतु है, निर्ममत्व-भाव निर्जरा का। जितने जीव आज तक कर्म-बंध को प्राप्त हुए हैं, वे सब ममत्व-भाव से ही हुए हैं। रावण-जैसा बलशाली व्यक्ति एक नारी के ममत्व में निर्बल हो गया। सत्यंधर-राजा नारी के ही ममत्व में काष्ठांगार के द्वारा नष्ट कर दिया गया। संसार में राग द्वारा वर्तमान में बँधता है जीव तथा सिद्धांत की भाषा में कर्मबंधन से बँधता है। एक-एक इंद्रिय-विषय के कारण जीव कर्म-बंध को प्राप्त हुए हैं तथा वर्तमान में अपने प्राणों को खो बैठे हैं। हाथी स्पर्शन-इंद्रिय के विषय के कारण, मछली रसना-इंद्रिय के विषय के कारण, भ्रमर घ्राण-इंद्रिय के ममत्व कारण, पतंगा चक्षु-इंद्रिय के कारण और सर्प कर्ण-इंद्रिय के विषय के कारण अपने प्राणों को नष्ट करता है। एक-एक इंद्रिय के विषयों में ममत्व के कारण इन जीवों की यह अवस्था हुई फिर जरा विचार कर, भो मनीषी! तू तो पाँचों ही इंद्रिय-विषयों में ममत्व को प्राप्त है,

ममत्तेणं इमेसिं जीवाणं इमा अवत्था जादा, पुण किंचि विचिंत, तुमं सगं पडि कुणेहि उज्जमं। किं भव-वारिहिम्हि णिबुड्डेज्जा? तुमं सगं पडि किंचिवि करुणा णत्थि। अस्स आद-रस-लाहस्स देविंद-धरणिंदा वि गणयंति। सो रसो जिणवेसं धारिदूणं हि भजेज्जा, णेव अण्ण-वेसे। सो जिणवेसो णो होदि देवेसुं पि, तम्हा देवा वि जिणवेस-लाहट्ठं मणुय-भव-पसंसणं करेंति। धिगत्थु तं जीवं, जो मणुयदेह-उत्तमधम्मकुलं च लहिदूणं पि आदाणंद-दायगं णिम्ममत्त-भावजुदं जिणवेसं णो धारिदो। णूणं तस्स पुण्णं दुब्बलं। मंदकसाएणं कुणेहि पुण्णवड्ढणं, पुण पडिवज्जेहि णिम्ममत्त-अवत्थं।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

तेरी क्या गति होगी ? स्वयं के प्रति प्रयास कर। क्या भववारिधि में गोते लगाता रहेगा ? तूझे स्वयं के प्रति बिल्कुल करुणा उत्पन्न नहीं है ? अरे भाई! इस आत्म-स्वाद की प्राप्ति के लिए देवेंद्र, धरणेंद्र तरसते हैं, क्योंकि वह स्वाद जिनवेष को धारण करके भी प्राप्त किया जा सकता है, अन्य वेष में नहीं। वह जिनवेष देवों में होता नहीं, इसलिए देव भी जिनवेष की प्राप्ति हेतु मनुष्य-भाव की सराहना करते हैं। परंतु धिक्कार है उस जीव को, जिसने मनुष्य-देह, उत्तम धर्म व कुल प्राप्त करके भी आत्मानंद-प्रदायक निर्ममत्व-भाव युक्त जिनवेष को धारण नहीं किया। अवश्य ही उस जीव का पुण्य अभी कमजोर है। पुण्य की वृद्धि कर मंद-कषाय के द्वारा, फिर तू निर्ममत्व-अवस्था को प्राप्त कर।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

जिणदंसणस्स मोलिगदा

विण्णप्पा! विस्स-दंसणेसुं जिणदंसणस्स विसेस-महच्चं। जत्थ विभिण्ण-दंसण-सत्थाणि पुव्वावर-विरोह-कलिदाणि तत्थ जिणदंसणं उत्तदोस-विमुक्कं, एगंतदिट्ठि-पडिसेहगं सियवाद-अणेगंत-सिद्धंतेणं विस्स-विक्खाद-दंसणं सव्वण्हु-वाणी-गाहगं च। जिणदंसणं णवि गेज्झदे सामण्णजीवस्स वयणं। जावं आदा अरहंत-अवत्थं णो भजेदि, तावं सो छदुमत्थो। केवल्ल-आधारिदं अवर-आइरिय-वयणं हि पमाणभूदं। सुतंत-चिंतणं जिणदंसणे णवि गेज्झदे। वाणीए सियवादो, दिट्ठीए अणेगंतो, चरियाए अहिंसा, एदे जिणदंसणस्स मूलपाणा। जिण-आगमो चदु-भागेसुं विभत्तो चदु-अणुओग त्ति। पढमाणुओगो, करणाणुओगो, चरणाणुओगो,

जैन-दर्शन की मौलिकता

हे विज्ञात्मन्! जैनदर्शन विश्व के दर्शनों में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। जहाँ विभिन्न दर्शन-शास्त्र पूर्वापर विरोध से युक्त दृष्टिगोचर होते हैं, वहाँ जैनदर्शन उक्त दोषों से मुक्त है। एकांत-दृष्टि का निरसन करनेवाला स्याद्वाद/अनेकांत सिद्धांत के माध्यम से विश्व-विख्यात दर्शन है। सर्वज्ञवाणी को माननेवाला है। जैनदर्शन सामान्य व्यक्ति की बात को स्वीकार नहीं करता। जब तक आत्मा अर्हद् अवस्था को प्राप्त नहीं होती, तब तक उसे छद्मस्थ अवस्था कहते हैं। केवलज्ञान के आधार से जो भी अन्य आचार्य भगवंत् कहते हैं वह बात ही प्रमाणित मानी जाती है। स्वतंत्र चिंतवन जैनदर्शन स्वीकार नहीं करता। वाणी में स्याद्वाद, दृष्टि में अनेकांत, चर्या में अहिंसा, ये जैनदर्शन के मूल प्राण हैं। जैन-आगम चार भागों में विभक्त है, जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं। ये ही चार अनुयोग जैनदर्शन के चार वेद हैं-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इन चारों में 11 अंग और 14 पूर्वरूप वर्णन रहता है। दिगम्बर आम्नाय में,

दव्वाणुओगो त्ति चदु अणुओगा जिणदंसणस्स चदुव्वेदा। इमेसुं एगारसंग-चदुदसपुव्व-वण्णणं च। वट्टमाणे दियंबर-आमणाए दो-दसंगस्स अंसं विज्जमाणं, णं पुण्णरूवेणं णत्थि, कालदोसदो सुद-धारग-विच्छेदं मण्णेंति, जइवि सेदपट्ट-आमणाओ अहुणा वि संकलिदं बारह-अंगं मण्णेदि एवं मूलवाणीदो मिदुत्तं भिण्णत्तं च धारेदि। दियंबरा इणं णो मण्णेंति। वट्टमाणे सुदं बारह-अंगरूवं णत्थि, अंसमेत्तं अत्थि, तेसिं इदं मण्णत्तं। जं किंचिवि सेदपट्ट-आमणाया मण्णेंति, तं तेसिं सुतंत-विचार-आचार- विसयग-पहा। किंचणं सिद्धंतेसुं पि भेदं। दोण्हं पक्खाणं उवासणा- साहणा-विही वि पुहं। पंच-सुत्ताणि दुवे मुण्णेंति। अंतिमसुत्ते विसेसभेदं। णग्गा वसेंति दियंबर-समणा। तेसिं दिट्ठीए तिल-तुसमेत्त-परिग्गहो एगसुत्तं पि मोक्खत्थिणो मोक्खलाहे बाहगकारणं। सेदपट्ट-आमणाया स-वत्थ-णिव्वाणं मण्णेंति। दियंबरा इत्थि-मुत्तिं केवली-भुत्तिं च णो मण्णेंति। इदर-परंपराओ इदं मूल-सिद्धंतो मण्णेंति।

वर्तमान में द्वादशांग का अंश तो अभी विद्यमान है, परंतु पूर्णरूपेण नहीं, कालदोष से श्रुतधारियों का विच्छेद मानते हैं। जबकि श्वेताम्बर आम्नाय ने अभी भी 12 अंग स्वीकार किए हैं, जो कि संकलित है, जो मूलवाणी से कुछ मृदुता रखते हैं। दिगम्बर इन्हें स्वीकार नहीं करते हैं, उनका सोचना है कि वर्तमान में श्रुत द्वादशांगरूप नहीं, अंश मात्र ही है। जो कुछ श्वेताम्बर मानते हैं, वह उनके स्वतंत्र विचार-आचार संबंधी प्रथा है। कुछ सिद्धांतों में भी भेद हैं। दोनों पक्षों की उपासना-विधि व साधना-विधि भी पृथक् है। पाँच सूत्रों को दोनों ही स्वीकारते हैं। अंतिम सूत्र पर विशेष भूद हैं। दिम्बर-साधु नग्न रहते हैं। उनकी दृष्टि में तिल-तुष-मात्र परिग्रह अर्थात् एक धागा भी मुमुक्षु जीव के लिए मोक्ष प्राप्ति में बाधक कारण है, जबकि श्वेताम्बर मत वाले सवस्त्रधारी को मोक्ष स्वीकारते हैं। दिगम्बर स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति नहीं मानते, जबकि श्वेताम्बर संप्रदाय इसी बात को मूल सिद्धांत स्वीकार कर बैठा है।

मूलदो दियंबरेसुं णो भिण्णत्तं, पुणरवि कालदोसेणं वट्टमाणे दोण्णि-परंपरा अविसंवाद-रूवेणं गदिमाणा। पढमा बीस-पंथ-परंपरा, बीआ तेरह-पंथ-परंपरा। दोसुं आगमो अभिण्णो, सिद्धंत-आयारा चावि अभिण्णा, भिण्णत्तं उवासणा-विहीए। पूयणे बीसपंथी हरिदफल-पुप्फ-उवओगं पंचामिद-अहिसेगं च करेंति। तेरह-पंथी फलपुप्फ-उवओगं पंचामिद-अहिसेगं च णो करेंति। अहुणा अविसंवाद-रूवेणं दोण्णि परंपरा गदिमाणा। परोप्परं वच्छल्लभावो त्थि, सग-सग-पद्धदीए पूयणादि-किरियाओ करेंति। परंपराणं साहु-संघा वि संति, दोण्हं मूलगुणा समाणा एव।

पूयण-पहुदि-विहीओ सावग-किरियाओ जत्थ होदु, जेण विहिणा पूयण-पाढो हुज्जा। किरिया-कंडो णो कोवि धम्मो। परमट्ठभूद-आदविसुद्धीए भाव-णिम्मलट्ठं च किरिया-कंडरूव-धम्मपालणं कीरदे। असुहभावादो रक्खणट्ठं, जाए णत्थि सम्मत्त-चारित्त-हाणी, तं किरियं

दिगम्बरों में मूलतः कोई भेद नहीं है, फिर भी कालदोष से वर्तमान में दो परम्पराएँ अविसंवादरूप से चल रही हैं। प्रथम बीसपंथ, द्वितीय तेरापंथ। इन दोनों में आगम-ग्रंथ भिन्न नहीं है, सिद्धांत व आचार सभी समान हैं, परंतु उपासना-विधि में अंतर है। पूजन में बीसपंथी हरे फल-पुष्प का उपयोग करते हैं, पंचामृताभिषेक करते हैं, परंतु तेरहपंथ फल-पुष्प का उपयोग और पंचामृत-अभिषेक नहीं करते हैं। वर्तमान में दोनों परम्पराएँ अविसंवादरूप से चल रही हैं। परस्पर वात्सल्य-भाव है, अपनी-अपनी पद्धति से पूजन आदि करते हैं। दोनों ही परंपराओं के साधु-संघ भी हैं, परंतु मूलोत्तर गुण दोनों के समान ही होते हैं।

वैसे मेरी धारणा यह है कि पूजन-विधि आदि श्रावकों की क्रियाएँ हैं, जहाँ जिस विधि से पूजापाठ चलता हो चलने दिया जाए। क्रियाकाण्ड कोई धर्म नहीं। परमार्थभूत आत्मविशुद्धि हेतु, परिणामों की निर्मलता के लिए क्रियाकाण्डरूपी धर्म का पालन किया जाता है। अशुभ भावों से बचने के

पवज्जेदि जेणाइरिया। जदि-किरिया-कंडेसुं रुंभित्ता णियभाव-विसुद्धि-अभावो होदि, पुण सा किरिया पुण्ण-बंध-कारणं णवि होदि। समण-चरिया सावग-चरियादो भिण्ण त्ति। समणाइरियो आयारम्हि जो जो विही पण्णत्तो, तं संपालेज्जा एवं पंथ-परंपरादो पुहं वसेज्जा। साहू कोवि पंथस्स णत्थि। सो पाणीमेत्त-हिद-भावणं भावेदि। पुणो किं सो विसेसो होदूणं वसेदि? णिव्वियप्प-आदसाहणा-रत्तस्स जोइस्स संबंधो सपर-हिद-भावणाए सह सामण्ण-जणेहिं धम्मोवएसादिं हु होदि। विसेस-धम्मिग-अणुट्ठाणेसुं देदि मेत्तं आसीसं। णवि करेदि संचालणं। मढ-मंदिर-अवर-सामायिग-विवादा आदज्झाणे बाहगा मुणिदूणं तादो पुहं होदि। झाणज्झयणे रत्तो होदि जोई, एरिसा जेण-साहुणो सामण्ण-चरिया।

लिए, जिसके माध्यम से सम्यक्त्व व चारित्र की हानि न होती हो, उस क्रिया को जैनाचार्यों ने स्वीकार किया है। यदि क्रियाकाण्डों में उलझकर निज-परिणामों की विशुद्धि समाप्त होती हो तो वह क्रिया पुण्य-बंध का भी कारण नहीं हो सकेगी। अतः, श्रमणों की चर्या श्रावकों से भिन्न है। श्रमणाचार्य को आचार में जो-जो विधि कही गई है, उसी का पालन करना चाहिए। पंथ-परंपराओं से दूर रहना चाहिए। साधु किसी भी पंथ का नहीं होता। वह तो प्राणीपात्र के कल्याण की भावना रखता है। फिर क्या वह विशेष बनकर रह सकता है ? निर्विकल्प आत्मसाधना में रत योगी का मात्र स्व पर कल्याण की भावना के साथ सामान्यजनों से धर्मोपदेश आदि तक ही संबंध रहता है। विशेष धार्मिक अनुष्ठानों में आशीर्वाद मात्र देता है। संचालन से दूर रहता है। मठ-मंदिरों के विवाद व अन्य सामाजिक विवादों को आत्मध्यान में बाधक मानकर उन सब से पृथक् रहता है। योगी ध्यान-अध्ययन में रत रहता है। ये जैन साधु की सामान्यतः चर्या रहती है।

जैन दर्शन के चार अनुयोग -

अह जिणदंसणस्स चदु-अणुओगा। जम्हि तिसट्ठि-सलाया-महापुरिस-चरिय-वण्णणं, सो पढमाणुओगो। जम्हि पत्तविसेगस्स वण्णणं, तं चरित्तं पुराणो कहाणगो य। पढमाणुओए इदिहास-वण्णणं। इमम्हि होंति सेणिगचरित्त-पउमपुराण-हरिवंसपुराण-आदिपुराण-उत्तरपुराण-पहुदि-गंथा।

जम्हि कम्म-पयडीणं आद-परिणामाणं एवं लोय-वण्णणं, सो करणाणुओगो। गणिदाणुओगो लोगाणुओगो वा अस्स अवरणामो। इमम्हि होंति तिलोयसार-तिलोयपण्णत्ति-गोम्मटसार-लोयविभाग-पहुदि-गंथा।

जम्हि समण-सावगाणं आयार-वण्णणं, सो चरणाणुओगो। इमम्हि संजम-गहण-पालण-रक्खण-विही-वण्णणं च। आयारंगे समण-चारित्त-भासग-गंथा। उवासगज्झयणे सावग-वद-भासग-गंथा। इमम्हि होंति मूलायार-मूलाराहणा-आयारसार-सावगायार-पुरिसत्थसिद्धिउवाय-मरणकंडिगा-पहुदि-गंथा।

1. **प्रथमानुयोग**- जिन आगमों में त्रेसठ शलाका-महापुरुषों के चारित्र का वर्णन किया जाता है, वे **प्रथमानुयोग** कहलाते हैं। एक पात्र-विशेष का जिसमें वर्णन किया जाता है उसे चरित्र पुराण/कथानक कहते हैं। इतिहास-वर्णन प्रथमानुयोग में होता है। इसमें श्रेणिक चरित्र, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण आदि ग्रंथ आते हैं।

2. **करणानुयोग**- जिसमें कर्म-प्रकृतियों का, आत्मा के परिणामों का तथा लोक की ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई आदि का वर्णन होता है, उसे **करणानुयोग** कहते हैं। इसे गणितानुयोग व लोकानुयोग भी कह सकते हैं। इस अनुयोग में त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लोकविभाग इत्यादि ग्रंथ आते हैं।

3. **चरणानुयोग**- जिसमें श्रमण व श्रावक के आचार का वर्णन किया जाता है, वह **चरणानुयोग** है। संयम लेने की विधि, पालन-रक्षण की विधि का कथन किया जाता है। श्रमण के चारित्र का कथन करनेवाले ग्रंथों को

जम्हि आदतच्चस्स, जीव-सुद्धासुद्ध-पज्जयाणं पंचत्थिकाय-छद्दव्व-णवपदत्थाणं सुहासुह-सुद्ध-भावाणं च णिच्छय-ववहारणयदो वण्णणं, सो दव्वाणुओगो। इमम्हि होंति समयपाहुड-पवयणसार- पंचत्थिकाय-परमप्पपगास-पहुदि-गंथा।

इदि णेयं समासेणं जिणदंसणस्स दंसण-पक्खं। दंसण-पक्खे जिणदंसणं णिय-विसेस-जोग्गत्तं उग्घाडेदि। रूढिवादं अंधवीसासं च जिणदंसणे णो ठाणं। एत्थ तक्कागम-सिद्ध-वयणं पमाणं। एत्थ णत्थि 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्'। जिणदंसणं अण्णं सगकत्ता एवं सगं अण्ण-कत्ता कदावि णो मण्णेदि। अणुमित्तं पि जीवो उवादाणरूव-परकत्ता णत्थि। णिय भावकत्ता एव अत्थि, पोग्गलकम्म-कत्ता वि णत्थि। आदा चेयण्णं, पुण कहं चेयण्णदो

आचारांग के अंदर लिया है। श्रावकों के व्रतों का वर्णन करनेवाले शास्त्रों को उपासकाध्ययन के अंदर लिया गया है। चरणानुयोग के अनेक ग्रंथ हैं-मूलाचार, मूलाराधना (भगवती आराधना), मरण-कण्डिका, आचारसार, श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय इत्यादि।

4. **द्रव्यानुयोग**- आत्म-तत्त्व, जीव की शुद्धाशुद्ध पर्यायों का कथन, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, छः द्रव्य, शुभ-अशुभ-शुद्ध भावों का निश्चय व व्यवहारनय से जो वर्णन करता है, उसे **द्रव्यानुयोग** कहते हैं। द्रव्यानुयोग के अनेक ग्रंथ हैं-समयप्राभृत, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश इत्यादि।

इस प्रकार संक्षेप से जैनदर्शन का दर्शन पक्ष समझना। दर्शन-पक्ष में जैनदर्शन अपनी विशेष योग्यता प्रकट करता है। रूढ़िवाद/अंधविश्वास को जैनदर्शन में कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक बात तर्क, आगम पर कसी हुई को ही स्वीकारता है। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के अनुसार नहीं मानता। सबसे बड़ी बात यह कि पर-को अपना कर्त्ता तथा निज को पर का कर्त्ता जैनदर्शन किसी भी हालत में स्वीकार नहीं करता। अणुमात्र भी जीव उपादानरूप पर-का कर्त्ता नहीं है, निज भावों का ही कर्त्ता है; पुद्गल कर्मों का भी कर्त्ता

जडधम्मं कीरदे? चेयण्णं तु सुद्धासुद्ध-चेयण्णभाव-कत्ता एव। अण्ण-रह-पह-घड-कत्ता वि णिमित्तरूवेणं णेयं, णेव उवादाण रूवेणं। कम्मं पोग्गलिगं, लोगो ओगाढ-गाढ-रूवेणं कम्मइग-वग्गणादो परिपूरिदो। ताओ णो कोवि किदो। दव्वं तेयालिगं सदरूवं च। णेवं सदो विणसो, असदस्स णेव उप्पादो। पुणो कम्मं को करेदि? ववहारेणं णिम्माणं उवदिस्सेदि, दव्वं तु स-सत्तीए परिणमेदि। तं परियट्टणे कालादिदव्वं णिमित्तं। जाणि कम्माणि बज्झेंति, ताओ कम्मइग-वग्गणाओ जीवो णवि करेंति, तदो जीवो कम्मकत्ता णत्थि। जीवकिद-रागादि-भावेहिं कम्मइग-वग्गणाओ कम्मरूवं परिणमेंति। तदो जीवो रागादि-भावकत्ता, ण दु कम्मकत्ता। रागादि-भावा कम्मइग-वग्गणाओ कम्मरूवं परिणामेंति, ण दु करेंति। णिप्पण्णरूव-

नहीं है। आत्मा चैतन्य है फिर चैतन्य से जड़ का धर्म कैसे किया जा सकता है ? चैतन्य को तो शुद्धाशुद्ध चैतन्य-भावों का ही कर्ता कहा है। अन्य रथ, घट-पट आदि का भी कर्ता कहा है तो वह निमित्त-रूप कर्त्ता समझना, न कि उपादानरूप कर्ता। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म पौद्गालिक हैं, कार्मण-वर्गणाएँ संपूर्ण लोक में घनरूप से ठसाठस भरी हुई हैं। उन्हें किसी ने तैयार नहीं किया। द्रव्य त्रैकालिक हुआ करता है, सत्-रूप है। सत् का कभी विनाश नहीं होता तथा असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। तो फिर कर्म को किसने बनाया है ? अरे भाई! व्यवहार से कहा जाता है कि बनाया है, परंतु द्रव्य स्व-शक्ति से परिणमन करता है। उसे परिणमन में कालादि द्रव्यों का निमित्त रहता है। कर्म जो बंधते हैं, वे कार्मण-वर्गणाएँ जीव ने नहीं बनाई हैं, इस अपेक्षा से जीव कर्म का कर्ता नहीं है। जीव ने रागादिक-भाव किए हैं, उन भावों से कार्मण-वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत हुई, इसलिए यह प्रकट है कि जीव तो रागादिक-भावों का कर्ता है, कर्म का कर्ता नहीं। रागादिक-भाव कार्मण-वर्गणाओं को कर्मरूप परिणत कराते हैं, न कि बनाते हैं। निष्पन्नरूप कार्य का कर्ता यह जीव नहीं है, कर्मबंधरूप कर्ता

कज्जकत्ता। अयं जीवो णत्थि, जीवो खलु कम्मबंधरूवकत्ता। अंतरेण रागादि-भावं जीवस्स कम्मबंधो णत्थि। सुह-दुक्ख-कत्ता, चदुग्गदि-गमण-कत्ता, संसार-सिद्ध-पज्जाय-कत्ता सयमेव जीवो त्ति। अयं सिद्धंतो जिणदंसणस्स मोलिग-सिद्धंतो। जिणदंसणं वेदवादी-दंसणमिव ईसरं कत्ता णवि पवज्जेदि। जदि ईसरादी परकत्ता, पुण णियकिद-सुहासुहं कम्मं णिरत्थगं। जिणदंसणं आद-पुरिसत्थवादी-दंसणमिदि। णियप्पा हि सम्मं-उज्जमं किच्चा परमप्प-पदं पडिवज्जेदि।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

जीव ही है। बिना रागादिक-भाव किए जीव के कर्मबंध नहीं होता है। अतः, सुख-दुःख का कर्ता, चारों गतियों में भ्रमण का कर्ता, संसार/सिद्ध पर्याय का कर्ता जीव स्वयं ही है। यह सिद्धांत जैन दर्शन का मौलिक सिद्धांत है। जैन दर्शन वेदवादी दर्शनों की भाँति ईश्वर को कर्ता स्वीकार नहीं करता। यदि ईश्वर आदि पर-के कर्ता हो जाएँगे, तो फिर निज के शुभ-अशुभ कर्म व्यर्थ हो जाएँगे। अतः, स्पष्ट है कि जैनदर्शन आत्मपुरुषार्थवादी दर्शन है। निज-आत्मा ही सम्यक् पुरुषार्थ करके परमात्म-अवस्था को प्राप्त होती है।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

समण-सक्किदीए णिव्वाणं

विण्णप्पा! जिणदंसणम्हि अप्पम्हि परमप्पम्हि कम्म-बंध-पकिरियाए विसद-विवेयणाओ। कम्म-सिद्धंतो जिणदंसणस्स महुर-विसयो। अणेगंत-सियवाद-णय-पमाण-णिक्खेव-विसया भारदीय-दंसणेसुं अण्णत्थ अणुवलद्धा। किंपि विसयस्स विसंवादं विसिलेसणट्ठं सियवाद-पद्धदी अमोघ-मंतं। पायो छद्दंसणाणि णिव्वाणं पवज्जेंति। मोक्ख-सद्दो सव्वेसिं पियो। पत्तेगं दंसणं सग-इट्ठं मुत्तिरूवं गेण्हेदि, णं मोक्खमग्गे भिण्णत्तं दीसेदि। केई दंसणमेत्तादो णिव्वाणं मण्णेंति, केई णाण-मेत्तादो तहा केई चारित्त-मेत्तादो णिव्वाणं मण्णेंति, पुणो पत्तेगं मोक्खमग्गो णत्थि। जहा-मोदग-णिम्माणे किं पिट्ठं मेत्तं मोदगो? किं सक्कारा मेत्तं मोदगो? अहवा किं घिदं मेत्तं मोदगो? णेव। तिण्हं एगीकरणे मोदग-णिम्माणं। एवं सुत्तकारो पण्णत्तो-'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' तं जहा दव्वसंगहे वि-

श्रमण-संस्कृति में निर्वाण

हे विज्ञात्मन्! जैन दर्शन में आत्मा, परमात्मा और कर्म-बंध की प्रक्रिया पर विशद विवेचनाएँ हुई हैं। कर्म-सिद्धांत जैन-दर्शन का एक मधुर विषय है। अनेकांत, स्याद्वाद, नय, प्रमाण, निक्षेप के विषय भारतीय दर्शनों में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। किसी भी विषय के विसंवाद को सुलझाना हो तो उसके लिए अमोघ मंत्र स्याद्वाद-शैली है। षट्-दर्शनों में प्रायः कर मोक्ष/निर्वाण को स्वीकारा है। मोक्ष शब्द सभी को प्रिय लगा। प्रत्येक दर्शन अपने इष्ट को मुक्तिरूप स्वीकार करता है परंतु मोक्ष-मार्ग में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। कोई दर्शन मात्र से मोक्ष मानते हैं, कोई ज्ञान मात्र से और कोई चारित्र मात्र से; परंतु ये प्रत्येक मोक्षमार्ग नहीं है। जैसे हम मोदक बनाते हैं, तो क्या आटा मात्र मोदक है ? या शकर मात्र मोदक है ? अथवा घृत मात्र मोदक है ? नहीं, इन तीनों का एकीकरण होने

सम्मद्दंसण-णाणं, चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो, तत्तिय-मइयो णिओ अप्पा।।

समीचीण-तच्चसद्धाणं सम्मत्तं। तच्चाणं जधत्थ-णाणं सम्मणाणं जिणागम-विहिद-तेरहविहचरित्त-पालणं सम्मचारित्तं।

एवमेव रदणत्तयं भूदत्थ-मोक्खमग्गो। अण्ण-कप्पिदमग्गो णो मोक्खमग्गो, ते सव्वे उम्मग्गा। इदं रदणत्तयं उहयरूवं। सवगा समणा य रदणत्तयं पालेंति। देस-संजमो सावग-धम्मो एवं सपुण्णदो रदणत्तयधम्म-

पर ही मोदक तैयार होता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की एकता को ही सूत्रकार उमास्वामी महाराज ने मोक्षमार्ग स्वीकारा है। यथा 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्त्वार्थ सूत्र अ.1/सूत्र 1)

आचार्यश्री नेमिचंद स्वामी ने ग्रंथराज 'बृहद् द्रव्यसंग्रह' में निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग की चर्चा करते हुए लिखा है कि-'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो तथा निश्चयनय से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है, उसे मोक्ष का कारण जानो।'

समीचीन तत्त्व-श्रद्धान सम्यक्त्व है। तत्त्वों का यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है। जिनागम-विहित तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करना सम्यक्चारित्र है।

यही रत्नत्रयधर्म सत्यार्थरूप मोक्षमार्ग है, अन्य कल्पित मार्ग मोक्षमार्ग नहीं, वे सब उन्मार्ग हैं। यह रत्नत्रयधर्म-उभय-रूप है। श्रावक तथा श्रमण, दोनों रत्नत्रय धर्म का पालन करते हैं। देश-संयम श्रावकों का होता है तथा सम्पूर्णतः रत्नत्रय-धर्म को पालन करना महाव्रती संयमी

पालणं महव्वदी-समणधम्मो। जो साहगो खादि-लाह-पूयादो पुहं करेदि रदणत्तय-धम्मस्स णिद्दोस-साहणं, लोगाचारं मोत्तूणं लोगुत्तराचार-रदो एवं जो मुंचेदि भवाहिणंदण-णिमित्ताइं, एरिसो विसुद्ध-साहगो पवज्जेदि णिव्वाण-सिरि-वरणं। तं जहा-

भवाभिनंदिनः केचित्, संति संज्ञा-वशीकृताः।
कुर्वंतोऽपि परं धर्मं, लोक पडवि तादृशः।।

आहार-भय-मेहुण-परिग्गहा चदु-सण्णाओ। जीवो इमेहिं चदुग्गदीसुं हिंडेदि। अवर-हेदू लोगिगकज्ज-जणेसुं च अणुरत्तभावो। एरिसा साहगा संसारत्तो कहं णिव्वाणं लहिस्संति? चित्त-पवित्तत्तं चरित्त-उज्जलत्तं आद-विसुद्धत्तं च मोक्ख-उवायो। सुद्धचारित्त-पालण-फलं अदि-उत्तमं मोक्ख-सुहं। तहेव चारित्त-विराहणा उत्तमफलं णिग्गोदो दुग्गदी य।

श्रमणों का धर्म है। जो साधक रत्नत्रय-धर्म की निर्दोष साधना करता है, ख्याति-पूजा-लाभ से परे होकर, साथ ही लोकाचार को छोड़कर लोकोत्तराचार में लीन होता है, जिसने भव के अभिनंदन के निमित्तों को छोड़ दिया है, ऐसे निर्मल साधक ही निर्वाणश्री के वरण को प्राप्त होते हैं।

आचार्य अमितगति स्वामी ने भवाभिनंदी साधु की बड़ी सुंदर परिभाषा की है कि-'कुछ मुनि परम-धर्म का अनुष्ठान करते हुए भी भवाभिनंदी (संसार का अभिनंदन करनेवाले) अनंतसंसारी तक होते हैं, जो कि संज्ञाओं के वशीभूत हैं।'

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाएँ हैं। इन्हीं के कारण चार गतियों में भटक रहा है जीव। दूसरा हेतु लौकिक कार्यों और लौकिक जनों में अनुरक्त रहते हैं अर्थात् लोगों के आराधने, रिझाने आदि में रुचि रखते हुए प्रवृत्ति होना। ऐसे साधक संसार से निर्वाण प्राप्ति कैसे करेंगे? मोक्ष का उपाय चित्त की पवित्रता, चारित्र की उज्जवलता और आत्म-विशुद्धता है। जो शुद्ध चारित्र का पालन करता है, उसका फल अति-उत्तम मोक्ष-सुख है। उसी प्रकार जो चारित्र की विराधना करता है, उसका उत्तम फल निगोद/दुर्गति है।

जीवो असुहोवओगेणं असुह-संसार-वड्ढगं अट्ठकम्मबंधं करेदि। अट्ठ-कम्माणि अप्पं अणादिणा संसारण्णवे णिबुड्ढावेंति। णूणं कम्मकत्ता णो अण्णो सयमेव जीवो। अणादिणा जीवो किदो रागादिभावा, तम्हा अणादिणा कम्मबंधो तहा कम्मबंधो तम्हा रागादिग-भावा जादा। अयं बीय-रुक्ख-सरिसो संबंधो। तं जहा समयपाहुडे-

जीव-परिणाम-हेदुं, कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल-कम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमदि।।

जीवस्स सुहासुह-परियट्टणं सकिद-कम्मोदयादो होदि। परदव्वं सुहासुह-उवादाण-कत्ता णत्थि, णिमित्तमेत्तं होदि। जीवो रागदसाए इंदिय-सुहाभासा सुहं इंदिय-भोगाणं लाहाभावं दुहं च मण्णेदि। किंदु भूदत्थं

यह जीव अशुभोपयोग के माध्यम से अशुभ संसार-वर्धक अष्ट कर्मों का बंध करता है। आठों कर्म आत्मा को अनादिकाल से संसारार्णव में गोते लगवा रहे हैं। यथार्थ में कर्मों का कर्ता अन्य कोई नहीं, स्वयं जीव ही है। इसने रागादि-भाव अनादि से किए, इसलिए अनादि से कर्म-बंध है तथा कर्म-बंध है इसलिए रागादिक-भाव हुए। यह बीज-वृक्ष जैसा संबंध है।

'समयसार' में इस विषय में सुंदर गाथा है कि-'जीव के राग-द्वेष परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल-द्रव्य कर्मरूप परिणमन करता है, वैसे ही पौद्गलिक-कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादिक-रूप परिणमन करता है।'

अतः, जो शुभाशुभ परिणमन जीव का हो रहा है, वह स्वकृत कर्मोदय से ही हो रहा है। पर-द्रव्य किसी के शुभाशुभ का उपादान-कर्ता नहीं है, निमित्त बन सकता है। यह जीव राग-दशा में इंद्रिय-सुखाभासों को सुख मान बैठा है तथा इंद्रिय-भोगों की प्राप्ति के न होने को दुःख। पर सत्यता कुछ और है, उसे नहीं समझा सका। मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक जीव को

णो जाणेदि। मोक्ख-लाहिच्छुगं कम्मबंधणं पवज्जेदव्वं। बंधुजुदो खु होदि मुत्तो। परमट्ठेणं भवस्स सुह-दुक्खाइं, दुक्खरूवाइं एव। भूदत्थसुहं अदेही-सुद्ध-सिद्धप्पं एव। जीवो विसरेदि तं अक्खय-अणंत-टंकुक्किण्ण-परमपारिणामिग-णायग-आदसुहं। सुहाभासेसुं दुल्लहत्तेणं पत्तं माणव-पज्जायं णासेदि। कम्मत्तो कम्मं, गदीदो गदी, धारा-पहावरूवेणं संचरेदि। जावं जीवो कम्मबंध-कज्जाणि णवि णिवारेज्जा, तावं कम्मबंधो णवि पसमेज्जा। कम्मबंध-अभावत्थं उज्जोगो आवस्सगो।

मोक्ख-लाहस्स पुव्विं कम्मबंधं पवज्जेदु, णवरि बंधजुदो हि मोक्खो। जो णवि बज्झेदि, सो किं मुच्चेज्जा? जदि आदा सव्वहा अबंधो एव अहवा मुत्तो एव, पुण होहिदि संसाराभावो। जत्थ संसाराभावो तत्थ मोक्खाभावो वि। जदि आदा सव्वहा बंधरूवो पुण होहिदि मोक्खाभावो। आदा

कर्म-बंधन स्वीकार करना चाहिए, कारण कि बंध-युक्त ही मुक्त होता है। परमार्थदृष्टि से देखा जाए तो संसार में जो सुख-दुःख हैं, वे दोनों दुःखरूप ही हैं। सच्चा सुख तो एक अशरीरी, शुद्ध, सिद्धात्मा को ही है। उस अक्षय-अनंत टंकोत्कीर्ण परम-पारिणामिक ज्ञायक-स्वभावी आत्मा के सुख भूला है यह जीव। सुखाभासों में दुर्लभता से प्राप्त मानव-पर्याय को नष्ट कर रहा है। कर्म से कर्म, गति से गति, धारा-प्रवाह-रूप से चल रही है। जब तक यह जीव कर्म-बंध के कार्यों को विराम नहीं देगा, तब तक कर्म-बंध के कार्यों को विराम नहीं देगा, तब तक कर्म-बंध शांत नहीं होगा। कर्म-बंध के अभाव के लिए पुरुषार्थ करना अनिवार्य है।

मोक्ष प्राप्ति के पूर्व हमें कर्म-बंध स्वीकार करना पड़ेगा, कारण बंध-युक्त के ही मोक्ष होता है। जो बँधा ही नहीं, वह छूटेगा क्या ? यदि आत्मा सर्वथा अबंध ही है, मुक्त ही है, तो संसार का अभाव हो जाएगा। जहाँ संसार का अभाव होगा, तो वहाँ मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा। यदि आत्मा को सर्वथा-बंधरूप ही मानते हैं, तो भी मोक्ष का अभाव हो जाएगा। अतः स्पष्ट है कि आत्मा सर्वथा न तो बंधस्वरूप ही है, न अबंध-स्वरूप।

सव्वहा ण दु बंधो णेव अबंधो हि। संसार-अवेक्खाए बंधो, मोक्ख-अवेक्खाए अबंधो। जहा हेम-दिसदो किट्टिमा-जुत्तो होदि पुण अणले ताविदूणं सुद्ध-हेमरूवो णिम्मवेदि, तहेव असुद्ध-आदा संसार-अवत्थाए कम्म-कालिमा-जुत्तो। मुमुक्खु-साहगो झाणाणलेणं कम्मपंकं दज्झिदूणं अप्पत्तो विओजेदि, तदा आदा सुद्ध-हेम व्व णियलपरमप्पपदं लहेदि। एवमेव मोक्ख-सिवत्व-णिव्वाण-लाहो।

अह विभिण्ण-दंसणेसुं णिव्वाणं। संखदंसणे सदाकालं अहिभोदिग-अहिदेहिग-अहिदेविग-दुक्खविलयं णिव्वाणं। वेसेसिग-दंसणे-'बुद्धयादिवैशेषिकगुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्षः।' सुगद-दंसणे-'प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्'। एवं सुगदे दुविहं णिव्वाणं।

संसार अपेक्षा बंधरूप है, मोक्ष अपेक्षा अबंधरूप है। जैसे स्वर्ण-पाषाण किट्टिमा से युक्त होता है, परंतु अग्नि में तपाकर शुद्ध स्वर्ण रूप तैयार कर लिया जाता है, उसी प्रकार यह अशुद्ध आत्मा संसार-अवस्था में कर्म-कालिमा से युक्त है। मुमुक्षु साधक ध्यानाग्नि के माध्यम से कर्म-कालिमा को जलाकर आत्मा से पृथक् कर देता है, तब यह आत्मा शुद्ध-स्वर्णवत् निकल-परमात्म-पद को प्राप्त कर लेता है। इसे ही मोक्ष/शिवत्व/निर्वाण की प्राप्ति कहते हैं।

विभिन्न दर्शनों की दृष्टि में निर्वाण

सांख्यदर्शन- सांख्यों ने अधि-भौतिक, अधि-दैहिक और अधि-दैविक इन तीन प्रकार के दुःखों का सदा के लिए दूर हो जाना मोक्ष माना है।

वैशेषिक दर्शन- 'बुद्ध्यादिवैशेषिकगुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्षः' अर्थात् वैशेषिक बुद्धि आदि विशेष गुणों का नाश हो जाना ही आत्मा का मोक्ष मानते हैं।

बौद्धदर्शन- 'प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्।' जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्मा की संतान का विच्छेद होना ही मोक्ष है। साथ ही

सोवाहिसेस-णिव्वाणं णिरुवाहिसेस-णिव्वाणं। सोवाहिगसेसे केवलं अविज्जा-तिण्हा-पहुदि-आसव-विणासो, सुद्ध-चिदसंतदी अवसेसा। णिरुवाहिगसेसे चिदसंतदी वि णस्सेदि।

अह जिणसासणे णिव्वाणं। तं जहा-'निरवशेष-निराकृत-कर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविक-ज्ञानादिगुणमव्याबाध-सुखमात्यन्तिकमवस्थन्तरं मोक्ष इति।' समए दुविहं णिव्वाणं। दव्वभावणिव्वाणं चेदि। एवं पि दव्वसंगहे-

सव्वस्स कम्मणो जो, खयहेदू अप्पणो दु परिणामो।
णेयो स भावमोक्खो, दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो।

बौद्ध दर्शन दो प्रकार के निर्वाण मानता है-सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष।

सोपाधिशेष निर्वाण में केवल अविद्या, तृष्णा आदिरूप आस्रवों का नाश होता है, शुद्ध चित्संतति शेष रह जाती है, किंतु निरुपाधिशेष निर्वाण में चित्संतति भी नष्ट हो जाती है।

जैन दर्शन में निर्वाण

'निरवशेष-निराकृत-कर्ममल-कलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्य स्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थन्तरं मोक्ष इति।'

अर्थ- जब आत्मा भावकर्म-द्रव्यकर्म-मल-कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है, तब उसके जो अचिन्त्य, स्वाभाविक, ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष के आगम में दो भेद लिए हैं-द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। जैसा कि द्रव्यसंग्रह में कहा कि-'सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का परिणाम है, उसको भाव-मोक्ष जानना चाहिए और कर्मों की जो आत्मा से सर्वथा भिन्नता है, वह द्रव्य मोक्ष है।'

तच्चट्ठसुत्ते वि-'बंधहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।' बाहत्तरी-कम्मपयडि-विणासो अजोग-गुणट्ठाणस्स वे चरमसमए एवं तेरह-कम्मपयडिविणासो अजोग-गुणट्ठाणस्स चरमसमए होदि। पंचलहु-वण्ण-उच्चारणकाले जीवो भजेदि णिव्वाणं। अइउऋलृ-वण्णा लहु-वण्णा। एरिसे अप्पकाले जीवो सुद्ध-अदिंदिय-सुहं पवज्जेदि। पायो मूढ-चित्ते संका जायदि-कहं होहिदि सिद्ध-सुहं? तं जहा-

आत्मोपादानसिद्धं, स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालम्,
वृद्धिह्रासव्यपेतं, विषय-विरहितं निःप्रतिद्वन्द-भावम्।
अन्दद्रव्यानपेक्षं, निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकालम्,
उत्कृष्टानंतसारं, परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्।।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा कि-'बंध-हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यंतिक क्षय होना ही मोक्ष है।'

72 कर्म-प्रकृतियों का अयोग-केवली गुणस्थान के उपान्त्य-समय में विनाश होता है तथा तेरह कर्म-प्रकृतियों का अयोग-केवली गुणस्थान के अंतिम-समय में विनाश होता है। पाँच ह्रस्व वर्णों के उच्चारण-काल में यह जीव निर्वाण-पद को प्राप्त होता है। अ.इ.उ. ऋ.लृ.-ये पाँच वर्ण हैं। इतने अल्पकाल में जीव शुद्ध अतीन्द्रिय सुख प्राप्त कर लेता है।

अधिकांशतः अज्ञ व्यक्तियों के अंतस्थ में एक शंका उत्पन्न होती है कि सिद्धों का सुख कैसा होता होगा? इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने 'सिद्ध भक्ति' में सिद्धों के सुखों का वर्णन करते हुए लिखा हैं कि-'निज आत्मा-रूप उपादान-कारण से सिद्ध स्वयं अतिशययुक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि तथा ह्रास (न्यूनता) से रहित, विषयों से शून्य, प्रतिद्वंद्व अर्थात् प्रतिपक्षता से वर्जित, अन्य द्रव्यों की अपेक्षा से मुक्त, उपमारहित, अप्रमाण, नित्य और सर्वकाल में उत्तम तथा अनंतसारतायुक्त ऐसा जो परम-सुख है, वह मोक्ष में सिद्धों के होता है।'

जत्थ जम्मजरामरण-रोगाभावो, सा सिद्धगदी। अप्पण्हू जिणागम-णाण-अभावे परमप्पस्स पुण-पुण आविब्भावो मण्णेदि। सो परमबंभ-सरूव-सिद्धो संसारीजीवाणं कट्ठहरणं पुणो मज्झलोए ओअरेदि, इदं वयणं जिणागमस्स बहि।

णाणावरण-दंसणावरण-वेदणीय-मोहणीय-आउ-णाम-गोद-अंतराय-कम्माणि भवंकुरं जादावेदि। जदा बीयं संदुड्ढेदि पुण कहं अंकुराणि जादेंति? तं जहा तच्चट्ठसारे-

दग्धेबीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्म बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः।।

मुत्ति-अवत्थाए आदा परसंजोग-रहिदो, सग-सहाव-अवट्ठिदो, सव्वहा किलेसवज्जिदो, अतरंग-सायरमिव सव्वविह-उस्सुगत्त-मुत्तो,

जहाँ पर जन्म, जरा, मृत्यु इन तीनों रोगों का अभाव होता है, वह सिद्ध-गति है। अल्पज्ञ जीव जिनागम-ज्ञान के अभाव में परमात्मा का पुनः अवतार मानते हैं। वह परमब्रह्म-स्वरूप सिद्ध-परमात्मा संसारी जीवों के कष्टों को हरण करने के लिए पुनः मध्यलोक में पधारते हैं-यह कथन जिनागम के पूर्ण बाहर है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय-ये आठ कर्म भवांकुर को उत्पन्न करनेवाले हैं। जब बीज ही जल चुका हो, तो अंकुर कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? इस विषय में अमृतचंद सूरिकृत 'तत्त्वार्थसार' अवश्य देखें। उन्होंने लिखा है-'मुक्ति-अवस्था में आत्मा पर-संयोग से रहित, स्वस्वभाव में अवस्थित, निस्तरंग समुद्र के समान सर्व प्रकार की उत्सुकता से मुक्त, सर्वथा क्लेश वर्जित, कृत्कृत्य,

किदकिच्चो, णिक्कंलको, णिराबाहो एवं सदा-आणंदरूवो संचिट्ठेदि, एवमेव परमबंभसरूवो। तं जहा समए-

णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवएहिं संजुत्ता।।
अट्ठविहकम्म-वियला, सीदीभूदा-णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा।।

सेसा लोग-कप्पिदसिद्धा अगेज्झा। संसारे विचित्त-सिद्धा। जहा अंजण-सिद्धा, गुडगा-सिद्धा, खग्ग-सिद्धा, पादुगा-सिद्धा; एदे सव्वे परमट्ठसुण्ण-सिद्धा। मज्झाणं णियप्पोवलद्धि-सिद्धीदो पओयणं, ण दु

निष्कलंक, निराबाध और सदा आनंद-रूप तिष्ठता है, यही परमब्रह्म का रूप है।

द्रव्यसंग्रह तथा गोम्मटसार (जीवकांड) में सिद्धस्वरूप का वर्णन किया है कि-'जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित है, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों का धारक है तथा अंतिम शरीर से कुछ कम है, वह सिद्ध है और ऊर्ध्वगमन-स्वभाव से लोक के अग्र भाग में स्थित है, नित्य है तथा उत्पाद और व्यय इन दोनों से युक्त है।' जैसा कि कहा है कि-'जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनंत सुख रूपी अमृत के अनुभव करनेवाली शक्तिमय हैं, नवीन कर्मबंध के कारणभूत मिथ्या-दर्शनादि भावकर्मरूपी अंजन से रहित हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवहागनत्व, सूक्ष्मत्व, कृतकृत्य, अगुरुलघुत्व ये आठ गुण आठ कर्मों के अभाव से जिनके प्रकट हो चुके हैं, लोक के अग्रभाग पर निवास करनेवाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।'

लोक में शेष कल्पित जो सिद्ध हैं, वे यहाँ ग्राह्य नहीं हैं। संसार में अनेक प्रकार के सिद्ध हैं अंजन-सिद्ध, गुटका-सिद्ध, खड्ग-सिद्ध, पादुका-सिद्ध, ये सभी सिद्ध परमार्थशून्य हैं। हमारे लिए स्वात्मोपलब्धि-

अण्णदो। एवं जिणागमे णिव्वाणसरूव-सुह-वक्खाणं करंतं भणिदं-ते सिद्धा संसारे कदावि णो आगच्छिस्संति। परमप्प-पदणं पुणो पुणो संसारे णवि होदि; इदं सामिणा वि पण्णत्तं-

जन्मजराभयमरणैः, शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं, निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्।।
काले कल्पशतेऽपि च, गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्, त्रिलोकसंभ्रांति करणपटुः।।

कत्तिग-किण्ह-अमावस्सा-दिणे वड्ढमाण-सामी णिव्वाणं पत्तो। देवा मणुया तित्थेस-णिव्वाण-महुच्छवं भत्तीए किदा। अज्ज वि सावगा णिव्वाण-महुच्छव-दिणे भत्तीए णिव्वाण-णेवेज्जं समप्पेंति। वड्ढमाण-

सिद्धि से प्रयोजन है, अन्य से नहीं। साथ ही जिनागम-प्रणीत मोक्ष/निर्वाण का स्वरूप सुख का वर्णन करते हुए कहा कि वे सिद्ध-परमात्मा संसार में कभी नहीं आएँगे। परमात्मा का पतन पुनः संसार में नहीं होता, इस बात का कथन 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में समन्तभद्र स्वामी ने बड़े ही सुंदर रूप से किया है कि-'जन्म, वार्धक्य रोग, मरण, शोक, दुःख और भयों से रहित, शुद्ध सुख से सहित, नित्य, अविनाशी निर्वाण निःश्रेयस माना जाता है।'

''सैकड़ों कल्पकाल बराबर काल के बीत जाने पर भी तथा यदि तीनों लोकों के सभ्रांत करने में समर्थ उत्पाद भी होवे, तो भी सिद्धों में विकार दिखाई नहीं देता है अर्थात् शुद्धात्मा पुनः संसार में जन्म धारण नहीं करती।''

कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन तीर्थंकर वर्धमान महावीरस्वामी ने परम निर्वाण-अवस्था को प्राप्त किया था। देवों, मनुष्यों ने तीर्थंकर भगवान् के निर्वाण-महोत्सव को भक्तिपूर्वक मनाया। आज भी श्रावकगण, निर्वाण-महोत्सव के दिन भक्तिपूर्वक निर्वाणलाडू चढ़ाते हैं। शाम को

सामिणो पहाण-गणहरं गोदम-सामिं केवलणाण-महिमा-महुच्छवं गोधूलिबेलाए दीवमालिगा उच्छवं करेंति अण्ण-कारणं णत्थि।

इह पवित्तपावण-दिणे पत्तेगा-साहग-सावगाणं च आद-साहणाए आद-आराहणाए समं अरुह-भत्तीए समयं दिज्जा एवं भावणं भावेज्जा, पहु! कदा मे सा अवत्था होदु जदा सहजसरूवं सिवत्तं च पवज्जेमु।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

गोधूलिबेला में दीपमालिका-उत्सव मनाते हैं। कारण, भगवान् महावीरस्वामी के प्रधान गणधर गौतमस्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति की महिमा का महोत्सव है, अन्य नहीं।

इस पवित्र पर्व के दिन प्रत्येक साधक एवं श्रावक के लिए आत्म-साधना, आत्माराधना के साथ अर्हत्-भक्ति में समय लगाना चाहिए। साथ ही भावना भाएँ कि प्रभु! वह अवस्था कब मेरी आवे जब हम सहज-स्वरूप शिवत्व को प्राप्त करें।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

समाहिमरणं णो बला आदघादो

विण्णप्पा! समण-सक्किदि-णिहिदाए चाग-तवस्सा-अब्भुद-महिमाए णिस्सेस-वीसं अच्छेरं करेदि। चरियाए अहिंसा, वाणीए सियवादो एवं दिट्ठीए अणेगंतो; इमीए मूलमंतं। जिणदंसणे संजमं जीवण-सिंगारं भणिदं। आद-पहावणा-मूलाधारो संजमो। पहुत्तसत्ति-पगासिद-मज्झमो संजममग्गो। इमेणं विणा णर-पज्जायो णिग्गंध-पुप्फमिव। जहा-गंधविहूण-पुप्फस्स णो मुल्लं, तहेव संजमरहिद-जीवणं णिरत्थगं।

संजमो मूलाधारो, सल्लेहणा तस्स कलसो। जहा-णिक्कलस-मंदिरं सोहा-हीणं। तहेव सल्लेहणा-विहूण-संजमो सोहा-हीणो। साहगस्स साहणा-पडिफलं समाही। साहगस्स पुण्ण-णिम्मल-णिद्दोस-साहणाए

समाधिमरण बलात् आत्मघात नहीं

हे विज्ञात्मन्! श्रमण-संस्कृति में निहित त्याग और तपस्या की अद्भुत महिमा ने संपूर्ण विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया है। चर्या में अहिंसा, दृष्टि में अनेकांत और वाणी में स्याद्वाद इस संस्कृति के मूलमंत्र है। जैनदर्शन में संयम को जीवन का शृंगार कहा गया है। आत्मा-प्रभावना की नींव संयम है। प्रभुत्व-शक्ति को उजागर करने का कोई माध्यम है तो वह है-संयममार्ग। इसके बिना मनुष्य (नर) पर्याय निर्गंध-पुष्प के तुल्य है। जिस प्रकार सुगंध-रहित-पुष्प की कोई कीमत नहीं होती, ठीक उसी प्रकार संयम-रहित-जीवन व्यर्थ है।

संयम-नीव है, तो सल्लेखना उसका कलश है। जिस प्रकार कलश-रहित मंदिर शोभा को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही सल्लेखना-विहीन-संयम भी शोभा-हीन हो जाता है। साधक की साधना का कोई प्रतिफल है, तो वह है समाधि। साधक की पूर्ण साधना निर्मल

खु होदि णिम्मल-समाही। सम्म-साहगस्स होदि मिच्चु बोहो। जस्स जीवस्स जारिसो गदि-बंधो, अंतो तस्स मदी वि तारिसा।

साहगस्स समाहि-सल्लेहणा य एरिसा उक्किट्ठ-संपदा, जाए वंछं करेदि, पत्तेग-जीवो। जो असुहकम्मबंधं किदो, तं णो समाहि-संपदा-लाहो। सुदिट्ठि-भव्वस्स एव समाही, कुदिट्ठि-अभव्वस्स णो समाही। जे साहगा इच्छेंति णिम्मल-समाहिं, ते असमाहि-कारणादो। णिवज्जिदूणं णाण-दंसण-चरित्तेसुं वरस्स अविणयदो णिवज्जेज्जा।

जदि कोवि साहगो दिक्खाए दिण-रयणि-मुहुत्तं पि जेट्ठो, पुण जेट्ठदाए मूलाचारे तं गुरु-सण्णा। गुरु-अविणयो णूणं असमाहिं लहेदि। जिण-आणं भंजगो जिणागम-विहूणकिरिया-रदो वा लहेदि असमाहि-मरणं।

और निर्दोष होने पर ही निर्मल समाधि हो पाती है। सच्चे साधक को मृत्यु का बोध हो जाता है, क्योंकि जिस जीव का जैसा गतिबंध होता है, अंत समय में उसकी मति वैसी हो जाती है।

साधक के लिए समाधि और सल्लेखना ऐसी उत्कृष्ट संपदा है जिसकी कामना हरेक व्यक्ति करता है परंतु जिस जीव ने अशुभ कर्म का बंध कर लिया हो, उसे समाधिरूप संपदा मिल नहीं पाती। सम्यक्-दृष्टि भव्य जीव की ही समाधि होती है, अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव की समाधि नहीं होती। जिन साधकों को निर्मल समाधि चाहिए उन्हें सर्वप्रथम असमाधि के कारणों से बचकर अपने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र में जो श्रेष्ठ है, उनकी अविनय से बचना चाहिए।

यदि कोई साधक दीक्षा में एक दिन या एक रात या एक मुहूर्त भी बड़ा है अर्थात् ज्येष्ठ है, तो उन्हें ज्येष्ठता की अपेक्षा 'मूलाचार' ग्रंथ में 'गुरु' संज्ञा दी गई है। गुरु का अविनयी नियम से असमाधि को प्राप्त करता है। जैनागम-विहीन-क्रियाओं को पकड़ने से जिनाज्ञा को भंग करने वाला समाधि-सहित मरण नहीं कर पाता है।

जिणागमे मरणं पंचविहं। बालबाल-मरणं, बाल-मरणं, बालपंडिद-मरणं, पंडिद-मरणं, पंडिदपंडिद-मरणं चेदि। अण्णाण-मिच्छत्ते जीवमरणं बालबाल-मरणं। सम्मदिट्ठिणो अव्वद-दसाए मरणं बाल-मरणं। देस-संजदस्स मरणं बालपंडिद-मरणं। महव्वदी-समणस्स विहिपुव्वग-सल्लेहणा-मरणं पंडिद-मरणं। जिणवर-केवलि-मरणं पंडिदपंडिद-मरणं। जीवो णंतहुत्तं अण्णाण-दसाए किदो बालबाल-मरणं, णवि किदो पंडिद-मरणं। जदि एगहुत्तं हवीअ पंडिद-मरणं पुण उक्किट्ठेणं सत्त-अट्ठ-भवगहणे अहवा जहण्णेणं दो-तिय-भवगहणे हवीअ णिव्वाण-लद्धी।

मरणकाले पीदिपुव्वगं साहगं सल्लेहणा-गहण-विहाणं। तं जहा सव्वत्थसिद्धीए-'सम्यक्काय-कषायलेखना सल्लेखना। कायस्य

जैनागम में मरण के पाँच भेद किए गए हैं-1. बालबालमरण, 2. बाल मरण, 3. बाल पंडित मरण, 4. पंडित मरण, 5. पंडित-पंडित मरण। अज्ञान, मिथ्यात्व की दशा में जो जीव मरण को प्राप्त हुआ, उसका वह बालबाल मरण है; सम्यक्दृष्टि जीव का अव्रत-दशा में मरण बालमरण कहा गया है; देश-संयमी (अणुव्रती) का मरण बाल-पंडित मरण तथा महाव्रती मुनिराजों का विधिपूर्वक सल्लेखना से मरण होने पर पंडित-मरण कहलाता है। केवलि का मरण पंडित-पंडित मरण है। इस जीव में अज्ञान-दशा में बालबाल मरण तो अनंत बार किए, परंतु पंडित-मरण नहीं किया। अगर एक बार पंडित-मरण हो जाता तो 7 अथवा 8 भव ही धारण करता और न्यूनतम 2-3 भव के बाद मोक्ष की प्राप्ति हो जाती।

मरणकाल नजदीक आने पर प्रीतिपूर्वक साधक को सल्लेखना धारण करने का विधान है। 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रंथ में सूत्र दिया गया है कि-'अच्छे प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना अर्थात् इनका कृश करना सल्लेखना है। बाहर में शरीर को, अंतरंग में कषायों को, उत्तरोत्तर

बाह्यस्याभ्यंतराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।' साहगो सल्लेहणं पीदीए धारेदि। पीदि-अभावे बलादो सल्लेहणं णवि कारेदि, णीदि-सब्भावे साहगो सयमेव करेदि सल्लेहणं। इमं धारणट्ठं समायस्स धम्मस्स य कोवि भारो णो होदि। साहगो सग-इच्छाए मिच्चुकालं समीवं जाणित्ता, धम्मज्झाणजुत्तो पाण-विसज्जणं करेदि। समाहिमरणं सल्लेहणा। सम्म-धी सामण्णरूव-भावो समाही। जस्स जम्मं तस्स णूणं मरणं, तं कोवि णो रुंभेदि, इदं सच्चं सम्मभावदो अंतिम-उस्सासा मंचेदु अहवा अणुगज्जिदूणं पाण-विसज्जाणं कुणेदु, णूणं दोसुं अवत्थासुं पाण-चागो होदि।

सल्लेहणा-विसय-संदब्भदो अविदिदा लहु-पण्णावंता सल्लेहणा-विसए पुच्छमाणा वि मिच्चुं भजिस्संति। ते एवमेव विचिंतिज्जा-

काय और कषाय को पुष्ट करनेवाले कारणों को घटाते हुए अच्छी तरह से कृश करना सल्लेखना है। साधक सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक धारण करता है, क्योंकि प्रीति के न रहने पर बलपूर्वक सल्लेखना नहीं कराई जाती, परंतु प्रीति के रहने पर साधक स्वयं ही सल्लेखना करता है। इसे धारण करने के लिए समाज अथवा धर्म का किसी प्रकार का दबाव नहीं होता, बल्कि साधक स्वेच्छा से मृत्यु-काल समीप समझकर, धर्मध्यान से युक्त होकर प्राणों का विसर्जन करता है। सल्लेखना को समाधिमरण भी कहा जाता है। समाधि से तात्पर्य सम साम्य धी अर्थात् समता-बुद्धिरूप परिणाम। यह सत्य है कि जिसका जन्म हुआ है, उनकी मृत्यु नियम से होगी, उसे कोई टाल नहीं सकता। चाहे साम्य-भाव से अंतिम श्वासों को छोड़े अथवा चिल्ला-चिल्लाकर प्राणों का विसर्जन किया जाए, परंतु दोनों अवस्था में प्राणों का त्याग तो होता ही।

सल्लेखना विषय के संदर्भ से अनभिज्ञ, लघु-बुद्धिवाले सल्लेखना विषय पर जो प्रश्न खड़े कर रहे हैं, वह भी एक दिन मृत्यु को प्राप्त होंगे। उन्हें यही चिंतन और विचार करना चाहिए कि उनका अंतिम समय शांत-भावपूर्वक आ जाए। शांत/निस्पृह भाव से मृत्यु का नाम ही

तेसिं मरणं संत-भावदो होज्जा। संत-णिप्पुहभावदो मरणं समाहि-मरणं। बला आदवहो समाहिमरणं णत्थि। जदा साहगस्स आऊ पुण्णत्तं पडि होदि, तदा जोग्ग-गुरु-चरणे जादूणं अणुणय-विणयं च करेदि-भगवं! इदं देहं साहणाए असहायगं। णेव होदि णिम्मल-संजम-पालणं च। इदि आदधम्म-रक्खण्ट्ठं सल्लेहणा-वदं जच्छेदु। भवणे अणल-संलग्गे पढमो जीवो अणलं विज्झेदि एवं करेदि पुण्ण-जदं भवण-रक्खणस्स। भवण-रक्खणस्स असक्क-ठिदीए सो रदण-सुवण्णादि-दव्वाणि लेदूणं भवणादो णिगच्छेदि एवं भवणं मुंचेदि। तहेव जोई पढमो धम्मसाहणाए देहं संरक्खेदि एवं जदा जाणेदि देह-रक्खणं असक्कं तदा सो रदणभूद-रदणत्तयधम्म-संरक्खणट्ठं करेदि समाहिमरणं, सो कसाय-देहत्तो णिप्पुह-वित्तिं पडिवज्जिदूणं विचिंतेदि-

सल्लेखना/समाधि मरण है, पर बलात् आत्मघात करना नहीं है। साधक की आयु जब पूर्णता की ओर होती है, तब योग्य आचार्य महाराज (गुरु) की चरणनिश्रा में पहुँचकर अनुनय-विनय करता है कि भगवन्! अब यह देह साधना में सहायक नहीं हो रही और ना ही संयम का निर्मल पालन हो पा रहा है, अतः आत्मधर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना-व्रत प्रदान करें। यह सत्य है कि किसी व्यक्ति के भवन में अग्नि लग जाने पर सबसे पहले वह अग्नि बुझाता है और भवन की रक्षा का पूर्ण यत्न करता है। भवन बचने की अशक्य-सी स्थिति में वह रत्न, स्वर्ण आदि द्रव्यों को लेकर भवन से बाहर आ जाता है और भवन को छोड़ देता है। ठीक उसी प्रकार योगी-जन सर्वप्रथम धर्म-साधना के लिए शरीर की पूर्ण रक्षा करता है और जब वह जान लेता है कि अब शरीर बचनेवाला नहीं है, तब वह श्रेष्ठ रत्न, रत्नत्रय धर्म की रक्षा की खातिर समाधि मरण करता है, अर्थात् कषायों से तथा शरीर से निष्पृहवृत्ति को स्वीकार कर चिंतन करता है कि-''धीर की मृत्यु निश्चित है और धैर्य-रहित जीव को भी अवश्य मरना है, दोनों स्थिति में मृत्यु जब तय है, तो धीरता-सहित मृत्यु का वरण करना श्रेष्ठ है।

वीरेण वि मरिदव्वं, णिव्वीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं, वरं हि वीरत्तणेण मरिदव्वं।।
धीरेण वि मरिदव्वं, णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं, वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं।।
सीलेण वि मरिदव्वं, णिस्सीलेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं, वरं हि सीलत्तणेण मरिदव्वं।।

जदा साहगो आइरियादो पत्थावेदि तदा णाणी-आइरियो जोग्ग-वेज्ज-अरिट्ठणाणेहिं तक्केदि साहग-आऊ वियलेज्जा, अस्स थोव-समयो हि आवसेसो, तदेव साहगं देदि सल्लेहणा-अणुमदी। मरणस्स किंचण समयस्स पुव्विं देह-ठिदि-कारग-परमाणूसुं होदि विपज्जासो जेणं इंदिय-सत्ती छिज्जेदि एवं देह-संघडिद-परमाणवो विकिरेंति तदा धिज्ज-मिदीसुं च णूणत्तं आगच्छेदि। एवमेव पकिरिया देहिग-अरिट्ठ-सूयगो। जिणागम-अणुसारेणं

कहा भी है-'शीलयुक्त और शीलरहित दोनों को मरना ही है तो क्यों न शील-सहित मरण को स्वीकार किया जाए।'

जब साधक आचार्य महाराज से प्रार्थना करता है, तब ज्ञानी आचार्य योग्य वैद्य अथवा डॉक्टर की सलाह और अरिष्टज्ञान से अंदाज लगा लेते हैं कि साधक की आयु क्षीण होनेवाली है, इसका अल्प समय ही अवशेष है, तब ही साधक को सल्लेखना की स्वीकृति दी जाती है। मृत्यु से कुछ समय पूर्व शरीर की स्थिति बनाए रखनेवाले परमाणुओं में विपर्यास आ जाता है, जिसके कारण इंद्रिय-शक्ति क्षीण हो जाती है और शरीर के संघटित परमाणु विघटित होने की ओर अग्रसर होने लगते हैं तब धैर्य और स्मृति में न्यूनता आने लगती है। यही प्रक्रिया शारीरिक-अरिष्टों की सूचक है। जैनागम के अनुसार जिस व्यक्ति को अपने पैर दिखाई न दें तो उसे अपनी आयु तीन वर्ष की जानना चाहिए, जंघा नहीं दिखने पर दो वर्ष, घुटना न दिखने पर एक वर्ष और वक्ष-स्थल दृश्यमान न होने पर दस माह की आयु शेष जानना

जं सग-पादा णो दीसेज्जा, पुण तं जाणेज्जा तस्स आऊ तिय-वरिस्स अवसेसो, जंघा णो दीसेज्जा पुण तस्स आऊ वे-वरिस्स अवसेसो, जाणू णो दीसेज्जा पुण तस्स आऊ वरिसस्स अवसेसो एवं वच्छत्थलो णवि दीसेज्जा पुण तस्स आऊ दह-माहस्स अवसेसो णेयो। इमेहिं णिमित्तेहिं आइरियो मरण-समयं जाणेदि। विसेस-अरिट्ठ-णाणट्ठं पस्स मूलाराहणं कल्लाण-कारगं जेण-आउव्वेदं च। आउ-ठिदि-पुण्णत्तं पडि अग्गसरे सदि सल्लेहणा-वदं धारेज्जा। सल्लेहणा समाहिमरणं, इमं मूढा अकालमरणं भासेंति। कदा सल्लेहणं धारेज्जा? तं जहा-

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखना-मार्याः।।

चाहिए। इन निमित्तों से आचार्य-महाराज मरण समय जान लेते हैं। विशेष अरिष्टों के बारे में जानना हो तो भगवती आराधना, कल्याण कारक, जैन आयुर्वेद ग्रंथ और आयुर्वेद शास्त्रों में यह विस्तृत रूप से उल्लेखित है। आयु की स्थिति के पूर्णता की ओर अग्रसर होने पर सल्लेखना-व्रत धारण किया जाता है। सल्लेखना समाधिमरण है, इसे अकालमरण की संज्ञा देनेवाले अज्ञ हैं।

सल्लेखना कब धारण करना चाहिए, इस संबंध में जैनदर्शन के महान् तार्किक आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने 'रत्नकरण्ड श्रावकचार' में इस संदर्भ में सूत्र दिया है-'प्रतिकार-रहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिए शरीर को छोड़ने को गणधरादि देव आर्य-पुरुष सल्लेखना कहते हैं।'

क्या सल्लेखना आत्मघात करना नहीं हैं?

इस तथ्य के समझने के पहले आत्मघात की परिभाषा को समझें, आत्मघात है क्या ? महान् आचार्य अमृतचंद स्वामी 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में लिखते हैं कि-''जो पुरुष निश्चयकर कषाय से रंजित होता हुआ कुम्भक श्वास

किं सल्लेहणा आदघादो णत्थि? पुव्विं जाणं आदघाद-परिभासं। किं आदघादो? तं जहा-

यो हि कषायाविष्टः, कुम्भकजलधूमकेतु-विष-शस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान्, तस्स स्यात्सत्यमात्मवधः।।

इमस्स विवरीदो सल्लेहणा-इच्छगो णो मरणं इच्छेदि, ण दु अणले सदी-पहव्व डेवेदि, णेव जले डेविदूणं पाणचागं करेदि। सो दु मरणकालं जाणित्ता संतभावेणं देह-विसज्जणं करेदि।

णणु किमु सल्लेहणा आदवहो णत्थि? सल्लेहणा एगं सासयं सच्चं, ण दु आदवहो। सल्लेहणाए पमादस्स अभावो। पमत्तजोगा पाण-वहो हिंसा। एरिसं किच्चं आदवहो। सल्लेहणाए ण दु हिंसा, णेव आदवहो। तं जहा-

मरणेऽवश्यंभाविनि, कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे।
रागादिमंतरेण, व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति।।

रोकता है, जल, अग्नि, विष और शास्त्रों के द्वारा प्राणों को नष्ट करता है, यही वास्तव में आत्मघात है।''

ठीक इसके विपरीत सल्लेखना करनेवाला न तो मरण चाहता है, न अग्नि में सतीप्रथा के समान कूदता है, न ही जल में कूदकर प्राणों का त्याग करता है। वह तो मरणकाल जानकर शांत-भाव से युक्त होकर देह का विसर्जन करता है।

सल्लेखना आत्मघात क्यों नहीं है?

जिन्हें यह शंका है कि सल्लेखना आत्मघात करना क्यों नहीं है ? उन्हें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि सल्लेखना एक शाश्वत सत्य है, आत्मघात करना नहीं है। सल्लेखना में प्रमाद का अभाव रहता है। प्रमत्त-योग से प्राणों का घात करना हिंसा है। ऐसा कृत्य आत्मघात करना होता है, परंतु सल्लेखना में न हिंसा है और न ही आत्मघात है। इस संदर्भ में महान् आचार्य अमृतचंद्रस्वामी ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रंथ की एक गाथा में

णणु जो धारेदि सल्लेहणं, किं सो णत्थि आदघादी? णवरि सो पाणा देहदो उस्सारणट्ठं उज्जमेदि, मरणं च इच्छेदि। पुव्वुत्त-गाहा-अणुसारेणं सल्लेहणा-गहणं कहं पि आदवहो णत्थि। णवरि सो मरण-समए कसाया किसिदूणं सग-भावा विसुद्धा करेदि, सग-संबंधीदो खमं याचेदि एवं परिग्गह-परिवारादो ममत्तं मोत्तूणं सुद्धप्पसरूव-चिंतणे रज्जेदि। किं आदघादी करेदि एरिसं णिम्मल-विसुद्ध-भावं? सो दु विसेस-रागद्दोसभावेहिं आदवह-चेट्ठं करेदि, कारण-विसेसेणं मरण-उज्जमं करेदि, मरण-जण्णादो संकिलेस-भावादो मरेदि।

स्पष्ट किया है कि-''मृत्यु के अवश्यंभावी होने पर राग-द्वेष और मोह के बिना कषाय और शरीर को कृश करने के व्यापार में प्रवर्तमान पुरुष के सल्लेखना धारण करने में आत्मघात नहीं होता है।''

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि जो पुरुष सल्लेखना धारण करता है, वह क्या आत्मघाती नहीं कहा जाता है ? कारण कि वह प्राणों को शरीर से हटाने के लिए उद्यम करता है, मरण चाहता है। इसी शंका का समाधान उपरोक्त श्लोक में किया गया है कि सल्लेखना धारण करना किसी भी दृष्टि से आत्मघात नहीं है, क्योंकि वह मरण-समय उपस्थित होने पर कषायों को कृश कर अपने परिणामों को विशुद्ध करता है, अपने संबंधियों से क्षमा माँगता है और परिग्रहों और कुटुम्बियों से ममत्व को छोड़कर शुद्धात्म-स्वरूप के चिंतवन में मग्न हो जाता है। क्या आत्मघात करनेवाला ऐसे निर्मल विशुद्ध परिणाम बना सकेगा ? वह तो विशेष राग-द्वेष भावों से आत्मघात करने की चेष्टा करता है, किसी कारण विशेष से मरने का उद्यम करता है, मरण जन्य संक्लेश भावों से मरता है। सल्लेखना में इन सभी बातों का अभाव है।

सल्लेहणाए ण दु रागद्दोसा, ण दु इट्ठाणिट्ठ-बुद्धी, णेव सल्लं च। अपित्त णिरवेक्ख-वीदराग-विसुद्ध-परिणामा संति। इदि सल्लेहणा अत्थि समाहिमरणं, आदवहो णत्थि। सम्म-भावेहिं चरम-पयाणं समाहिमरणं। इदं णो अकालमरणं, समदा-जीवणं एव। जावं जीवेदु, णिम्मलभावेहिं जीवेदु। इणमो चरम-जत्ताए पुव्व-उज्जदया। सफल-जीवण-जत्ताए उद्देस्सेणं साहगो साहणाफलरूवे पडिवज्जेदि सल्लेहणं। इमाए फलं परिणिव्वाणं मोक्ख-सुहं। सल्लेहणा-समा पावण-अहिंसाभावा आदवह-भासणं अप्पण्हुत्त-पयडीकरणं एव। कसायजण्ण-परिणदिफलं आदवहो। खमाभावेणं सहाव-लीणत्तं सल्लेहणा। जिणदंसणदो भिण्णा अण्ण-चिंतगा वि सल्लेहणं उत्तम-आवस्सग-साहणरूवे मण्णेंति। कस्स वि दंसणस्स

सल्लेखना में किसी प्रकार का न तो राग-द्वेष है, न इष्टानिष्ट बुद्धि और न ही कोई शल्य ही है, प्रत्युत निरपेक्ष, वीतराग, विशुद्ध परिणाम हैं। इन तथ्यों से स्वतः ही स्पष्ट है कि सल्लेखना समाधिमरण है, आत्मघात करना नहीं है, बल्कि साम्यभावों से यह अंतिम विदाई है। यह अकाल-मरण नहीं है, अपितु समता का जीवन जीना है। जब तक जिएँ, निर्मलभावों के साथ जिएँ। यह अंतिम-यात्रा की पूर्व तैयारियाँ हैं। सफल जीवन-यात्रा के उद्देश्य को लेकर साधक अपनी साधना के फल के रूप में सल्लेखना स्वीकारता है। इसका फल परिनिर्वाण अर्थात् मोक्ष-सुख है। सल्लेखना-जैसे पावन अहिंसा-परिणामों को आत्महत्या का रूप देना अल्पज्ञता का प्रकटीकरण ही कहा जाएगा। आत्महत्या तो कषायजन्य परिणति का परिणाम है। क्षमाभावपूर्वक स्वभाव में लीन हो जाना ही सल्लेखना है। जैनदर्शन से भिन्न अन्य चिंतकों ने भी सल्लेखना को उत्तम और आवश्यक साधना के रूप में देखा है। किसी भी दर्शन के अंतरंग भावों का ज्ञान होने के बाद ही इस तरह के प्रश्न-चिह्न लगाने की कोशिश करना चाहिए। यहाँ यह दृष्टव्य है कि जब राजा राममोहनराय ने सती-प्रथा पर

अब्भिंतर-भाव-णाणे सदि एरिसं पण्ह-चिण्हं आरोवेज्जा। जदा राया-राममोहणरायो सदी-पहाए रुब्भीअ, तदा वि हवीअ सल्लेहणा। सो इह विसए णो किदो विरोहं। सो जाणीअ इमाए सदी-पहा-समा पकिरिया णत्थि, जेणं पण्हं कुज्जा? इह विसए अम्हे सच्चं जाणिदूणं अप्पबुद्धि-विवेगविगासं कुज्जा तहा अंतिममरणं सल्लेहणाए होदु, एरिसं भावणं भावेज्जा। धम्मिग-भावणं विद्धंस-कुचेट्ठा भारदीय- संविधाणस्स विवरीदा। धम्मणिरवेक्ख-रट्ठे एगो हुज्जा, वरो हुज्जा एवं वड्ढेज्जा णिय-संगढण-सत्तिं। अंतसमयो पहु-आराहणाए आद-साहणाए सह सल्लेहणा-पुव्वगं मरणं होदु, इमाए भावणाए सह मज्झाणं चरम-लक्खं हुज्जा।।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

रोक लगाई थी, सल्लेखना उस काल में भी होती थी। उन्होंने इस मामले में किसी तरह विरोध नहीं किया। वह जानते थे कि इसमें सतीप्रथा जैसी प्रक्रिया नहीं है, जिस पर प्रश्न खड़ा किया जाए? इस संदर्भ में इसकी आवश्यकता है कि हम सत्य को समझकर अपनी बुद्धि और विवेक का विकास करें तथा भावना भाएँ कि अंतिम मरण हमारा सल्लेखनापूर्वक हो। किसी की भी धार्मिक-भावना को नष्ट करने की कुचेष्टा भारतीय संविधान के विपरीत है। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में एक बनें, नेक बनें और अपनी संगठन-शक्ति को बढ़ाएँ। इसी भावना के साथ अंतिम लक्ष्य हमारा यह हो कि अंत समय प्रभु की आराधना और आत्म-साधना के साथ सल्लेखनापूर्वक मरण हो।।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

आदसिद्धीए साहगअम-करणं झाणं

विण्णप्पा! वीसस्स आदिम-सक्किदी दियंबर-सक्किदी। जा सयल-वीसं अहिंसा-सच्च-अचोरिय-बंभचेर-संगचाग-सिद्धंता जच्छित्ता लोगस्स पउरपुण्ण-हिदं आदसंति-मग्गं पसत्थं च किदा।

अप्प-अणप्प-भेदं उग्घाडित्ता सव्वदव्वाणि णवि एगत्त-भूदाणि, भिण्णत्त-भूदाणि एव। महासत्ताए दव्वत्तेणं च एगत्तं, सग-सहावेणं पत्तेगं दव्वं पुहुत्तभावजुदं। दव्वगुण-पज्जयाणं वत्थु-सुतंताणं च जं वक्खाणं समणा किदा, तं अण्णत्थ अणुवलद्धं। पायो विभिण्ण-दंसणाणि किरियाकंडादो पिहिदाणि अहवा ईसर-कत्तत्तेणं पराधीणाणि एवं सपर-सत्ताए अपरिचिदाणि।

णिय-विहुत्त-सत्ति-णाणं जेणाइरिया कारीअ। जे दिंतीअ णियवेहवबोहं, तेसिं समय-लोए अयं परमोवयारो।

आत्मसिद्धि का साधकतम करण ध्यान

हे विज्ञात्मन्! विश्व की आद्य संस्कृति दिगम्बर जैन संस्कृति है, जिसने सम्पूर्ण विश्व को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचार्य, अपरिग्रह के सिद्धांत प्रदान कर लोक को महत्त्वपूर्ण कल्याण किया है। आत्म शांति का मार्ग प्रशस्त किया है।

आत्मा और अनात्मा के भेद को प्रकट कर सर्व-द्रव्य एकत्वभूत नहीं भिन्नत्वभूत हैं। महासत्ता की दृष्टि से द्रव्यत्व की दृष्टि से एकत्व है परंतु स्व स्वभाव की दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य पृथक्त्व भाव से युक्त है। द्रव्य गुण-पर्याय तथा वस्तु स्वतंत्रता की जो विशद् व्याख्या श्रमणों ने की है वह अन्यत्र तो अनुपलब्ध सी है। प्रायःकर विभिन्न दर्शन क्रियाकाण्डों से आच्छादित हैं या फिर ईश्वर के कर्त्तापन से पराधीन हैं-पर स्वसत्ता से अपरिचित हैं।

निज की विभुक्त शक्ति का बोध जैनाचार्यों ने कराया है। सम्पूर्ण लोक पर यह उनका परम उपकार है जिन्होंने निज के वैभव का बोध दिया

सग-सच्च-सत्ता-अहिगमे जीवो परभावेसुं सग-समय-विणासं णो करेदि। जावं मूढो णो सग-सत्ताए भूदत्थ-बोहो तावं लोग-पवंचेसुं णियप्पं णिओएदि। जीवस्स इदं अण्णाणत्तं घोर-रिवु-भावो, सगेणं सग-विडंबणा य। कुभाव-विसं पादूणं सरल-हिंडंत-भगवं संसारे हिंडित्ता किलेसं भजेदि।

भवहाणि-वड्ढि-मूलकारणं झाणं। सम्म-झाणेणं भवहाणी, दुज्झाणेणं भववड्ढी। जिणसासणे जिणदंसणे झाणं चदुब्भेदं। अट्ट-रुद्द-धम्म-सुक्कज्झाणं चेदि। अट्ट-रुद्दज्झाणं भववड्ढि-संसार-कारणं। धम्मसुक्कज्झाणं भवहाणि-संसिद्धि-कारणं।

चदुव्विहं अट्टज्झाणं। इट्ठविओग-अणिट्ठसंजोग-वेयणाचिंतण-णिदाणं चेदि। इट्ठवत्थुजीव-विओगे उप्पण्ण-संकप्प-वियप्पाणं संजोगाकंखा, पुण-पुण तस्स गुण-मिदी इट्ठविओग-अट्टज्झाणं। अणिट्ठ-वत्थुजीव-संजोगे तस्स विओग-चिंतणं, पडिक्खणं तस्स पुहुत्त-चिंतणं अणिट्ठ-संजोग-

स्व सत्य सत्ता का अधिगम हो जाए फिर जीव पर भावों में स्वसमय का व्यय नहीं कर सकता। जब तक अज्ञ प्राणी स्वसत्ता की भूतार्थता का बोध नहीं करेगा तब तक लोक के प्रपंचों में निज भगवान् आत्मा को संलग्न किए है। यह अज्ञानता ही जीव के लिए घोर शत्रु भाव है, स्व के द्वारा स्व की विडम्बना है। कुभावों का विष पीकर भोला भटकता भगवान् संसार में भ्रमण कर क्लेश को प्राप्त हो रहा है।

ध्यान और दुर्ध्यान- भवहानि, भववृद्धि दोनों का मूल कारण है ध्यान। सम्यक् ध्यान से भवहानि होती है तथा दुर्ध्यान से भववृद्धि होती है। जैन दर्शन में ध्यान के मूल भेद चार किए हैं-आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान। आर्त्त-रौद्र ये दो ध्यान भव वृद्धि के अर्थात् संसार के कारण हैं और धर्मध्यान, शुक्लध्यान दो ध्यान भवहानि अर्थात् मोक्ष के कारण हैं।

आर्त्तध्यान के चार भेद-आर्त्तध्यान के चार भेद हैं। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तन और निदान। इष्ट वस्तु व व्यक्ति के वियोग होने पर जो संकल्प विकल्प होते हैं, उसके संयोग की आकांक्षा करना, बार-बार उसके गुणों का स्मरण करना **इष्ट वियोग** आर्त्तध्यान है।

अट्टज्झाणं। देहिग-माणसिग-वेयणाए पुण पुण ताए चिंतणं, लीणत्तं च, कट्ठं पुहकरणस्स संकप्प-वियप्पे चित्ते विसाद-सब्भावो वेयणाचिंतण-अट्टज्झाणं। णिदाणं पि अट्टज्झाणं।

रुद्दस्स भावो रोद्दं। तिव्व-कालुस्स-भावो रुद्दज्झाणं। हिंसाए आणंदो हिंसाणंदी-रुद्दज्झाणं। दव्वभाव-हिंसासुं लीणत्तं रुद्दज्झाणं। किद-कारिद-अणुमोयणाहिं जदि तुव सहजोगो, तुमं हिंसाणंदी-रुद्दज्झाणे हि लीणो। असच्चभासणं महापावं। असच्च-णिट्ठुर-कलहकारी-परवंचग-पिसुण-अरदि-भयकारी-वयणाणि असच्चवयणाणि। उत्त-वयणेसुं आणंद-मणणं मुसाणंदी-रुद्दज्झाणं।

अनिष्ट वस्तु व व्यक्ति के संयोग होने पर उसके वियोग का चिन्तन करना, प्रतिक्षण यही सोचना कि ये मेरे से पृथक् कैसे हो यह **अनिष्ट संयोग** नाम का आर्त्तध्यान है।

शारीरिक, मानसिक वेदना के आने पर बार-बार उसका विचार करना, उसी में तल्लीन हो जाना। कष्ट को दूर करने से संकल्प-विकल्प में चित्त में विषाद करना **पीड़ा चिंतन** नाम का आर्तध्यान है। निदान भी आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान के भेद-रूद्रता का भाव रौद्र है। तीव्र कालुष्यता युक्त परिणाम ही रौद्रध्यान है। हिंसा में आनंदित होना हिंसानन्दी रौद्रध्यान है। चाहे द्रव्य हिंसा हो चाहे भावहिंसा, उभयहिंसा में लीन होना ही रौद्रध्यान है। कृत-कारित अनुमोदना से किसी भी प्रकार से यदि आपका सहयोग है तो **हिंसानंदी रौद्रध्यान** में आप संलग्न हैं।

असत्य भाषण-महापाप है। असत्य, निष्ठुर वचन, कलहकारी वचन, परवंचना के वचन, पशुनता के वचन, अरति रूप वचन, भयकारी वचन इत्यादि असत्य वचन हैं। उक्त वचनों में आनंद मनाना **मृषानन्दी रौद्रध्यान** है।

विम्हिद-पडंत-परवत्थुं आणं अंतरेण तस्स पओगो चोरियं। एरिसे चोरिए पसण्णत्तं चोरियाणंदी-रुद्दज्झाणं। बहिरब्भंतर-परिग्गहेसुं लीणत्तं, ममत्तेणं हरिसत्तं, चेयण-अचेयण-मिस्स-संग-संगहे लीणत्तं, पडिक्खणं परिग्गह-संरक्खण-संगह-भावो य परिग्गहाणंदी।

चदुव्विह-अट्टरुद्दज्झाणाणि संसारे दुग्गदि-कारणाणि। जइवि अट्टज्झाणाणि णरग-तिरिय-गदि-कारणाणि, सुदिट्ठी इमेहिं झाणेहिं जुदम्हि वि णरगादिगदीसुं णो गच्छेदि, एरिसा सम्मत्त-महिमा।

अह झाण-सामी। तं जहा-'तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्'। अविरद-देसविरदाणं होंति चदु-अट्टज्झाणाणि, पुण पमत्तसंजदस्स णो णिदाण-अट्टज्झाणं। भावलिंगी-समणो पुण णूणं सग-गुणट्ठाणादो पदिदो।

किसी की भूली हुई, पड़ी हुई, पर वस्तु को बिना पूछे उठा लेना, उसका प्रयोग करना चोरी है। ऐसी चोरी में प्रसन्न होना **चौर्यानन्दी रौद्रध्यान** है।

दस प्रकार के बाह्य एवं चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रहों में लीनता, ममत्व-भाव रखकर प्रसन्न होना, चेतन-अचेतन-मिश्र इन तीन प्रकार के परिग्रह-संग्रह में लीन होना, प्रतिक्षण परिग्रह रक्षण, संग्रह में भाव रखना **परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान** है।

चार प्रकार के आर्त्तध्यान चार प्रकार के रौद्रध्यान संसार में दुर्गति के कारण हैं। यद्यपि ये आठों ध्यान नरक, तिर्यंच गति में ले जानेवाले हैं परंतु सम्यग्दृष्टि जीव इन ध्यानों से युक्त होने पर भी नरकादि गति में नहीं जाते, सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है।

ध्यान के स्वामी-'तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्' आर्त्तध्यान के स्वामी अव्रत, देशविरत और प्रमत्त संयत जीव हैं। विशेष बात यह है कि अविरत देशविरत के तो चारों ही आर्त्तध्यान होते हैं परंतु प्रमत्त संयत के निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं होता है। भावलिंगी श्रमण निदान को प्राप्त नहीं होते हैं। यदि श्रमण निदान करता है तो निश्चित ही स्वगुणस्थान से पतित हो जाता

अप्पसत्थ-णिदाणं भोगाकंखाभूदं पमत्तगुणट्ठाणे णो होदि। पसत्थ-णिदाणं गेज्झं जं धम्मज्झाण-भूदं।

दुक्खक्खयो, कम्मक्खयो, बोहि-समाहि-लाहो, सुगदि-गमणं च होदु, एरिसा पसत्थ-परिणामा पसत्थ-णिदाणं। अप्पमत्तादीसुं अट्टरुद्द-असुहज्झाणट्ठाणं णत्थि। अप्पमत्ते सुद्धधम्मज्झाणं। अपुव्वकरणादो अजोगपज्जंतं सुक्कज्झाणं, इदं आगम-वयणं। सावगा समणा य धम्मज्झाणसामी। समणा मुक्ख-वित्तीए, सावगा गौण-वित्तीए। सावगाणं भद्दज्झाणं पि भणिदं। समणा हु सुक्कज्झाण-सामी, सावगाणं सुक्कज्झाणस्स पुण्ण-अभावो। सुक्कज्झाणेणं समं झाण-अभावो वि। सवियप्प-धम्मज्झाणं सावगाणं उवयारेणं, मुक्खत्तणेणं धम्मज्झाणसामी पमत्त-अप्पमत्त-समणमेव। सयल-संग-विमुत्त-अप्पमत्त-जदिणो हि सुद्धधम्मज्झाण-सामी।

है। अप्रशस्त निदान भोगाकांक्षाभूत प्रमत्त गुणस्थान में नहीं होता पर प्रशस्त निदान स्वीकार किया है जो धर्मध्यान भूत परिमाण समझना।

दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि-समाधि की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो ऐसे प्रशस्त परिणामों का होना प्रशस्त निदान है। सप्तम अप्रमत्तादि गुणस्थानों में आर्त्त-रौद्र अशुभ ध्यानों का कोई स्थान नहीं है। अप्रमत्त गुणस्थान में शुद्धधर्म ध्यान होता है। अपूर्वकरण, गुणस्थान से शुक्लध्यान प्रारंभ हो जाता है, जो कि अन्तिम चौदहवें गुणस्थान तक है, ऐसा आगम वचन है।

धर्मध्यान के स्वामी श्रावक और श्रमण दोनों होते हैं, श्रमण मुख्य वृत्ति से , श्रावक गौण वृत्ति से। श्रावकों के लिए आचार्यों ने भद्रध्यान भी कहा है। शुक्लध्यान के स्वामी तो मात्र श्रमण ही हैं, श्रावकों के शुक्लध्यान का पूर्ण अभाव है। शुक्लध्यान का ही नहीं, अपितु ध्यान का भी अभाव है, सविकल्प धर्मध्यान को ही श्रावकों के लिए स्वीकार किया है, उपचार से, मुख्यता से धर्मध्यान का स्वामी प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज को

झाणमेव जिणधम्मस्स मुक्खसाहणा। जा अज्ज गउणा। णिव्वाणस्स साहगअम-करणं झाणं। जत्थ झाणलेसं पि णत्थि, एरिसं पउत्तिं लोए झाणरूवे पगासिदं। हस्स-गीद-संगीदाणि ण दु झाणं, णेव झाणोवाओ। जदा चिंतणं झाणं णत्थि, चिंतणं तु अणुवेक्खा, पुण कहं गाणं वादणं हसणं णत्तणं च झाणं?

सामण्णजीव-मज्झे जिणागम-वण्णिदं झाणविहि-भूदत्थ-बोह-पगासणं च जेण-विज्जाणाणं कत्तव्वं; जेणं ते सुझाण-आसयं पवज्जंतु, णिरत्थग-वंचणादो आद-रक्खणं करेंतु एवं जिणसासणस्स मूल-सिद्धंत-बोहं लहिदूणं बोहिं समाहिं च लहेंतु।

ही स्वीकार किया है। शुद्ध-धर्मध्यान अप्रमत्तयती के ही होता है जो कि सम्पूर्ण आडम्बरों से परे होते हैं। शुक्ल-ध्यान के स्वामी अपूर्वकरण गुणस्थान से अयोग केवली गुणस्थानवर्ती जीव हैं।

जैनदर्शन की मुख्यता साधना : ध्यान

जैनदर्शन की मुख्य साधना ध्यान ही है, जो आज गौण होती जा रही है। निर्वाण का साधकतम करण ध्यान साधना ही है। जहाँ ध्यान का लेश नहीं है ऐसी प्रवृत्ति को लोक में ध्यान के नाम से प्रचारित किया जा रहा है। हास्य, गीत, संगीत ये न तो ध्यान हैं और न ही ध्यान के उपाय। जब चिन्तन ही ध्यान नहीं है, चिन्तन को अनुप्रेक्षा कहा है, फिर गाना-बजाना, हँसना-नाचना ध्यान कैसा ?

जैन विद्वानों का कर्त्तव्य है कि जैनागम में वर्णित ध्यान विधि को सामान्य लोगों के मध्य लाएँ तथा भुतार्थ का लोगों को बोध करायें जिससे वे सम्यक् ध्यान का आश्रय प्राप्त करें, व्यर्थ की वंचना से आत्मरक्षा कर सकें और श्री जिनशासन के मूल सिद्धान्तों का बोध प्राप्त कर बोधि-समाधि की प्राप्ति कर सकें।

सर्वप्रथम ध्यान का स्वरूप जानना अनिवार्य है। 'एकाग्रचिन्ता-निरोधो ध्यानम्'। एक का मुख्य चिन्तन होना तथा अन्य की

पढमं आवस्सगं झाणसरूव-णाणं। तं जहा सुत्ते-'एकाग्ग-चिंता निरोधो ध्यानम्'। एगस्स मुक्ख-चिंतणं अण्णस्स चिंता-णिरोहो य झाणं। णाणे णाणलीणत्तं झाणं।

अह झाण-सामग्गी-परूवणं। जावं झाणिस्स झाण-सामग्गी-णाणं णत्थि, तावं सो कहं करिस्सदि झाणं? तं जहा-

संगत्यागः कषायाणां, निग्रहो व्रत-धारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति, सामग्री ध्यानजन्मनि।।

अह झाणस्स हेदवो वि-

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषह-जयश्चेति, पंचैते ध्यान-हेतवः।।
वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं समभावना।
जयः परीषहाणां च, पंचैते ध्यान-हेतवः।।

चिन्ता रुकना ध्यान है। ज्ञान में ज्ञान की लीनता ध्यान है।

ध्यान की सामग्री-जब तक ध्याता के लिए ध्यान सामग्री का बोध नहीं होगा तो वह ध्यान कैसे कर सकेगा ? आचार्य प्रवर नागसेन मुनिराज ने ध्यान सामग्री का वर्णन किया है, उसे जानना चाहिए। 'परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों का धारण और मन तथा इन्द्रियों का जीतना यह सब ध्यान की सामग्री है।'

ग्रंथरत्न क्षत्रचूड़ामणी एवं ज्ञानांकुश स्तोत्रम् में ध्यान के हेतुओं की समान व्याख्या की है-'वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थ मुद्रा, समताभाव और परीषह विजय ये पाँच ध्यान के हेतु हैं।' जिसके पास ध्यान के हेतु होंगे, साधन होंगे वहीं तो सम्यक् ध्यान कर सकेगा। यहाँ साधन, सामग्री का ही अभाव है वह पुरुष ध्यान कैसे कर पायेगा ? ध्याता के पास उक्त हेतुओं का होना अनिवार्य है, आचार्य भगवन् श्री नागसेन स्वामी ने योगी के लिए आठ बातों का वर्णन किया है।'

जो पुरुष ध्यान का इच्छुक है उसे आठ बातें विशेष रूप से जानने योग्य हैं-

जं समया झाण-हेदु-साहण-सब्भावो, सो चेव करिस्सदि सुझाणं। जत्थ साहण-सामग्गी-अभावो, सो कहं झाणं करिस्सदि? झादारस्स उत्त-हेदु-सब्भावो आवस्सगो। एवं पि तच्चाणुसासणे-

ध्याता ध्यागं फलं ध्येयं, यस्य यत्र यदा तथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं, ध्यातु कामेन योगिना।।

'ध्याता'-झाण कारगो। 'ध्यानं'-चित्तणिरोहो एग-विसए चित्त-लीणत्तं च। 'ध्यान-फलं'-संवर-णिज्जरा य। 'ध्येयं'-झाणकरणीयं पदत्थं। 'यस्य' जस्स पदत्थस्स झाणं। 'यत्र' खेत्तं। 'यदा' कालो। 'तथा' जीए रीदीए झाणं भावो य। झाणट्ठाण-अवगमणं पि आवस्सगं अंगं। तं जहा णाणंकुसत्थोत्ते-

नेत्रेद्वन्दे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे,
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यात्मदेहे,
तिष्ठैकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम्।।

1. ध्याता – ध्यान करनेवाला।
2. ध्यान – चित्त का निरोध या एक विषय में चित्त का लगाना।
3. ध्यान का फल – संवर एवं निर्जरा।
4. ध्येय – ध्यान करने योग्य पदार्थ।
5. यस्य- जिस पदार्थ का ध्यान करता है।
6. यत्र – जहाँ ध्यान करता है अर्थात् क्षेत्र।
7. यदा – जब ध्यान करता है अर्थात् काल।
8. यथा – जिस रीति से ध्यान करता है, भाव।

ध्यान के स्थान-

ध्यान के स्थान भी समझना आवश्यक अंग है। निर्मल बुद्धि के धारक आचार्यों ने अपने शरीर में नेत्र युगल, कर्ण-युगल, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु और भृकुटि युगल, ये ध्यान के स्थान कहे हैं।

कहं धम्मज्झाण- जोग्ग-देसो? तं जहा कुंदकुंददेव-विरइद-झाणज्झयण-पाहुडे-

णिच्चं चेव जुवदि-पसु, णपुंसग-कुसील-वज्जिदं जदिणो।
ठाणं वियणं भणिदं, विसेसओ झाण-कालम्हि।।

झाणं कम्हि कालम्हि कादव्वं, अयं वियप्पो साहगं णवि कुज्जा। तीसुं संझासुं झाणं करणिज्जं। पदत्थं पिंडत्थं रूवत्थं रूवातीदं चेदि। चदुप्पयारेणं धम्मज्झाणं कीरदे। तं जहा णाणंकुसत्थोत्ते-

पदस्थं मंत्र वाक्यस्थं, पिंडस्थं स्वात्मचिंतनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरंजनम्।।

इदि मोक्खत्थिणो णिउत्तिमग्गे रज्जित्ता णिव्वाणलद्धीए सु-झाणं सु-आलंबणं च णियमेण पप्पेज्जा।

।। णमो णिहिल-सिद्धाणं।।

धर्मध्यान के योग्य देश कैसा हो? इसके लिए कुंदकुंददेव ने 'झाणज्झयण' ग्रन्थ में उल्लेख है कि-'यति जनों के लिए नित्य ही युवती, पशु, नपुंसक, कुशील से रहित निर्जन स्थान पर ध्यान करना चाहिए।' साधक यह विकल्प न करे कि ध्यान मुझे किस काल में करना चाहिए। तीन सन्ध्याओं में ध्यान किया जा सकता है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत चार प्रकार से भी धर्मध्यान किया जाता है।

'जिनमें मंत्र वाक्यों का चिन्तन किया जाता है वह पदस्थ है। जिसमें शरीर स्थित स्वकीय आत्मा का चिन्तन है वह पिण्डस्थ है। जिसमें सर्व चैतन्य रूप अर्हन्त् परमेष्ठी का चिन्तन किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है। जिसमें कर्म-कालिक से रहित परमेष्ठी का चिन्तन होता है वह रूपातीत ध्यान समझना चाहिए।'

मुमुक्षु जीवों को निवृत्ति मार्ग में लगकर निर्वाण प्राप्ति हेतु सम्यक्-ध्यान, आलम्बन अनिवार्य रूप से लेना चाहिए।

।। सम्पूर्ण-सिद्धों को नमस्कार हो।।

अणुवादग-पसत्थी

णियाणुहव-तरंगिणी-गंथस्स मूलकत्ता सिद्धंतचक्कवट्टी-गणाइरिय-विरागसायरस्स जेट्ठ-सुजोग्ग-विणेयो देसणामहोदहि-सुत्तत्थविसारद-णिल्लेव-णिहुद-आदसासग-कम्ममलपडलभंजण-समत्थो जुवाइरियो विसुद्धसायरो त्थि। सुदसंवेगी पागिदाणुरागी सहजसुहाहिलासी लहुविणेयो दियंबरसमणो आदिच्च-मुणी गुरुपसाएणं गुरु-आणाए य सुरभिद-आगम समण्णिद-चिंतण-पचयरूवस्स अस्स अब्भुद-गंथस्स पागिदाणुवादं किदो।

वीर-णिव्वाणं 2527 इमाणं सुचिंतण-पसूणाणं उग्घाडण-कालो त्थि। वीर-णिव्वाणं 2542 जेट्ठमासे, सुक्कपक्खे, पंचमीए, गुरुपुस्सजोए, सुमंगलपव्वे, सुदपंचमीए, अदिसयसंपण्ण-विउल-सुमदिणाह-जिणालए

अनुवादक की प्रशस्ती

निजानुभव-तरंगिणी नामक इस ग्रंथ के मूलप्रणेता सिद्धान्तचक्रवर्ती गणाचार्य विरागसागर के ज्येष्ठ-सुयोग्य शिष्य देशना-महोदधि, सूत्रार्थ-विशारद, निर्लेप, निभृत अर्थात् निःसंग, आत्म-शासक, कर्ममलपटल को विनाश करने में समर्थ, युवाचार्य विशुद्धसागर जी हैं। श्रुतसंवेगी, प्राकृत-अनुरागी, सहज-सुखाभिलाषी, लघुविनेय, दिगंबरश्रमण आदित्यसागर मुनि ने गुरुपसाद व गुरु-आज्ञा से सुरभित तथा आगम-समन्वित-चिंतनों के प्रचय रूप इस अद्भुत-ग्रंथ का प्रकृतानुवाद किया।

वीर निर्वाण 2527 इन सुचिंतन प्रसूनों का उद्घाटन काल है। वीर निर्वाण 2542 ज्येष्ठ मास में, शुक्लपक्ष, पंचमी तिथी, गुरु-पुष्य योग, सुमंगलपर्व श्रुतपंचमी तिथी में अतिशय-संपन्न विशाल सुमतिनाथ जिनालय में पंचम तीर्थेश के पाद मूल में दुर्ग नगर में छत्तीसगढ़ प्रदेश में इस ग्रंथ का मंगलाचरण तथा ग्रंथ का आरंभ किया। मध्यमंगल छत्तीसगढ़

पंचमतित्थेसपादमूले दुग्गणयरे छत्तीसगढ-पएसे मंगलाचरणं गंथारंभं च किदो। मज्झमंगलं छत्तीसगढ-पएसे णवावारा-रायिमणयरे सिद्धचक्कमहापूया-महुच्छवे आसाढमासे किण्ह-पक्खे पंचमीए, सणिवारे घणिट्ठ-णक्खत्ते किदो।

2300 सिलोग-पमाणं तच्च-उग्घाडग-कप्पतरुभूदो अयं गंथो वीर-णिव्वाणं 2542 पावणवरिसाजोए, सावणमासे, सुक्कपक्खे जेट्ठा-णक्खत्ते, सोहग्गदसमीए, कलसदसमीए, सणिवारे, वेसालीणयरे, महावीर-जिणचेइयालए छत्तीसगढ-पएसे समत्तो।

अस्स गंथस्स पागिद-अणुवादं सुद्धजीवत्थिकाय-लाहट्ठं, चेयण्णकोसं रदणत्तय-पूरणट्ठं, सुदकोसं णिद्दोसगंथ-पूरणट्ठं च किदो हं।

प्रदेश में नवापारा-राजिम नगर में, सिद्धचक्र महामण्डल विधान महोत्सव में, आसाढ मास में, कृषणपक्ष में पंचमी तिथी में, शनिवार में, घनिष्ठा नक्षत्र में किया।

2300 श्लोक प्रमाण तत्त्वोद्घाटक कल्पतरुभूत यह ग्रंथ वीर-निर्वाण 2542 पावन वर्षायोग, श्रावणमास, शुक्लपक्ष, ज्येष्ठा-नक्षत्र, सौभाग्य-दशमी, कलश-दशमी, शनिवार में, वैशाली नगर में महावीर जिनचैत्यालय में छत्तीसगढ़ प्रदेश में समाप्त किया।

इस ग्रंथ का प्राकृतानुवाद, मैंने शुद्धजीवास्तिकाय की प्राप्ति के लिए, चैतन्य कोश को रत्नत्रय से भरने के लिए, श्रुतकोश को निर्दोष ग्रंथ से भरने के लिए किया है।

जब तक जीव में चैतन्य गुण तथा पुद्गल द्रव्य में स्पर्शादि गुण हैं, तब तक यह ग्रंथ इस धरणी पर जयवंत हो। अनुपम प्रमेय, इतिहास, जिनदर्शन की विशेषता और सिद्धान्त युक्त यह ग्रंथ अच्छी तरह रक्षा करने योग्य है।

जावं जीवे चेयण्णं पोग्गले फासादि-गुणा, तावं अयं समयो समए जयेदु। अणुवमपमेय-इदिहास-जिणदंसणविसेसत्त-सिद्धंतजुदो अयं गंथो सुरक्खणिज्जो त्ति।।

संयबुद्धं देवं, विसय-विमुहं, सिवसुह-करं,
अजोगं णाभेयं, सुगद-मजियं, दिव्व-तवणं।
णिराहारं धीरं, गणहर-पदिं, आदिम-जिणं,
सुकल्लाणं कारं, उसह-समणं, णिच्च-पणमं।।
सिद्धं अवच्चं च पसिद्ध-वच्चं,
अणंत-णाणादि-णिहाण-भूदं।
चारित्त-विज्जा-गुरुयं विसुद्धं,
णमामि हं मंगल-भारदिं च।।
।। णमो णमो सिद्ध-साहूणं।।
।। इदि पंचम-गंथस्स अणुवादो।।

जो स्वयंबुद्धदेव हैं, सम्पूर्ण विषयों से विमुख हैं, शिवमुख देनेवाले हैं, योग रहित हैं, नाभिराय के अपत्य हैं, अच्छी गति को प्राप्त हैं, अजित हैं, दिव्य-तप से युक्त हैं, निराहार हैं, धीर हैं, गणधर स्वामियों के पति हैं, आदिम तीर्थंकर हैं, ऐसे सुकल्याणकारी ऋषभनाथ महाश्रमण को मैं नित्य प्रणाम (नमस्कार) करता हूँ।।

जो अनंतज्ञानादि के निधान भूत हैं, वाच्य हैं, अवाच्य हैं, प्रसिद्ध हैं, ऐसे अनंत सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ। चारित्त और विद्या प्रदाता गुरु श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी को मैं नमस्कार करता हूँ। मंगल भूत जिनवाणी माँ को भी मैं नमस्कार करता हूँ।

।। सिद्ध-साधुओं को नमस्कार हो।।
।। इस प्रकार पाँचवे ग्रंथ का अनुवाद पूर्ण हुआ।।

परम पूज्य चर्या शिरोमणि, अध्यात्मयोगी, श्रमणाचार्य 108 श्री विशुद्धसागर जी महाराज द्वारा रचित साहित्य विवरण -

- नियम-देशना (भाग-1, 2, 3)
- पुरुषार्थ-देशना (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी)
- समय-देशना (भाग 1 से 17 तक) (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी)
- सद्-देशना (भाग 1 से 6 तक)
- सद्-ज्ञान-देशना (भाग 1, 2)
- अध्यात्म -देशना (हिन्दी/अंग्रेजी)
- तत्त्व-देशना
- प्रेक्षा-देशना
- सर्वोदयी-देशना
- स्वरूप-देशना
- श्रावक-धर्म देशना
- सागार-अनगार-धर्म देशना
- सामायिक-देशना (हिन्दी/मराठी/प्राकृत)
- श्रमण-धर्म देशना
- परमार्थ-तत्त्व देशना
- तत्त्वार्थ-देशना
- प्रकृष्ट-देशना
- सोलह कारण भावना अनुशीलन (अप्रकाशित)
- समाधितंत्र-अनुशीलन (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/प्राकृत)
- इष्टोपदेश-भाष्य (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/प्राकृत)
- स्वरूप-संबोधन परिशीलन (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/संस्कृत/प्राकृत)

- पंचशील सिद्धांत (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/प्राकृत)
- शुद्धात्म-तरंगिणी (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/प्राकृत)
- स्वानुभव-तरंगिणी (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/प्राकृत)
- निजात्म-तरंगिणी (हिन्दी/प्राकृत)
- निजानुभव-तरंगिणी (हिन्दी/प्राकृत)
- शुद्धात्म काव्य तरंगिणी
- तत्त्व-तरंगिणी
- आत्म-बोध (हिन्दी/संस्कृत/प्राकृत/अपभ्रंश/अंग्रेजी)
- तत्त्व-बोध (हिन्दी/प्राकृत)
- बोधि-संचय (हिन्दी/अंग्रेजी)
- अमृत-बिंदु
- अर्हत्-सूत्र
- देशना-बिंदु
- देशना-संचय
- आइना
- अध्यात्म-प्रमेय
- विशुद्ध मुक्ति पथ
- विशुद्ध काव्याञ्जलि
- विशुद्ध वचनामृत (हिन्दी/अंग्रेजी)
- स्वानुभव (हिन्दी/अंग्रेजी)
- प्रवचन-प्रभा (हिन्दी/अंग्रेजी)
- गुरवो भवन्ति शरणं
- चिंता रहस्य (हिन्दी/अंग्रेजी)
- दिव्य-वयणं (प्राकृत/हिन्दी/अंग्रेजी)
- भव्य-वयणं (प्राकृत/हिन्दी/अंग्रेजी)

- जीवन रहस्य
- प्रवचन पीयूष
- भवाब्धेस्तारको गुरुः
- सूक्ति सुधा (24 भाषाओं में)
- बोध-वाक्यामृत (9 भाषाओं में)

साहित्य पर आधारित अन्य कृतियाँ –

- समाधितंत्र-इष्टोपदेश समीक्षा
- पुरुषार्थ-देशना अनुशीलन
- अध्यात्म-देशना अनुशीलन
- तत्त्व-देशना समीक्षा
- स्वरूप-संबोधन परिशीलन विमर्श
- सर्वोदयी-देशना समीक्षा
- समय-देशना मीमांसा
- स्वरूप-देशना विमर्श

जीवन–वृत्त –

- आदर्श-श्रमण
- अध्यात्म का सरोवर
- प्रत्यग्-आत्मदर्शी
- अध्यात्म योगी
- स्वसंवेदी-श्रमण
- विशुद्ध-दर्शन

प्राप्ति स्थान –

- श्रमण संस्कृति सेवा समिति, इंदौर, मो.9425053171, 9425321151
- श्री नंदीश्वर जिनालय, भोपाल, मो. 9425374897
- जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर, मो. 9421040022